॥ श्री हरि ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

* एकादश पुष्प *

सात्विक साधन अवान्तर प्रकरण

श्रीमद्‌भागवत दशमस्कंध अध्याय ७१ - ७७

श्रीमद्वल्लभाचार्य (महाप्रभु)

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०) जोधपुर (राज०)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ७१वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६८वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २२वाँ अध्याय

सात्विक-साधन-अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय — १"

भगवान् श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ पधारना

कारिका—**द्वाविंशे धर्मरक्षार्थं धर्मस्थानगतिर्हरेः ।**
सर्वसंमतियुक्तस्य शोभा युक्ता निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस २२वें अध्याय में धर्म की रक्षा के लिए भगवान् सर्व सम्मति से इन्द्रप्रस्थ पधार रहे हैं, इससे उनकी जो शोभा होने लगी, उसका निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**एका कृतिर्हरेरत्र बहुकार्यनिरूपिका ।**
निर्धार्यते सर्वसुखा धर्मे सर्वाधिकारिणी ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् की एक क्रिया बहुत कार्यों को सिद्ध करने वाली होगी, अतः प्रथम धर्मावतार युधिष्ठर के यहाँ जाने के लिए तैयारी की, वह क्रिया सर्व की

अधिकारिणी और सर्व को सुख देने वाली होगी, यह निर्धार किया जाता है, इस सुहृत् कार्य द्वारा भक्त रक्षण भी सिद्ध होगा एवं नारद तथा दूत दोनों का कथन विना विरोध के सिद्ध हो जाएगा ।।२।।

—: इति कारिकार्थ सम्पूर्ण :—

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भगवद्वाक्यं शिरसा स्वीकृतम्, ततो भगवदिच्छानुसारेणैव कथने मन्त्रित्वं व्याहन्येतेति पूर्वापरानुसंधानार्थं उद्धवस्य प्रकरणज्ञानपूर्वकं उत्तरारम्भमाह **इत्युदीरितमिति** ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय के अन्त में उद्धवजी ने भगवान् के वाक्य को शिरोधार्य किया, उसके अनन्तर यदि केवल भगवदिच्छानुसार ही कहने में मन्त्रीपन की हानि होती है, इसलिए उद्धवजी को पूर्वापर का अनुसन्धान है, यह सिद्ध करने के लिए उद्धवजी का प्रकरण ज्ञान पूर्वक 'इत्युदीरितमाकर्ण्य' श्लोक में उत्तर देने का आरम्भ करते हैं, यों श्री शुकदेवजी वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोब्रवीत् ।**
सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि देवर्षि नारदजी का इस प्रकार का कहना सुनकर, श्रीकृष्ण और सभासदों का मत भी जानकर, महाबुद्धिमान् उद्धवजी कहने लगे ।।१।।

सुबोधिनी—दूतवाक्ये न कस्यापि विवाद इति **देवर्षेरुदीरितमि**त्युक्तम् । भगवद्वाक्यश्रवणानन्तरमुत्तरस्य वक्तव्यत्वेपि पुनर्नारदवाक्यानुसंधानात् तत्समाधानार्थमेव **उद्धवोब्रवीत्** । धर्मब्राह्मणावेव पुष्टिमार्गे बाधकौ, तयोः प्रतिविधानं किञ्चित्पुष्टिविरोधार्थेनेति प्रकरणार्थः । विवादे हि मन्त्रिणो वचनमिति पक्षद्वयं निरूपयति **सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य चेति** । सभ्यानां मतं युद्धार्थं गमनं मुख्यं धर्मार्थं पश्चात् । दुःखाभावसुखयोः आदौ दुःखं प्रतिविधातव्यमिति, भगवतोप्येवं मतं चकाराद्विपरीतं च । एवं पौर्वापर्यसंदेहे निर्णयार्थमस्य बुद्धिरस्तीत्याह **महामतिरि**ति । भक्तिमार्गनारदयोः कोपः प्रतिविधातव्यः, मर्यादा च स्थाप्यः यावच्छक्यम् । अतो धर्मब्राह्मणमर्यादात्रयमेकत्र विरुध्यते, अपरत्र भक्तिमार्ग एवैकः ।।१।।

व्याख्यार्थ—श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'देवर्षेरुदीरितम्' कहा, 'दूतस्योदीरितम्' भी न कहा, जिसका आशय आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि दूत के कहे हुए वाक्य में किसी का भी विवाद नहीं था, केवल नारदजी के वाक्य में विवाद था, इसलिए विवादग्रस्त वाक्यों को ही उद्धवजी ने ध्यानपूर्वक सुना, उन पर ही विचार कर निर्णय देना था कि क्या किया जाय? भगवान् के वाक्यों के श्रवण के अनन्तर उत्तर कहना था, तो भी फिर नारदजी के वचनों के अनुसंधान से ही उसका समाधान करना है, यों विचार कर उद्धवजी कहने लगे ।

धर्म और ब्राह्मण ही पुष्टिमार्ग में बाधक हैं अर्थात् यहाँ राजाओं पर अनुग्रह होने में धर्म[1] और ब्राह्मण[2] प्रतिबन्धक हुए हैं, उन दोनों का जो प्रतिविधान है,वह कुछ पुष्टि के निरोधार्थ होने से प्रकरणार्थ है।

जब मत भेद हो, तब मन्त्री के वचन मान्य होते हैं, इसलिए दोनों पक्षों का निरूपण करते हैं, सभ्यों का तथा श्रीकृष्ण का मत पूर्ण रीति से समझकर पीछे नारद के वचनों को भी सुना और विचार कर कहने लगे। सभासदों का मत था कि प्रथम जरासन्ध से युद्ध के लिए जाना चाहिए, उसको जीतकर पश्चात् युधिष्ठिर के पास यज्ञ के लिए चलना चाहिए, दुःख का अभाव करना और सुख करना; इन दोनों में से प्रथम दुःख का कार्य[3] कर दुःख का अभाव करना अर्थात् युद्ध द्वारा जरासन्ध वध कर राजाओं को छुड़ाकर उनको सुखी करना, पश्चात् सुख कार्य राजसूय में चलना चाहिए. भगवान् का भी यह मत है। 'च' पद से विपरीत भी है अर्थात् राजसूय में युधिष्ठिर के पास चलने में भी सम्मति थी, इस प्रकार विचारों में विभिन्नता होने पर निर्णय की आवश्यकता है, किन्तु इसके निर्णय के लिए बुद्धि की आवश्यकता है, वैसा निर्णय कर्त्ता हो जो बुद्धिमान् हो, इस पर कहते है कि उद्धवजी 'महामति' बड़े बुद्धिमान् है, अत. उनसे निर्णय कराना योग्य जानकर भगवान् ने उद्धवजी से पूछा कि क्या करें? भक्ति मार्ग और नारदजी का कोप झेल(सम्हाल)लेना,जहाँ तक बन सके मर्यादा की भी स्थापना करनी चाहिए, अत: धर्म,ब्राह्मण और मर्यादा; ये तीन एकत्र विरुद्ध होते है और दूसरी ओर भक्ति मार्ग एक ही है ॥१॥

आभास—अतो बहूनामनुग्रह इतिन्यायेन वक्तव्यमिति निश्चित्य पक्षद्वयमनुवदति यदुक्तमिति।

आभासार्थ—अतः 'बहूनामनुग्रहः' इस न्यायानुसार कहना चाहिए. यों निश्चय कर दोनों पक्षों का अनुवाद 'यदुक्तम्' श्लोक से उद्धवजी कहते है।

श्लोक—उद्धव उवाच—यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया।
कार्यं पैतृष्वस्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥२॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी ने कहा कि हे देव! नारदजी के कहने के अनुसार यज्ञ करने की इच्छावाले बूआ के बेटे राजा युधिष्ठिर का मन्त्रीत्व करना है और दूत के कहने से शरणागत राजाओं की रक्षा करनी है ॥२॥

सुबोधिनी—देवेति संबोधनम्। **साचिव्यं** मन्त्रोपदेशः, न तु युद्धेन सहायकरणम्, अलौकिकप्रकारस्तु मन्त्रे न वक्तव्यः, अतः साचिव्यमेव नारदेनोक्तमनुवदति। 'कर्तुः शास्तुरनुज्ञ तु' इति वाक्यात् तथाकरणे धर्मः। पैतृष्वस्रेयकार्यकरणं लौकिकम्, तस्मादत्र लोकवेदौ विरुद्धौ न भवत इति द्वयं निरूपितम्। द्वितीयः पक्षः शरणैषिणां रक्षा। चकाराद्बन्धूनां वाक्यं च। तथासति द्वयोरैक्यं यथा भवति तथा कर्तव्यम् ॥१॥

१- राजसूय यज्ञ, २- नारद, ३- युद्ध

व्याख्यार्थ—'देव' यह सम्बोधन है। 'साचिव्य' पद से यह कहा है कि आप केवल परामर्श देना, न कि युद्ध से सहायता करनी। परामर्श में अलौकिक प्रकार तो नहीं कहना चाहिए, अतः नारद ने जो साचिव्य कहा, उसका ही अनुवाद करते हैं। 'कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः' इस वाक्य के अनुसार उसी प्रकार करने में धर्म है। बूआ के बेटे का कार्य करना, यह लौकिक है, इससे इसमें लोक और वेद विरुद्ध नहीं है, इसलिए दोनों कहे हैं। दूसरा पक्ष कहते हैं कि शरणागतों की रक्षा करनी, 'च' बान्धवों के वाक्य भी मानने; दोनों पक्ष हैं तो भी इस प्रकार क्रिया करनी चाहिए, जैसे दोनों में एकता हो, यों देखने में आवे ॥२॥

आभास—तत्र यज्ञो मोचने विनियोक्तुमशक्य इति मोचनमेव यज्ञे विनियोक्तव्यमित्याह **यष्टव्यमिति**।

आभासार्थ—इन दोनों पक्षों में राजाओं के छुड़ाने के कार्य में यज्ञ का कार्य भी हो सके, यह अशक्य है, इसलिए छुड़ाने का कार्य यज्ञ के साथ हो सकेगा। अतः छुड़ाने का कार्य यज्ञ के साथ जोड़ लो अर्थात् यज्ञ में पधार कर दोनों कार्य सिद्ध कर लो, इसलिए 'यष्टव्यं' श्लोक में वह मार्ग उद्धवजी बताते हैं।

श्लोक—**यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो।**
अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥३॥

श्लोकार्थ—हे विभो! राजसूय यज्ञ दिग्विजय कर लेने के पश्चात् होता है, अतः प्रथम दिग्विजय अवश्य करना है, उस प्रसङ्ग से जरासन्ध भी जीता जाएगा, इसलिए इन्द्रप्रस्थ चलने से दोनों कार्य सिद्ध होंगे, मेरा तो यह मत है ॥३॥

सुबोधिनी—दिशां चक्रं दश दिशः, तत्र जयशीलेन राजसूयः कर्तव्यः, अत एव स एव जरासंधं घातयिष्यति, यज्ञार्थं वधे तु न दोषः, एवं सति ये दोषास्ते अग्रे परिहर्तव्याः। आदौ यज्ञार्थं तद्वधं स्थापयति **अतो जरासुतजय** इति। तर्हि भक्तिमार्गो बाधित एवेत्याशङ्कायामाह **उभयार्थ** इति। यज्ञार्थं मोचनार्थं च, अयं पक्षो **मम** संमतः। युक्तश्चायम्, नारदादेः कोपाभावात् ॥३॥

व्याख्यार्थ—दिशाओं का चक्र अर्थात् दस दिशाओं को जीतने वाले को ही राजसूय यज्ञ करना चाहिए, अतः जो दिशाओं को जीतेगा, वह ही जरासन्ध का घात करेगा। यज्ञ के लिए मारने पर कोई दोष नहीं लगता है, यों होने पर जो दोष लगते हैं, उनका परिहार आगे हो जाएगा। 'आदि' में यज्ञ के लिए उसके वध को स्थापन करता है, वहाँ चलकर दिग्विजयार्थ जाने से वहाँ जरासन्ध का वध होगा, तब तो भक्ति मार्ग बाधित ही होगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि मैं जैसा कहता हूँ, यों करने से दो अर्थ सिद्ध होंगे। (१) यज्ञ की सिद्धि होगी और (२) राजाओं का छुटकारा होगा; यह पक्ष मुझे पसन्द है, यह ही उचित है, यों करने से नारदादि भी प्रसन्न होंगे, उनको किसी प्रकार से क्रोध करने का अवसर नहीं मिलेगा ॥३॥

आभास—अस्मिन् पक्षे दोषान् परिहरति **अस्माकं चेति** सार्धाभ्याम् ।

आभासार्थ—जो पक्ष मैंने कहा है, उसमें जो दोष हैं, उनका परिहार 'अस्माकं च' से २½ श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ।**
यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बन्धाद्विमुञ्चतः ।।४।।

श्लोकार्थ—अपने पक्ष को यों करने से महान् लाभ होगा, हे गोविन्द ! राजाओं को छुड़वाने से आपका बहुत यश फैलेगा ।।४।।

सुबोधिनी--पराक्रमेण जरासंधवधे तद्धनमस्माभिः प्राप्तव्यम्, यज्ञार्थवधपक्षे तु तस्याभावः । पूर्वं भगवद्धनं च तेनापहृतं यवनजयोद्भवं तस्य प्रत्यावृत्तिश्चकारार्थः मोचितेभ्यश्च, एतत्सर्वमपि यज्ञार्थवधेनापि भविष्यतीत्याह **एतेनैव भविष्यतीति** । तेन धनेन मोचिता भक्ताः पोषणीया इति । अन्यसंमेलनाद्यशो न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **यशश्च तव गोविन्देति** । चकारात्प्रतिज्ञा 'अभयं सर्वभूतेभ्यः' इति । बन्धाद्विमोचनं न तद्वधमात्रेण भवति, तत्पुत्रेणापि तत्सभवात् । अतो विशेषतो मोचनं हेतुत्वेनोपदिशति **राज्ञो बन्धादिति** । राज्ञो राजशरीराणि आत्मनश्च बन्धादुभयविधात्, विशेषतो मोचनं तदेव, **विमुञ्चतस्तव** ।।४।।

व्याख्यार्थ—पराक्रम से जरासन्ध का वध करने से उसका धन हमको मिलेगा, यज्ञार्थ वध किया जायगा तो धन नहीं मिलेगा । यवन के जीतने से जो धन प्राप्त हुआ था, वह भगवान् का धन उसने हड़प लिया था, उसको लौटा कर लेना । 'च' पद से छुड़ाए हुए राजाओं से भी जो धन लिया, वह भी लौटा कर लेना, यह सब यज्ञ के लिए मारने से भी हो जायगा; क्योंकि युधिष्ठिर वह धन अपने को ही दे देंगे, कारण कि वे समझेंगे कि यह भगवत् कार्य है और दूसरा समझेगा कि यवन जय का भी धन वहाँ है, अतः स्वयं नहीं लेंगे । उस प्राप्त धन से जो भक्त छुड़ाए जायेंगे, उनका पोषण होगा, अन्य के मेल से यदि उसको मार, राजाओं को छुड़वाएँगे तो यश नहीं होगा, यों करने से आपका ही यश होगा । 'च' शब्द से आपकी 'अभयं सर्व भूतेभ्यः' प्रतिज्ञा का भी पालन हो जायगा, केवल उसके मार डालने से राजाओं का बन्धन से छूटना न होगा; क्योंकि उसके पुत्र से भी बन्धन हो सकता है, अतः विशेष प्रकार से वन्धन से छुड़ाने में हेतुपन से उपदेश देते हैं । 'राज्ञो बन्धात्' बन्धन दो प्रकार का है, एक शरीर का और दूसरा आत्मा का; दोनों प्रकार के वन्धन से छुड़वाना ही विशेष मोचन है, उसके करने से आपका यश होगा ।।४।।

आभास—ननु को विशेषः ऋषिरेव वक्तव्य आवश्यको जरासंधवधः तं कृत्वा समागमिष्यतीति, अस्मिन् पक्षे स्त्रीभिः सह लीलया गमनं बाध्यते । मर्यादायामवश्यश्चायं पक्ष इति वक्तुं जरासंधस्वरूपमाह द्वाभ्यां **स वै दुर्विषह** इति ।

आभासार्थ—इसमें क्या विशेषता है ? ऋषि को ही कह देना चाहिए कि जरासन्ध का वध आवश्यक है। उसे कर फिर यहाँ इन्द्रप्रस्थ पधारेंगे। यदि यह पक्ष स्वीकार किया जायगा तो इन्द्रप्रस्थ स्त्रियों के साथ लीला से जाने में जो शोभा आदि होगी, उसका बाध होगा, मर्यादा में यह पक्ष अवश्य है, यो कहने के लिए जरासन्ध के स्वरूप का 'स वै दुर्विषह' से दो श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोक—स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले।
बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं विना ॥५॥

श्लोकार्थ—दस हजार हस्तियों के समान बलवान् होने से, सबसे बलवान् है, किन्तु समान बल वाले भीम के सिवाय अन्य बलवान् राजाओं से भी वह (जरासन्ध) जीता नही जाएगा ॥५॥

सुबोधिनी—केनापि यादवेन स सोढुं न शक्यः। यतो राजा क्षत्रियः अनपोह्य प्रायेण, एतदलौकिकं बलम्। लौकिकमप्याह नागायुतसम इति। बलविषये अयुतहस्तिसमः। एतादृशा अन्येऽपि सन्तीति तद्व्यावृत्यर्थमाह बलिनामपि चान्येषामिति। महाबलिनां सर्वेषामेवाय मिलितानां समः। चकाराद्ब्राह्मणादिवरसिद्धमपि तस्य बलम्। तर्हि मर्यादायामवध्य एवेत्याशङ्क्याह भीमं समबलं विनेति। भीमोऽप्येतादृशः तथापि यथा जयस्तदग्रे वक्ष्यते ॥५॥

व्याख्यार्थ—कोई भी यादव इसके बल को सहन न कर सकेगा; क्योंकि यह क्षत्रिय राजा बहुत कर दबाने योग्य नहीं है, यह अलौकिक बल है। उसके बल का वर्णन करते हैं कि दस हजार हस्तियों के बल के समान बल इसमें है, ऐसे तो अन्य राजा लोग भी है। इसके उत्तर में कहते हैं कि दूसरे जो बलवान् हैं, उन सबसे यह विशेष बलवान् है, अन्य सब बली राजाओं का बल इकट्ठा किया जाय तो वह जितना हो, उतना इस एक में बल है। 'च' शब्द से यह बताया है कि ब्राह्मणादि के वरदान से भी इसका बल सिद्ध है, यदि यों है तो मर्यादानुसार तो यह अवध्य ही है। इसका उत्तर देते हैं कि अन्य से जीता नहीं जायगा, केवल एक भीमसेन ही इससे लड़ सकेगा और जीत जायगा; क्योंकि वह भी वैसा ही बलवान् है तो भी जैसे भीम की जीत होगी, वह आगे कही जाएगी ॥५॥

आभास—किञ्च तस्यान्यदपि वरप्राप्तं सामर्थ्यमस्तीत्याह द्वैरथे स तु जेतव्य इति।

आभासार्थ—जरासन्ध में वर से प्राप्त अन्य सामर्थ्य भी है, यह 'द्वैरथे स तु जेतव्यो' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः।
ब्रह्मण्योऽभ्यर्थितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥६॥

श्लोकार्थ—शत अक्षौहिणी से भी यह नहीं जीता जाएगा, किन्तु बाहु युद्ध से ही इसको जीतना चाहिए, यह ब्राह्मणों का भक्त है, यदि ब्राह्मण इससे कुछ भी याचना करे तो वह कभी भी देने में आनाकानी किए बिना दे देता है ।।६।।

सुबोधिनी—द्वन्द्वयुद्धे नैव **जेतव्य** न त्वपरिमिता**क्षौहिणीयुतः** । अनेन तस्य सेनाधिक्यमपि सूचितम् । एवं तस्य गुणानुक्त्वा एको गुणः समयविशेषे दोषत्वमापद्यत इति तदाह **ब्रह्मण्य** इति । स्वभावतो हि ब्राह्मणहितकारी, अभ्यर्थितश्चे न **प्रत्याख्याति कर्हिचिदिति** । कपटं ज्ञात्वापि धर्मदार्ढ्यादिदमेकं तस्य मारणे छिद्रम् ।।६।।

व्याख्यार्थ—इसको द्वन्द्व युद्ध से ही जीतना चाहिए, अगणित अक्षौहिणी ले जाकर भी नहीं जीतना चाहिए,यों कहने से यह इगित (इशारा) किया है कि इसके पास अधिक सेना है। इस प्रकार उसके गुणों को कहकर कहते हैं कि कोई एक ऐसा गुण भी होता है, जो किसी विशेष समय पर दोष रूप हो जाता है, जिससे हानि होती है । वह गुण कहते हैं कि वह ब्राह्मण भक्त है, स्वभाव से ब्राह्मणो का हित करने वाला है । यदि कोई ब्राह्मण उससे कुछ याचना करे तो उसको मना नहीं करता है, यह ब्राह्मण नही है, किन्तु ब्राह्मण-वेश धारण कर आया है तो भी अपने धर्म की दृढ़ता सिद्ध करने के लिए उसकी माँग को स्वीकार कर लेता है, अतः यह एक ही इसके मारने के लिए अवसर है ।।६।।

आभास—तर्हि क्षत्रियाणां किमायातमित्याशङ्क्योपायमाह **ब्रह्मवेषधर** इति ।

आभासार्थ—तो क्षत्रियों को क्या करना चाहिए ? इस शङ्का का उत्तर 'ब्रह्मवेष' श्लोक मे देते हैं ।

श्लोक—**ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः ।**
हनिष्यति न संदेहो द्वैरथे तव संनिधौ ।।७।।

श्लोकार्थ—भीमसेन ब्राह्मण का वेष धारण कर इससे द्वन्द्व युद्ध की याचना करे, आप भी उसके साथ होंगे, जिससे द्वन्द्व युद्ध में भीम जरासन्ध को जीत जाएगा, इसमें संशय नहीं है ।।७।।

सुबोधिनी—कञ्चुकाद्यभावसहितं सोपवीतवस्त्रद्वयं तिलकादिसहितं **ब्रह्मवेषः** । यद्यपि तेजो न संपादयितुं शक्यं तथापि प्रार्थितदाने मारणे च सामर्थ्यमाह **तव संनिधाविति** ।।७।।

व्याख्यार्थ—चोला, अचकन आदि के बिना (केवल) दो वस्त्र, एक धोती, एक उपरना एवं यज्ञोपवीत तथा तिलक यह ब्राह्मण-वेश है, यद्यपि इस वेशमात्र से ब्रह्मतेज तो नहीं आवेगा तो भी जिस दान को माँगेगा, वह मिल जायगा और युद्ध में जरासन्ध को मार सकेगा, ऐसा सामर्थ्य आपकी सन्निधि से उसमें हो जाएगी ।।७।।

आभास—नन्वहं परब्रह्म चेत् तदौदासीनः सर्वात्मा च, विष्णुश्चेत्पालक एव न घातक । तेजसा आप्यायनपक्षे ब्रह्मण्ये न वैष्णवं तेजः प्रभवति, अतः कथं वध इति चेत्तत्राह **निमित्तं परमीशस्येति** ।

आभासार्थ—यदि मैं परब्रह्म और सर्वात्मा हूँ तो उदासीन हूँ, यदि विष्णु हूँ तो पालक हूँ, घातक नही हूँ, यदि कहो मेरा तेज यों करेगा तो ब्रह्मण्य में वैष्णव तेज कुछ नहीं कर सकता है, अतः वध कैसे होगा ? जिसका उत्तर 'निमित्त परमीशस्य' श्लोक मे देते है ।

श्लोक—निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।
हिरण्यगर्भः शर्वश्च कालस्यारूपिणस्तव ॥८॥

श्लोकार्थ—निराकार कालरूप ईश्वर आप ही जगत् की सृष्टि और प्रलय करते है, जैसे ब्रह्मा और शिव तो निमित्त मात्र है, वैसे यहाँ भीमसेन निमित्त मात्र होगा ॥८॥

सुबोधिनी—ईश्वर. कालरूपोपि भवान्, सान्निधिमात्रेणैव स्वभीष्टसमये विश्वमेवोत्पादयसिहसि च, ब्रह्मरुद्रयोस्तु खड्गादिवन्निमित्तत्वमेव, यतः कालस्य तव कालनाक्रोडितानामेवोत्पत्तिप्रलयौ । यथा कर्मक्रोडीकृताना पितृव्याघ्रौ सृष्टिप्रलययोर्निमित्तमेव । नन्वहमेव चेत्सर्वदा मारकस्तदा कथं सर्वेषामनुपलम्भ इति तत्राह **अरूपिण** इति । स एव त्वमिदानीं रूपमधिकमित्यर्थः ॥८॥

व्याख्यार्थ—कालरूप ईश्वर भी आप ही हैं, जब अपनी इच्छा की पूर्ति करनी चाहते हो, तब संनिधि मात्र से इस विश्व को उत्पन्न करते हो तथा लीन भी कर लेते हो, ब्रह्मा और महादेव तो तलवार की तरह निमित्तमात्र है; क्योंकि कालरूप आपने काल की गोद में जिनको लाए हो. उनकी ही उत्पत्ति और प्रलय होती है, जैसे जो कर्म की गोद में बैठे हैं, उनकी सृष्टि का निमित्त कारण 'पिता' और नाश का कारण 'व्याघ्र' कहा जाता है । यदि मैं ही सर्वदा मारने वाला हूँ तो तब सबका अनुपलम्भ कैसे हूँ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप निराकार है, वह निराकार ही आप अब यहाँ रूप से विराजमान होकर जगत् को सुशोभित कर रहे हो यह ही तात्पर्यार्थ है ॥८॥

आभास—नन्वेवमपि तथा यशो न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **गायन्ति ते विशदकर्मेति** ।

आभासार्थ—यों है तो भी यश न होगा ? इस शङ्का के उत्तर में "गायन्ति ते" श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो
राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च।
गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः
पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥९॥

श्लोकार्थ—आपका यश त्रिलोकी में फैला हुआ है, जब आपने हिरण्यकशिपु को मार, देवों को छुड़ाया, तब देवों की स्त्रियों ने अपने शत्रु का नाश होना, स्वयं शत्रु-भय से मुक्त हुई, यह जानकर आपका यश गाने लगी है, गजेन्द्र को आपने नक्र से छुड़ाया, जिससे उनकी स्त्रियाँ आपका यश गा रही है, सीता भी आपका यशोगान कर रही है; क्योंकि उसने भी देखा कि मुझे हरण करने वाले मेरे शत्रु को आपने ही नाश किया है, गोपीजन भी शङ्खचूड़ वध से आपका गुणगान कर रही हैं, आपने कंस को मारकर माता-पिता को कैद से छुड़ाया, जिससे वे भी आपका यश गा रहे हैं, मुनिगण और हम आपकी शरण से रक्षित हैं, अत हम भी आपका यश गा रहे हैं ॥९॥

सुबोधिनी—तव यशः पूर्वमेव लोकत्रये व्याप्य तिष्ठति किमर्थोत्पादतक्लेशेनेति वाक्यार्थः। अनेन भगवतो भगवदीयानां वा भगवत्त्वाद्भगवदीयत्वाच्च सिद्धमेव यशो न नूतनमुत्पादनीयम्। ते **विशदकर्म** हिरण्यकशिपुरावणवधादिरूपं **देव्यो** देवस्त्रियः सहजं भगवच्चरित्रं **स्वशत्रूणां** हिरण्यकशिपुप्रभृतीनां **वधं आत्मनो** वन्दीकृतानां विशेषेणाविद्यातो मोचनं च स्वस्व**गृहेषु गायन्ति** ते गृहेषु वा। **देव्यो** नरकासुरगृहीताः। पूर्ववत् सर्वं योजनीयम्। ते **राज्ञा**मुग्रसेनादीनां देव्यो वा भाविनि भूतवदुपचारेण वा मोक्ष्यमाणानाम्। किञ्च। अन्येऽपि वहवो गायन्तीत्याह **गोप्यश्चे**ति। चकारात्संबन्धिस्त्रियोपि, **स्वशत्रोः** शङ्खचूडादेर्**वधं** अविद्यालज्जादीनां वा। यथा स्वशत्रोर्वधं गायन्ति एवं **कुञ्जरपतेर**पि गजेन्द्रस्य **शत्रो**र्नक्रस्य वधं तथा **जनकात्मजायाः** सीतायाः **शत्रोः** रावणस्य, **पित्रो**रपि देवकीवसुदेवयोः **शत्रोः** कंसस्य। एवं प्राकृता अपि स्वस्यान्यस्य वा त्रिविधा गायन्ति। तथा अन्येपि त्रिविधा गायन्तीत्याह **लब्धशरणा मुनयो वयं च।** कर्मिणो ज्ञानिनो भक्ताः। **लब्धशरणा** इति बिशेषणं वा सर्वत्र, 'मा भैष्टे'त्यभयारावौ' 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्' 'एतद्व्रतं मम'इत्यादिवाक्यसहस्रैः। पाण्डवा **लब्धशरणा** इति केचित्। **मुनयो**पि दण्डकारण्यवासिनः विश्वामित्रादयश्च, **वयं** सर्वे एव भक्ताः। **चकारा**न्निर्गुणा अपि अन्यशत्रुवधं गायन्ति। तस्मात्सिद्धैव कीर्तिरित्यर्थः॥९॥

व्याख्यार्थ—आपका यश प्रथम ही त्रिलोकी में फैला हुआ है. अब उस यश को उत्पाद करने का क्लेश क्यों किया जावे ? यों वाक्यार्थ है। इससे भगवान् का भगवान्पन से और भगवदीयों का भगवदीयपन से यश सिद्ध ही है, नूतन यश उत्पादन नहीं करना है।

आपके विशद कर्म है, जैसे हिरण्यकशिपु, रावण वध आदि अनेक कर्म है। देवों की स्त्रियाँ

जिनको हिरण्यकशिपु ग्रादि ने बन्दीखाने में बन्द किया था, उन शत्रुग्रों को ग्रापने मारा तथा विशेषता यह है कि ग्रविद्या से भी छुड़ाया ग्रादि कर्मों का यश घरों में गा रही हैं। इसी तरह जिनको नरकासुर ने कैद किया था, वे भी ग्रापके यश गा रही हैं; क्योंकि नरकासुर का भी ग्रापने नाश किया था, इसी प्रकार कंस को मारकर उग्रसेनादि राजाग्रों को मुक्त किया ग्रौर राज्य दिया इत्यादि ग्रापका यश स्त्रियाँ सर्वत्र गा रही हैं, पिता वसुदेव, माता देवकी भी ग्रापके गुणों का गान कर रहे हैं, ग्रन्य भी बहुत गा रहे हैं। ग्रपने शत्रु शङ्खचूड ग्रादि को मारा, जिससे गोपियाँ तथा 'च' से सम्बन्ध वाली ग्रन्य स्त्रियाँ भी ग्रापका यशोगान करती हैं, जिस प्रकार ग्रपने शत्रु के वध की कथाग्रों का गान करती हैं, वैसे ही गजेन्द्र के शत्रु मगरमच्छ के वध का तथा जनक की पुत्री सीता के शत्रु रावण के वध का एवं वसुदेव-देवकी के शत्रु कंस के वध का गान करती रहती हैं। इसी तरह त्रिविध प्राकृत मनुष्य भी ग्रपने ग्रथवा ग्रन्य के दोषों का नाश ग्रापके द्वारा होने से ग्रापका यश गाते हैं, वैसे ही जिन कर्मिष्ठ, ज्ञानी तथा भक्तों को ग्रापकी शरण प्राप्त हुई है, वे तीनों ही ग्रापका गुण गान करते हैं। 'माभैष्टेत्यभयारावौ' 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्' 'एतद्व्रतं मम' इत्यादि सहस्रों वाक्यों में निष्ठावाले, कर्मी, ज्ञानी ग्रौर भक्तों ने ग्रापकी शरणागति ग्रहण की है। पाण्डवों ने ग्रापकी शरण प्राप्ति की है, वे भी गुण गाते हैं, यों कोई कहते हैं। 'मुनि' शब्द से दण्डकारण्य-वासी व विश्वामित्रादि ग्रौर हम सब ही भक्त लिए जाने चाहिए। 'च' पद से यों समझना चाहिए कि जो निर्गुण हैं, वे भी ग्रन्यों के शत्रुग्रों का वध गाते हैं; क्योंकि वे समदृष्टि हैं, ग्रतः उनकी दृष्टि में कोई उनका शत्रु नहीं है, इससे ग्रापकी कीर्ति तो सिद्ध ही है, कहने का तात्पर्य यों है ॥९॥

ग्राभास—नन्वलौकिकोपायेन राज्ञां मोचनं शीघ्रं कृत्वा कथं न यागार्थं गम्यत इत्याशङ्क्याह **जरासंधवध** इति।

ग्राभासार्थ—ग्रलौकिक उपाय से राजाग्रों को शीघ्र छुड़वाकर क्यों नहीं राजसूय यज्ञ के लिए युधिष्ठिर के पास पधारते हैं? जिसका उत्तर 'जरासन्धवधः' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—जरासंधवधः कृष्ण भूर्यर्थायोपकल्पते।
प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण! जरासन्ध के वध से कई प्रयोजन सिद्ध होंगे, मैं समझता हूँ कि जरासन्ध के कर्मों का विपाक ग्रा गया है, इसलिए ग्रापकी भी रुचि यज्ञ होने के लिए हुई है ॥१०॥

सुबोधिनी—**कृष्णेति** कालरूपस्यैतदेव कृत्यमिति सूचितम्। केवलं संबोधनं वक्तृत्वाभिनिवेशात् प्रमादात् पापक्षयार्थं वा। **भूर्यर्थायेत्यनेक**प्रयोजनाय। भक्तद्रोहे विनश्यतीति भक्तिमार्गसिद्धिः शरणागतरक्षा यज्ञः कीर्तिः पूर्ववैरप्रतीकारः भूभारहरणमित्यादिसहस्रप्रयोजनानि सिध्यन्ति। भक्तिमार्गश्च सर्वेभ्योतिरिच्यते। किं च। **प्रायः पाकविपाकेनेति**। जरासंधकर्मणां

परिपाकस्य विपाकेन समाप्त्या । पाकविपाकेन वा बहुद्रोहाद्, राजसूयो हि भूमेर्निर्वीरत्वं संपादयति तेन कारणेन तवाप्यभिमतः क्रतुः । चकारात्क्रतुश्च भूयर्थायोपकल्पते शिशुपालवधदुर्योधनमानभङ्गाद्यर्थत्वात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—'कृष्ण' यह सम्बोधन कहकर सूचित किया है कि बालरूप का यही कृत्य है, 'केवल' सम्बोधन कर्त्तापन के अभिनिवेश से, प्रमाद से वा पापक्षयार्थ है। जरासन्ध का वध अनेक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए करना है, भक्तद्रोह करने पर नाश होगा, यों भक्तिमार्ग की सिद्धि शरणागतों की रक्षा, यज्ञ, कीर्ति, पूर्व-वैर का प्रतिकार और भू भार हरण इत्यादि सहस्र प्रयोजन सिद्ध होंगे। भक्ति मार्ग सबसे विशेष है, 'किं च' और विशेष (बहुत) करके जरासन्ध के कर्मो की समाप्ति हुई है अर्थात् बहुत द्रोह से पुण्यों की समाप्ति हो गई है, राजसूय यज्ञ से यह सिद्ध होगा कि पृथ्वी पर अब कोई वीर नहीं है, इसलिए आपको भी यज्ञ करना पड़ा। 'च' से यह आशय है कि यज्ञ से बहुत कार्य सिद्ध होंगे जैसे कि शिशुपाल-वध और दुर्योधन का मान भङ्ग आदि अर्थ सिद्ध होंगे ॥१०॥

आभास—प्रकारान्तरेण वध्यो न भवतीत्यनेनैव युद्धार्थमुद्युक्ता निवारिताः। सिद्धत्वाद्यशोपेक्षा च निवारिता। मोचनार्थं समायातीति शङ्कायां प्रमथनाथार्थं प्रथममेव दद्यात् अत उद्धववाक्यमेव सर्वतोभद्रमिति भगवता तदेव गृहीतमित्याह इत्युद्धववच इति ।

आभासार्थ—यद्यपि यादवादि जरासन्ध के वधार्थ युद्ध करने के लिए उद्यत थे, किन्तु युद्ध से वह न मरेगा, इसलिए युद्ध से उनको रोका, युद्ध न किया जायगा, तो यश प्राप्ति कैसे होगी? इसका उत्तर देते हैं कि उसका वध तो यज्ञ में जाने से सिद्ध ही होगा, इसलिए यश की उपेक्षा नहीं की है, छुड़ाने के लिए आते हैं, यह शङ्का उसके मन में हो जायगी तो महादेव के लिए पहले ही दे देंगे, ऐसा विचार उसके मन में उत्पन्न न होवे, इसलिए उद्धव का वाक्य ही सर्व प्रकार कल्याणकर है, इससे भगवान् ने उद्धव का कहा हुआ वाक्य ग्रहण किया, यह 'इत्युद्धववचः' श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रमच्युतम् ।
देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥११॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इस उद्धवजी के वाक्य को देवर्षि नारद, वृद्ध यादव और श्रीकृष्णचन्द्र ने सर्व प्रकार श्रेष्ठ माना ॥११॥

सुबोधिनी—एवं कापट्येन वधे न किञ्चिद्दूषणम् । 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेः । 'तद्धैतान् भूत्वावति' इति च । कापट्यव्यतिरेकेण न दैत्यवधः सिद्ध्यतीति न कापट्यस्वीकरणं दोषाय । राजन्निति सबोधनं राजधर्मोपि तादृश इति ज्ञापनार्थम् । सर्वतोभद्रता निरूपितैव । अच्युत-

मिति न च्युतं क्वापि क्षतिर्यत्रेति। भगवद्रूपोयं प्रकारः निर्दोषपूर्णगुणरूपः। अत एव सर्वेषां संमतं जातमित्याह देवर्षिरिति, यादवेषु वृद्धाः, चकारादन्येऽपि। तरुणानां परं शौर्योत्सिक्तानां नागतं मनसीति सूचितम्। कृष्णश्चेति चकाराद्वसुदेवादयो भगवद्भक्ताश्च। प्रतिपूजनं साधु साध्विति वचनम्।।११।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कपट से जरासन्ध को मारने में कोई दूषण नहीं है; क्योंकि 'मायेत्यसुराः' असुरों का प्रभु माया है अर्थात् कपट है, इस कारण इसे दोष नहीं है। 'तद्धैतान् भूत्वावति' यह माया इनको बार-बार बचाती है, अतः बिना कापट्य के दैत्यों का वध सिद्ध नहीं होता है, इसलिए कापट्य के स्वीकार करने में दोष नहीं है। 'राजन्' सम्बोधन से बताया है कि राजधर्म भी वैसा ही है अर्थात् इसमें भी बिना कापट्य किए सिद्धि नहीं मिलती है, इस उद्धव की कही हुई रीति से कार्य करने में किसी प्रकार त्रुटि नहीं है, इसलिए 'अच्युतम्' विशेषण दिया है, त्रुटि न होने से सर्व प्रकार हित कर निरूपण किया है, यह प्रकार भगवद्रूप है, अतः दोष रहित पूर्ण गुणों वाला है, इसी कारण से ही सबको पसन्द है। देवर्षि नारद, वृद्ध यादव 'च' से दूसरे भी जो सभ्य थे, उन सबको यह मत जच गया, ये नाम आदि कहकर यह सूचित किया कि जो वीर युवक लड़ने के उत्सुक थे, उनके मन में यह राय अच्छी नहीं लगी। 'कृष्णश्च' कृष्ण और 'च' से वसुदेव तथा जो भगवद्भक्त थे, उन सबने उद्धव का वाक्य हितकर जाना, जिससे सबने साधु-साधु कहकर उद्धव के वाक्य को समादर किया और मान लेने की प्रतिज्ञा की।।११।।

आभास—अथ भिन्नप्रक्रमेण लौकिकानां सुखार्थं गृहस्थितिक्लेशाभावाय निर्गमनोत्सवं निरूपयति अथेति सार्द्धैः षड्भिः।

आभासार्थ—अब भिन्न प्रक्रम से कहते हैं कि लौकिकों के सुखार्थ और गृह की स्थिति में किसी प्रकार क्लेश नही है, यह जताने के लिए प्रस्थान के उत्सव का 'अथादिशत्' से ६½ श्लोकों मे वर्णन करते हैं।

श्लोक—**अथादिशत्प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः।**
भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरून् विभुः।।१२।।

श्लोकार्थ—देवकी के पुत्र भगवान् ने बड़ों से आज्ञा लेकर दारुक जैत्र आदि भृत्यों को प्रयाण के लिए आज्ञा की।।१२।।

सुबोधिनी—लौकिक्येषा भाषा। **देवकीसुत** इति स्त्रीप्रभृतीनां सुखदायकः। **भृत्या** अन्तरङ्गसेवकाः कर्मकराः। **जैत्रोपि** जयशीलः कश्चिद्रथयोजकः। गुरून् पित्रादीन् ब्राह्मणान् वा। **विभुरिति** सर्वकरणसमर्थः।।१२।।

व्याख्यार्थ—यह लौकिकी भाषा है, देवकी सुत कहने का भाव यह है कि स्त्री प्रभृति सबको सुख देने वाले हैं। 'भृत्य' पद का आशय है कि काम करने वाले अन्तरङ्ग सेवकों से हैं। 'जैत्र'

का तात्पर्य जो रथ का योजक जयशील है। 'गुरून्' पद से पिता आदि अथवा ब्राह्मण समझने चाहिए। 'विभुः' शब्द से यह कहा कि देवकी का सुत कहने से साधारण मानव न समझना, किन्तु ये सर्वकरण समर्थ भगवान् हैं ॥१२॥

श्लोक—**निर्गमय्यावरोधान् स्वान् ससुतान् सपरिच्छदान् ।**
संकर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन् ।
सूतोपनीतं स्वरथमारुहद्गरुडध्वजः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे शत्रु घातक! अन्तःपुर से पुत्र और सामान सहित सब को निकाल आगे कर सङ्कर्षण और उग्रसेनजी से आज्ञा लेकर, आप(श्रीकृष्णचन्द्र)सारथी के लाये हुए अपने रथ पर चढ़े ॥१३॥

सुबोधिनी—प्रथमत एवान्तःपुरस्त्रियो निर्गमय्य, **अवरोधोन्तःपुरस्त्रिय** पुलिङ्गनिर्देशः स्त्रीभावाभावाय। **संकर्षणः** सहायार्थम्, **यदुराजः** उग्रसेनः। अनेन राजसतामसौ परित्यज्य अन्ये सर्वे निर्गता इति सूचितम्। **शत्रुहन्निति** वहिर्मुखताभावाय, प्रद्युम्नादयोपि कौतुकाद् भगवद्रथमानयेयुः, भगवान् वा कौतुकादन्यरथमारोहेत्, स्त्रीभिः परिवृतो वा गच्छेदतः **सूतोपनीतं स्वरथमित्युक्तम्**। गरुडध्वजत्वान्न सहायापेक्षा। ॥१३॥

व्याख्यार्थ—पहले ही अन्तःपुर से स्त्रियों को बाहर किया, 'अवरोध' शब्द पुलिङ्ग है, वह स्त्रियों के लिए देने का आशय यह है कि उनमें स्त्रीभाव का अभाव था। 'सङ्कर्षण' नाम इसलिए दिया है कि वह सहाय करने वाले हैं। 'यदुराज' शब्द उग्रसेन के लिए दिया है, इन नामों को देने का भाव यह है कि भगवान् ने राजस और तामस को यहाँ ही छोड़ा, शेष अन्य को साथ ले गए। 'शत्रुहन्' विशेषण से बहिर्मुखता का अभाव दिखाया है, सूत के लाए हुए अपने रथ में चढ़े, लिखने का तात्पर्य यह था कि कदाचित् कौतुक से प्रद्युम्नादिक रथ ले आए हो अथवा कौतुक से भगवान् अन्य रथ में बैठे अथवा स्त्रियों से परिवृत होकर पधार जावें, इन शङ्काओं को यह वाक्य देकर टाल दिया है कि वह रथ गरुड़ की ध्वजा वाला है, इसलिए सहायता की अपेक्षा नहीं है ॥१३॥

श्लोक—**ततो रथोद्विपभटसादिनायकैः करालया परिवृत आत्मसेनया ।**
मृदङ्गभेर्यानकशङ्खगोमुखैः प्रघोषघोषैः ककुभो निराक्रमत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—रथ, हस्ती, प्यादल, घोड़े सवार और इनके नायकों से भयंकर दीखती हुई अपनी सेना से आवृत हो, मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी, आनक और गोमुख इनके शब्दों से दिशाएँ व्याप्त हो गई, इस प्रकार भगवान् रवाना हुए ॥१४॥

सुबोधिनी—ततः सेनासहितः नानाविधवाद्यसहितोपि दिशां प्रतिध्वनिसहितोपि **निराक्रमत्। सादयोश्ववाराः।** चतुरङ्ग**नायकैः** सहिता दर्शनमात्रेणैव भयजनिका केवलं भगवत एव सेना ॥१४॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से सेना के साथ एवं अनेक प्रकार के वाद्यों सहित तथा उन वाद्यों के ध्वनि की प्रतिध्वनि दिशाओं में जिस समय आ रही थी, उस समय रवाना हुए चतुरङ्ग नायकों वाली रथ, हस्ती, घोड़े सवार आदि सहित एक ही भगवान् की सेना थी, जिसके दर्शन मात्र से भय उत्पन्न होता था ॥१४॥

आभास—ततः असाधारणीनां साधारणीनां च प्रयाणप्रकारमाह **नृवाजीति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—पश्चात् असाधारणीय और साधारणीयों के प्रस्थान प्रयाण का प्रकार 'नृवाजि' से दो श्लोकों में कहते है।

श्लोक—**नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।
वराम्बराभरणविलेपनस्रजः सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥१५॥**

श्लोकार्थ—तलवार और ढाल हस्त में लिये हुए पुरुषों से वेष्टित हो, उत्तम आभूषण वस्त्र अरगजा और मालाओं को धारण कर, पुत्रों को सङ्ग ले प्रभु की पतिव्रता स्त्रियाँ बाघी (बग्घी), पालकी तथा तामजाम (चोंडोल) में बैठ भगवान् के पीछे-२ जाने लगी ॥१५॥

सुबोधिनी—नृशब्देन नरयानं दोला, **वाजि**नोश्वाः केवलाः शकटयोजिताश्च, **काञ्चनशिबि**काश्चतुर्दोलाः चोंडोल इति भाषायां नृभिर्वाजिभिर्वा युक्ताः। **अच्युतं पतिमनु सुव्रताः** पतिव्रताः रुक्मिण्यादयः सपुत्रा **ययुः**। चतुर्विधालङ्करणयुक्ताः मार्गेऽपि। स्वतोपि रक्षिताः **नृभिरपि सुसंवृताः** ॥१५॥

व्याख्यार्थ—'नृ' शब्द से 'डोली' कही है, केवल घोड़े और रथों में जोड़े हुए ऐसे दो प्रकार के अश्वों के थे, सोने की शिबिकाएँ जिनको चोंडोल वा तामजाम कहते हैं, उनमें मनुष्य वा घोड़े जुड़े हुए थे अर्थात् शिबिकाओं को मनुष्य खेंचते थे अथवा घोड़े खेंचते थे, अपने अच्युतपति के पीछे मार्ग में भी चतुर्विध अलङ्कार धारण की हुई रुक्मिणी आदि पतिव्रता स्त्रियें पुत्रों सहित जाने लगी, स्वतः भी रक्षित थीं एवं मनुष्यों से भी अच्छी तरह घिरी हुई थीं ॥१५॥

आभास—साधारणीनामाह **नरेति** ।

आभासार्थ—साधारण सेना आदि का वर्णन 'नरोष्ट्र' श्लोक से कहते है।

श्लोक—नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनःकरेणुभिः परिजनवारयोषितः ।
स्वलंकृताः कटकुटिकम्बलाम्बराद्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वशः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मनुष्य, उष्ट्र(ऊँट), घोड़े, महिष(भैंसे), गर्दभ(गधे), खच्चर, रथ और हस्तिनियाँ; ये सब सुसज्जित थे, परिचारगी करने वाले मनुष्य तथा वाराङ्गनाएँ आदि तथा चटाईयों के डेरे, कम्बल तथा वस्त्र आदि सब समान उन पर लाद तथा मनुष्य आदि रथ पर बैठ नगर से जाने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी—नरादिभिरष्टभिः परिजना वारयोषितश्च निर्गताः, गावो वृषभाः । अश्वतरी, अनः शकटं, करेणुः करिणी, सर्वा एव स्वलंकृताः । तासां जातिस्वभावसामग्रीं वर्णयति कटकुटीति । कटानामेव कुटी कटः पटकुटी वा, कम्बलादयो वृष्टिनिवारकाः । तासां कृष्णमन्विति न नियमः किंतु सर्वश एव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—मनुष्य से लेकर हस्तिनियों तक के आठ, परिचारगी करने वाले और वाराङ्गनाएँ ये सब नगर से जाने के लिए निकले । 'गौ' शब्द यहाँ वैलों के अर्थ में है । अश्वतरी(खच्चर) 'अनः' शकट और करेण यानि हस्तिनी; ये सब ही अलंकृत थे, अब उनकी अपनी जाति स्वभावानुसार जो सामान उनके पास था, उसका वर्णन करते हैं, चटाईयाँ, कम्बल आदि वस्त्र जिनसे वृष्टि से अपनी रक्षा की जाती है । केवल पत्नियाँ ही पीछे गई, यों नहीं है, किन्तु सर्व ही पीछे चलने लगे ॥१६॥

आभास—सामान्यतो भगवत्कटकं वर्णयति समुद्रतुल्यतया बलमिति ।

आभासार्थ—सामान्य रूप से भगवान् की सेवा का 'बलं' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरैर्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।
दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवेर्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोर्मिभिः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे क्षुभित समुद्र, तिमिङ्गिल मत्स्य और बड़े तरङ्गों से शोभा पाता है, वैसे ही बड़ी ध्वजा, छत्र, चँवर, उत्तम आयुध, आभरण, किरीट तथा जो कवच (बख्तर)थे, उन पर पड़ती हुई सूर्य की किरणों से तुमुल ध्वनि वाली सेना शोभावती हुई ॥१७॥

सुबोधिनी—वरवरायुधैः सूर्यरश्मिभिर्विविधैर्बभौ उपर्याच्छादकाः बृहन्तो ध्वजादयः । पटसहितानि छत्राणि भिन्नानि वा, आयुधानि आभरणानि किरीटानि कवचानि च । तुमुलो रवो यत्रेत्यन्तःशौर्यम्, तस्यापरिमितत्वाय यथार्णव इति । क्षुभितास्तिमिङ्गिलाः ऊर्मयश्च ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वस्त्र, आयुध और सूर्य की किरणों से सेना शोभा पाने लगी, बड़ी-२ ध्वजाएँ, ऊपर ढाँकने वाली थीं, वस्त्र सहित छत्र अलग थे, आयुध आभरण किरीट और कवच थे, सेना में तुमुल ध्वनि हो रही थी, जिससे भीतर का शौर्य प्रकट हो रहा था, वह शौर्य अगणित था, जिसके लिए समुद्र का दृष्टान्त दिया है कि जैसे तिमिङ्गिल मत्स्य (मगरमच्छ) और लहरें क्षुभित हो (ऊपर उठ-उठ कर) समुद्र के भीतर का अपना शौर्य प्रकट करते हैं ।।१७।।

आभास—एवं निर्गम्य नारदवाक्यमिव कृत्वा ततोऽग्रे नारदं प्रेषयामासेत्याह **अथो मुनिरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार निकल कर जैसे नारद ने कहा, मानों उसी प्रकार किया, उस कारण से नारदजी को प्रथम भेजा । जिसका वर्णन 'अथो मुनिः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा ।**
निशम्य तद्व्यवसितमाहृतार्हणो मुकुन्दसंदर्शननिर्वृतेन्द्रियः ।।१८।।

श्लोकार्थ—फिर नारदजी भगवान् से आदर पाकर, भगवान् के दर्शन से परमानन्द में मग्नचित्त वाले होकर भगवान् का निश्चय सुन, उन्हें प्रणाम कर हृदय में उनका स्मरण करते हुए पूजा को स्वीकार कर आकाश मार्ग से चले ।।१८।।

सुबोधिनी—भिन्नप्रक्रमः समाधिभाषार्थः । भगवन्तं विहाय भक्तस्य पुरतो गमनमनुचितमित्याशङ्क्याह **तं हृदि विदधदिति** । **विहायसा** तु आकाशमार्गेण, तस्य भगवतो व्यवसायं गमनात्मकं निशम्य निर्धारितं श्रुत्वा । बहिरन्तश्चानन्दपूर्णो निर्गत इति वक्तुं विशेषणद्वयम्, **आहृतमर्हणं** यस्मै **मुकुन्दसंदर्शनेन** निर्वृतानीन्द्रियाणि यस्य । एवं **स्वतः** कार्यतश्च सिद्धो गत इत्यर्थः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—यह प्रक्रम पृथक है क्योंकि समाधिभाषा है भगवान को छोड़ भक्त का पहले जाना उचित नहीं ? इस शंका की निवृत्यर्थ कहते हैं कि मनमें भगवान् को विशेष प्रकार से धारण करते हुए जाने लगे, आकाशमार्ग से चले चलने से पहले, भगवान् इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर के यहां पधारेंगे, यह निश्चय निर्णय सुन लिया था, बाहर और भीतर आनन्दपूर्ण होकर चले, जिसके लिए दो विशेषण "आहृतमर्हणं" "मुकुन्दसंदर्शननिर्वृतेन्द्रियः" दिए हैं, जाते समय भगवान् से पूजित होकर गए मुकुन्द के दर्शन से जिसकी इन्द्रियाँ आनन्दपूर्ण हो गई हैं अतः स्वतः और कार्य से सफल होकर रवाना हुए ।।१८।।

आभास—ततो दूतसमाधानमाह **राजदूतमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् दूत का समाधान "राजदूत" श्लोक से कहते हैं

श्लोक—राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा।
मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—भगवान् वाणी से दूत को प्रसन्न करते हुए कहने लगे, मत डरो, आपका कल्याण होगा; क्योंकि मागध का नाश कराऊँगा ॥१९॥

सुबोधिनी—इदं वक्ष्यमाणम्, वाक्येनैव तस्य प्रीतिं जनयन् मा भैष्टेतिवाक्यं मध्यमपुरुषबहुवचनं राज्ञः प्रति। दूतेति केवलस्यैव संबोधनं तथा कथनाय। अन्यथा भगवतैव राजानो बोधिता इति दूतो व्यर्थः स्यात्, न केवलं मोचनं किं तु वो भद्रमपीत्याशीः। हेतुभूतं कर्तव्यमाह घातयिष्यामीति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—"इदं" पद का भावार्थ है कि यह, जो अब कहना है, वाक्य से ही उसको प्रसन्न करते हुए कहने लगे कि "मा भैष्ट" मत डरिये। "भैष्ट" यह क्रिया मध्यम पुरुष का बहुवचन है जिसका भावार्थ है कि "मतडरो" यह शब्द राजाओं को कहे है। "दूत" यह सम्बोधन इसको इसलिए दिया है, राजाओं को जाकर कहना कि आप डरो नहीं, यदि सम्बोधन का यह आशय नहीं तो भगवान् ने ही राजाओं को यों कहा तो दूत का आना और राजाओं का संदेश सुनाना व्यर्थ हुआ भगवान् ने 'भद्र' शब्द कहकर यह बताया है कि आप केवल बन्धन से नहीं छूटोगे किन्तु आपका कल्याण भी होगा, यह आशीर्वाद भी दिया है, यों होने मे जो हेतुभूत कर्तव्य है वह भी प्रकट कह देते है कि मागध का घात कराऊँगा ॥१९॥

आभास—ततो दूतकर्तव्यतादिकमाह इत्युक्त इति।

आभासार्थ—पश्चात दूत ने कर्तव्यादि कहा (वह) "इत्युक्तः" श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्नृपान्।
तेपि संदर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्त मुमुक्षवः ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जो इस प्रकार कहा, वह सुनकर दूत रवाना हुआ, वहाँ जाकर जैसे भगवान् ने कहा था, वैसे सब राजाओं को कहा, वे भी मुक्त होने की इच्छा वाले भूपतिगण भगवान् के दर्शन की प्रतिक्षा करने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी—यथावज्ञातानुपूर्व्या। श्रुतानां मनोवृत्तिमाह तेपीति। भगवतैव मोक्ष इति भगवत्संदर्शनमेव काङ्क्षन्तः स्थिताः। अयमेव मोक्षोपायः सर्वेषामिति सूचितम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—जैसा जो कुछ हुआ वह सब प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दूत ने राजाओं को सब सुनाया, सुनने वाले राजाओं के मन की वृत्ति तब कैसी होने लगी, वह कहते है कि भगवान् द्वारा

ही मोक्ष होगा और भगवान् के दर्शन भी होंगे, यह कब होगा ऐसी प्रतिक्षा में ही स्थित हुए, यों करने से यह सूचित किया है कि मोक्ष का एक ही उपाय मेरी शरण आना है ।।२०।।

आभास—इन्द्रप्रस्थपर्यन्तं भगवत आगमनमाह आनर्तेति द्वाभ्यां स्थलजलोत्तरण-प्रयत्नभेदात् ।

आभासार्थ—इन्द्रप्रस्थ तक भगवान् पहुँचे मध्य में जो देश और नदी आदि आए उनका वर्णन "आनर्त" श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**आनर्तसौवीरमरूंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ।**
गिरीन्नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ।।२१।।

श्लोकार्थ—ओखामण्डल, सौराष्ट्र, मारवाड़, कुरुक्षेत्र देशों से होते हुए, गिरि और नदियों को पार कर पुर ग्राम, व्रज और खानों के देशों का उल्लङ्घन कर इन्द्रप्रस्थ पधारे ।।२१।।

सुबोधिनी—**आनर्तो** द्वारकादेशः, **सौवीर** सुराष्ट्रदेशः, **मरवो** मरुदेशः । ततो **विनशनं** कुरुक्षेत्रदेशः । अल्पपरिभ्रमणेनागमनं पर्वतवनाद्यभावात् । यतो **हरिः**, **गिरीन्** रैवतकादीन्, तत्प्रभवा **नदीश्च अतीयाय** पादगत्यैवातिक्रान्तवान् । **पुरग्रामव्रजाकराश्च**त्वारो भेदाः जनस्थानानाम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ—"आनर्त" द्वारकादेश "सौवीर" सु "सौ" राष्ट्रदेश "मरवो" मरुदेश (मारबाड़) वहाँ से हो कुरुक्षेत्र में आए, यों घूमकर भी जल्दी पहुँचने का कारण यह है कि वहां बड़ी नदियां व पहाड़ तथा वन नहीं आए, क्यों कि आप "हरि" हैं । बाद में रेवतक पर्वत और उनसे निकली हुई नदियों को पैदल ही पार कर, पुर, गांव व्रज और खान वाले देशों का उल्लंघन कर "अन्त में" इन्द्रप्रस्थ पधारे ।।२१।।

श्लोक—**ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोथ सरस्वतीम् ।**
पाञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ।।२२।।

श्लोकार्थ—पश्चात् मुक्ति देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण दृषद्वती और सरस्वती को पार कर, पाञ्चाल और मत्स्य देशों का अतिक्रमण कर इन्द्रप्रस्थ आए ।।२२।।

सुबोधिनी—**दृषद्वती सरस्वती** च तदानीमतिगम्भीरनद्यौ । दृषद्वतीसरस्वत्योर्मध्ये । **मुकुन्द** इति पदमग्रे तत्र मोक्षं दास्यतीति सूचयति । **अथे**त्यग्रे शनैर्गमनं सूचितम् । **पाञ्चालदेशो** मत्स्यदेशश्च मध्येमार्गं एवांशभेदेनेति विमर्शः । शक्रप्रस्थमिन्द्रप्रस्थं अन्वर्थसंज्ञा स्थानस्येति ज्ञापयितुं तथा वचनम् ।।२२।।

व्याख्यार्थ—दृषद्वती और सरस्वती उस समय में बहुत बड़ी और गम्भीर नदियां थीं। दृषद्वती और सरस्वती के मध्य भाग में जो देश हैं उनमें से होकर पधारे, पधारने का कारण मोक्ष देना है इसलिए "मुकुन्द" नाम दिया है। "अथ" पद से यह जताया है कि आगे धीरे-२ पधारेंगे, पांचाल देश तथा मत्स्यदेश, मार्ग के बीच में ही आएंगे किन्तु यहां उनका अंश भेद से विचार किया अर्थात् मत्स्यदेश अथवा पांचालदेश का समग्र भाग नहीं फिरे किन्तु मध्य भाग भी अंश भेद से फिर कर इन्द्रप्रस्थ आ गए "इन्द्र" नाम से ही उसके गुणों का ज्ञान हो जाता है ॥२२॥

आभास—ततो निकटे समागमने युधिष्ठिरस्य स्नेहपूर्वकं कृत्यमाह **तमागत**मिति चतुर्भिः।

आभासार्थ—अनन्तर जब सुना कि भगवान् निकट आ गए हैं तब महाराजा युधिष्ठिर ने जो स्वागत कृत्य प्रेमपूर्वक किया जिसका वर्णन "तमागतं" श्लोक से चार श्लोकों में करते है।

श्लोक—**तमागतमुपाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम्।**
अजातशत्रुर्निरगात्सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ॥२३॥

श्लोकार्थ—जिनका दर्शन प्राणी मात्र को कठिन है, वे निकट पधार गए हैं, यों सुन प्रसन्न हुए युधिष्ठिर उपाध्याय और मित्रों सहित महल से बाहर निकले।२३।

सुबोधिनी—नृणां प्राणिमात्रस्य **दुर्दर्शनमि**त्यलभ्यलाभोक्तिः। **अजातशत्रुरि**ति भगवद्दर्शनाधिकारः। विद्यापरिजनाभिमानाभावाय **सोपाध्यायः सुहृद्वृत** इति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्राणि मात्र को जिनका दर्शन होना दुर्लभ है उनका दर्शन होता है जो यों कहकर बताया है कि यह अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ है, युधिष्ठिर को "अजातशत्रु" कहकर यह सूचित किया है कि इस गुण से ही वह भगवान् के दर्शन करने का अधिकारी हुआ है, उपाध्याय और सुहृदों को साथ यह बताने के लिए लाए कि हमको तो अभिमान नहीं है किन्तु हमारे यहां जो विद्यावाले हैं और जो हमारा परिजन (मित्र बान्धवादि) हैं उनमें भी अभिमान नहीं है तथा उनमें आप के लिए आदर और प्रेम भी है ॥२३॥

श्लोक—**गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा।**
अभ्ययात्स हृषीकेशं प्राणः प्राणमिवादृतः ॥२४॥

श्लोकार्थ—गाजे-बाजे और भारी वेद ध्वनि के साथ भगवान् से मिलने के लिए गए, जैसे प्राण फिर प्राणों में लीन हो जाते हैं, वैसे युधिष्ठिर प्रेम से भगवान् से मिले ॥२४॥

सुबोधिनी—ततो निकटमागतः । गीतादि-सहितः यतः स प्रसिद्धः निकटागमनयोग्यः । ननु भक्त्या मध्ये विकलः कथं न जातः कथमागत इति शङ्कां वारयति **हृषीकेशमिति** । इन्द्रियाधिपतित्वादिन्द्रियाण्येव गतानि न तु तत्प्रयत्नः तत्र जात इत्यर्थः । स्वत एव गमने दृष्टान्तः **प्राणः प्राणमिवेति** । बहिर्निर्गतः प्राणः यथा-नायासेन प्राणमेव समागच्छति । ततः परमादरयुक्तो जातः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् निकट आए, गीत वाद्य वेद घोष के साथ आए, क्योंकि वह प्रसिद्ध निकट आने के योग्य था, इतना प्रेम जब था तो भक्ति से मार्ग में ही विकल क्यों न हो गए । यहां कैसे आ गए ? इस शंका का निवारण करते हैं कि जिनके पास आए है वे इन्द्रियों के स्वामी हैं, अतः वहां इन्द्रियां स्वतः स्वयं पहुँच गई न कि युधिष्ठिर अपनी इन्द्रियों के प्रयत्न से पहुँचे जिसको समझाने के लिए दृष्टन्त देते हैं कि जैसे बाहर निकला हुआ प्राण विना प्रयत्न के प्राण में ही पहुँच जाता है वैसे ही यह भी भगवान् से मिले और महान् आदर पाया ॥२४॥

आभास—निकटे समागतस्य कृत्यमाह **दृष्ट्वेति** ।

आभासार्थ—निकट में आकर युधिष्ठिर ने जो कृत्य किया वह 'दृष्ट्वा विक्लिन्न' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**दृष्ट्वा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।
चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजे स्म पुनः पुनः ॥२५॥**

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण का दर्शन करते ही युधिष्ठिर का हृदय स्नेह से आर्द्र हो गया और चिरकाल से देखे हुए प्रियतम का बार-बार आलिङ्गन करता रहा ॥२५॥

सुबोधिनी—**स्मेति** प्रसिद्धे । अन्यथा जीवस्यैवं धाष्ट्र्यं वर्णयितुमनुचितम् । भगवता कथमङ्गीकृतमिति शङ्कां वारयितुमाह **विशेषेण क्लिन्नहृदय इति** । तस्य विचाराभावेनालिङ्गने हेतुः **प्रियतममिति** । **पुनः पुनरिति** अन्तरानन्देन अन्तरानन्देन बहिःसंमूढता सूचिता ॥२५॥

व्याख्यार्थ—"स्म" पद यहां प्रसिद्धि के अर्थ में दिया है, अन्यथा जीव इस प्रकार धृष्टता करे जिसका वर्णन करना अनुचित है, भगवान् ने इस की धृष्टता कैसे स्वीकार की ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि उसका स्नेह से आर्द्र हृदय हो गया था वह देख कर भगवान् ने धृष्टता को स्वीकार किया । युधिष्ठिर विना विचार किये वार-वार आलिंगन करता रहा जिसका कारण कृष्ण भगवान् को वह अपना प्रिय नहीं वल्कि प्रियतम समझता था जिससे अन्तःकरण के आनन्द में लीन हो गया जिससे वाहर का ज्ञान ही न रहा यह सूचित किया ॥२५॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **दोर्भ्यामिति** ।

आभासार्थ—अनन्तर जो कुछ हुआ वह "दोर्भ्यां" श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।**
लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥२६॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मीजी का निर्मल निवास स्थान जो भगवान् का श्रीअङ्ग उसको आलिङ्गन किया, जिससे उसी क्षण उसके सब अशुभ नष्ट हो गए और ऐसे आनन्द मग्न हो गए, जो नेत्रों में से प्रेमाश्रु बहने लगे, शरीर पुलकित हो गया, जिससे सर्व लौकिक व्यवहार भूल गया ॥२६॥

सुबोधिनी—**रमायाः अमलमालयम्** । अनेन लौकिकन्यायेनापि दोषाभावाय सुखाय च हेतुरुक्तः । मुकुन्दगात्रमिति मोक्षानन्दोपि । ततः सर्वपापक्षयः, ततः परमानन्दस्फूर्तिरन्तर्बहिर्लोचनयोः शरीरे च तदुल्लासः, ततो लौकिकमोहनिवृत्तिः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् के श्रीअंग का आलिंगन किया, प्रभु का श्रीअंग लक्ष्मी का निर्मल निवास स्थान है, अतः उस श्रीअंग के आलिगन आदि से महाराज के सब दोष नष्ट हो गए और सुख की प्राप्ति हुई, यों कहकर लौकिक न्याय से भी दोषों के अभाव तथा सुख के लिए यह हेतु कहा है "मुकुन्दगात्र" पद से यह बताया कि इससे मोक्षानन्द भी मिला, उससे सर्व पापों का क्षय हो जाने से परमानन्द की भी स्फूर्ति हो गई, नेत्र और शरीर में अन्दर और बाहर उसका उल्लास हो गया, जिससे लौकिक मोह की निवृत्ति हो गई ॥२६॥

आभास—उत्तमाधिकारित्वादस्यैतावन्निरूप्य ततो न्यूनं भीमकृत्यं निरूपयति **तं मातुलेयमिति** ।

आभासार्थ—उत्तम अधिकारी होने से इसका इतना निरूपण कर, उससे भीम का कृत्य न्यून है, यों "तं मातुलेयं" श्लोक से निरूपण करते हैं।

श्लोक—**तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन्प्रेमजवाकुलेन्द्रियः ।**
यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पाः परिरेभिरेऽच्युतम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—भीमसेन, मामा के पुत्र, श्रीकृष्ण से हँसते हुए मिला, तब प्रेम के वेग से उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गई। अर्जुन, नकुल और सहदेव प्रिय श्रीकृष्णचन्द्र से आनन्दपूर्वक मिले, तब उनके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बहने लगी ॥२७॥

सुबोधिनी—संबन्ध एव तस्य हृदये प्रतिभातः तथापि वस्तुसामर्थ्यान्निर्वृतिः, भगवत्संबन्धाद्बलाद्विर्भावे जाते । **स्मयन्** मन्दहासं कुर्वन् । ततोधिकारित्वात्प्रेमजवेनाकुलानीन्द्रियाणि यस्य । **यमौ** माद्रीपुत्रौ, तयोरपि लौकिकत्वाद्भीमानन्तरं कथनम् । **किरीटी** अर्जुनः । तत्र चकारः राजधर्ममन्यधर्मं च समुच्चिनोति । **परिष्वङ्गे** हेतुः **सुहृत्तममिति मुदा । प्रवृद्धबाष्पा** इत्यविचारे । भगवांस्त्वच्युत इति न कापि तस्य क्षतिरित्यनुमोदनं सूचितम् ।।२७।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि भीमादि के हृदय में सम्बन्ध ही देखने में आया तो भी वस्तु के सामर्थ्य से उसकी निवृत्ति होकर आनन्द की प्राप्ति हुई; क्योंकि भगवत्सम्बन्ध से बल का आविर्भाव हो गया था । 'स्मयन्' पद का तात्पर्य है कि मिलने के समय मन्द हास करते थे, भगवान् से मिलने के अधिकारी होने से अन्तःकरण में जो प्रेम का वेग बढ़ा, उससे इन्द्रियाँ व्याकुल होने लगी, नकुल और सहदेव ये दोनों लौकिक होने से भीम के पीछे कहे है और अर्जुन भी । 'च' पद राजधर्म और अन्य धर्मों को दिखाता है, मिलने में कारण बताते हैं कि श्रीकृष्ण इनके हार्दिक मित्र थे, इसलिए प्रसन्नता से मिले । विशेष में नेत्रों से आँसू आने लगे, इससे अविचार प्रकट किया है, भगवान् स्वयं तो अच्युत है, इसलिए उनकी तो कुछ भी हानि नही हुई, इससे भीम आदि को मिलने के कार्य का अनुमोदन किया, यह सूचित होता है ।।२७।।

आभास—प्रेमकार्यं निरूप्य लौकिकं कृत्यमर्जुनादीनां निरूपयति अर्जुनेनेति-द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—अर्जुन आदि का प्रेम कृत्य कहकर अब लौकिक कार्य का 'अर्जुनेन' दो श्लोकों से निरूपण करते हैं ।

श्लोक—**अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ।**
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ।।२८।।

श्लोकार्थ—अर्जुन से भगवान् आलिङ्गन कर मिले, नकुल और सहदेव ने भगवान् को प्रणाम किया, अनन्तर भगवान् ने ब्राह्मणों को और बड़ों को जैसे योग्य था, वैसे ही प्रणाम किया ।।२८।।

सुबोधिनी—समस्यालिङ्गनम्, कनिष्ठौ चेदभिवादनम्, अतः **अर्जुनेन परिष्वक्तः यमाभ्यां चाभिवादितः** । ततो भगवान् भीमादयो ज्येष्ठा इति तान् सर्वानेव नमस्करोतीत्याह **ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्चे**ति । यथार्हतः यथायोग्यतः । ।।२८।।

व्याख्यार्थ—समान से आलिङ्गन, छोटे हो वे प्रणाम करें, इस लौकिक नीति के अनुसार अर्जुन समवय (बराबर उमर) वाला था, इसलिए भगवान् अर्जुन से आलिङ्गन द्वारा परस्पर मिले । नकुल और सहदेव छोटे थे, इसलिए उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया, अनन्तर भीम

आदि जो बड़े थे, उनको भगवान् ने नमन किया और जो वृद्ध थे, उनको भी नमस्कार किया; जैसा योग्य था, वैसा सबने किया ॥२८॥

श्लोक—**मानितो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् ।**
सूतमागधगन्धर्वान् बन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ॥२९॥

श्लोकार्थ—प्रथम कौरवादि द्वारा मान पाकर अनन्तर आपने कौरव, पाण्डव और कैकयों का आदर सत्कार किया, बाद में सूत मागध, गन्धर्व, बन्दी और उपमन्त्रियों को मान दिया ॥२९॥

सुबोधिनी—सर्वैर्मानितः सर्वानेव **मानयामास**। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति लौकिकभावेन प्रपन्नान् लौकिकभावं बोधयतीति निरूप्यते। कुरवः सृञ्जयाः **कैकयाश्च** सात्त्विकादिभेदा इव त्रिविधा निरूपिताः। बन्धुत्वोपजीवकानुक्त्वा **सूतमागधगन्धर्वानिति**। **गन्धर्वा** गायकाः, **उपमन्त्रिणः** परिहासकर्तारः समीचीनाः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—सबने भगवान् का सन्मान किया, आपने भी सबका आदर किया। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इस श्लोक के अनुसार लौकिक भाव से जो शरण आए, उनको लौकिक भाव ही दिखाया है, यों निरूपण करते हैं। कौरव, सृञ्जय और कैकेय; ये तीन सात्विकादि भेद वाले हैं, अतः तीन प्रकार के कहे हैं, बन्धुत्व से जो जी रहे हैं, उनका वर्णन कर विद्या से जीविका करने वालों को कहते हैं। सूत, मागध, गन्धर्व[1] और बन्दीजन तथा उपमन्त्री[2] थे, इनका भी यथायोग्य सन्मान किया गया ॥२९॥

आभास—ततो भगवता मानिताः भगवन्तं मानयामासुरित्याहुर्मृदङ्गेति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् से सत्कार पाकर भगवान् को मान देने लगे, जिसका वर्णन 'मृदङ्गशङ्ख' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**मृदङ्गशङ्खपटहवीणापणवगोमुखैः ।**
ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्ननृतुर्जगुः ॥३०॥

श्लोकार्थ—उस समय मृदङ्ग, शङ्ख, ढोलक, वीणा, पणव और गोमुख बाजे बजने लगे, ब्राह्मण स्तुति करने लगे, भक्त नाचने लगे और सामवेदी ब्राह्मण सामवेद का गान करने लगे ॥३०॥

१- गाने से आजीविका करने वाले, २- परिहास करने वाले विदूषक,

सुबोधिनी—चकारात् क्षत्रियादयोपि । **अरविन्दाक्ष**मिति दृष्ट्यैवाप्यायिताः । ज्ञानिनस्तुष्टुवुः । भक्ता ननृतुः, जगु. कर्मिणः सामगाः। ॥३०॥

व्याख्यार्थ—'च' शब्द से बताया है कि क्षत्रिय ग्रादि भी मान देने लगे । 'ग्ररविन्दाक्ष' नाम देकर यह सूचित किया है कि भगवान् ने दृष्टि से ही सबको ग्रानन्द देकर तृप्त कर दिया है, ज्ञानी ब्राह्मण स्तुति से भगवान् का सत्कार करने लगे, भक्त नृत्य द्वारा ग्रपना प्रेम प्रकट कर भगवान् को प्रसन्न करने लगे, कर्मकाण्डी सामगान कर भगवान् का ग्रादर करने लगे ।।३०।।

ग्राभास—दर्शनस्थानकृत्यमुपसंहरन्नग्रिमकृत्यमाह **एवं सुहृद्भिरि**ति ।

ग्राभासार्थ—दर्शन ग्रौर स्थान पर जो कृत्य हुग्रा, उसका उपसंहार करते हुए ग्रागे के कृत्य का 'एवं सुहृद्भिः' श्लोक से वर्णन करते है ।

श्लोक—**एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ।**
संस्तूयमानो भगवान्विवेशालंकृतं पुरम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार के पुण्यश्लोको के मुकुट मणिरूप जिनकी स्तुति नागरिक कर रहे हैं, वैसे भगवान् ने सुहृदों के साथ सिंगारे हुए नगर में प्रवेश किया ।।३१।।

सुबोधिनी—एवंभूतैः **सुहृद्भिः पर्यस्तो** व्याप्तस्तैरेव **संस्तूयमानः पुरमविशत्** । भगवतो महतो नगराद्बहिरेव स्थातुं युक्तं **कथमन्तः**-प्रवेशनमिति शङ्कां वारयति **पुण्यश्लोकशिखामणि**रिति । **पुण्यश्लोका** युधिष्ठिरादयः तेषां **शिखामणिर्मुकुटमणिः** । भगवतः प्रवेशाभावे कोपि पुण्यश्लोको न प्रविशेदिति तदनुरोधेन प्रार्थनया प्रविष्ट इत्यर्थः । भगवत्त्वादनन्यत्वम्, सर्वैरेव स्तूयमानत्वान्न लज्जा । सर्वानुमोदनार्थं विशेषणमलंकृतमिति ।।३१।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के सुहृदों से घिरे हुए ग्रौर उनसे ही स्तुत होते हुए भगवान् पुर में प्रविष्ट हुए, भगवान् को तो नगर से बाहर ही रहना उचित था तो नगर मे भीतर क्यों पधारे ? इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि यदि नगर में भीतर भगवान् प्रवेश न करते तो नगर में कोई भी पुण्यश्लोक नहीं जाता ग्रौर न रहता । युधिष्ठिरादि पुण्यश्लोक भी फिर वहाँ न रहते, ग्रतः युधिष्ठिरादि के ग्रनुरोध पूर्वक प्रार्थना से भीतर पधारे । ग्राप भगवान् हैं ही, इसलिए ग्रापके लिए ग्रन्य कुछ नहीं ग्रर्थात् उनके लिए बाहर ग्रौर भीतर पृथक् नहीं हैं, सब कुछ ग्राप ही हैं, फिर लौकिक से भी जब बाहर ग्रौर भीतर के सब लोग स्तुति कर रहे हैं तो भीतर जाने में कोई लज्जा नहीं है, पुर का विशेषण 'ग्रलंकृत' देकर यह सूचन किया है कि भगवान् के भीतर पधारने का सब ग्रनुमोदन कर रहे हैं ॥३१॥

ग्राभास—भगवत्प्रविष्टं पुरं वर्णयति द्वाभ्यां **संसिक्त**ेति ।

ग्राभासार्थ—भगवान् जिस नगर में पधारे उसके सजाने का दो श्लोको से वर्णन करते है ।

श्लोक—संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयै-
श्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।
मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस्र-
ग्गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—जहाँ मार्ग में हाथियों के मदवाले सुगन्धित जल से छिरकाव हो रहा था, चित्र ध्वजा, सुवर्ण के तोरण, जल से भरे घड़े घरों पर धरे हुए थे, जिनकी अपूर्व शोभा हो रही थी, स्नान कर उज्वल हो, नवीन वस्त्र, आभूषण, माला व सुगन्धित पदार्थों को धारण किए हुए पुरुष और युवतियों से वह नगर विशेष शोभा वाला हो रहा था ।३२॥

सुबोधिनी—करिणां मदगन्धतोयैः संसिक्तवर्त्मेति अधो वर्णितम् । कनकतोरणैः पूर्णकुम्भैश्चेत्युपरि । मध्ये वर्णयति मृष्टात्मभिरिति । मृष्टा उद्वर्तनादिभिः शोधिताः आत्मानो देहा येषां, नवानि दुकूलानि स्रजो माला गन्धाश्च येषा एतादृशैर्नृभिर्युवतिभिः स्त्रीपुरुषैर्विराजमानमिति साधारणपुरुषाणां शोभा निरूपिता । प्रसिद्धपुरुषाणां तु पुरमेव शोभाकरम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—नगर के नीचे के भाग पृथ्वी का वर्णन करते हैं कि उस पर हस्तियों के मद से सुगन्धित जलों से छिरकाव होने से नीचे के भाग पृथ्वी सुगन्धित हो रही थे, नगर के भवनों की शोभा से ऊपर के भाग की शोभा को कहते हैं कि सुवर्ण के तोरण और जल से पूर्ण घड़े भवनों पर धरने से ऊपर की शोभा हो रही थी,मध्य भाग की शोभा कहते हैं अर्थात् कि नगर के साधारण स्त्री-पुरुषों की शोभा से नगर का मध्य भाग सुशोभित हो रहा था, जैसे कि पुरुष तथा युवा स्त्रियाँ इतर, फुलेल आदि उबटन कर, नवीन वस्त्र और पुष्प माला धारण कर चन्दन आदि लगाकर घूम रही थी, ऐसे नगर में आपने प्रवेश किया॥३२॥

आभास—साधारणं पुरं वर्णयित्वा राजगृहात्मकं वर्णयति उद्दीप्तेति ।

आभासार्थ—साधारण नगर का वर्णन कर राजगृह रूपी नगर का 'उद्दीप्तदीप' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—उद्दीप्तदीपबलिभिः प्रतिसद्मजाल-
निर्यातधूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।
मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-
र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥३३॥

श्लोकार्थ—जहाँ प्रत्येक गृह दीप तथा पुष्प मण्डलियों से सुशोभित हो रहा था, भवनों की जालियों से सुन्दर धूप का सुगन्धित धूम निकलता था, सुन्दर पताकाओं से प्रत्येक सदन (महल) सुशोभित था, उन महलों के ऊपर सोने के कलश, उनके नीचे के भाग में चाँदी के वड़े-बड़े शिखर थे, ऐसे सुन्दर राज भवनों से सुशोभित कुरुराज की राजधानी भगवान् ने देखी ॥३३॥

सुबोधिनी—राजगृहाः सर्वे भोगस्थानभूता इति तत्र **उद्दीप्ता दीपा वलयश्च** पुष्पमण्डलानि पूजासाधनानि भवन्ति । **प्रतिसद्म** सर्वेष्वेव गृहेषु ये **जाला** गवाक्षाः तन्मार्गेण **निर्याता** ये **धूपास्तै रुचिरम्। विलासयुक्ताः पताका** यस्मिन्। सात्त्विकराजसतामसोत्कर्षो निरूपितः क्रमेण पदत्रयेण । गृहाणां स्वाभाविकोत्कर्षमाह **मूर्धन्येति । गृहमूर्धनि** स्थितैः **हेमकलशैः, राजतानि उरु शृङ्गाणि** च **तैर्जुष्टं** सेवितम्, ज्ञापकत्वेन तानि स्थितानि । अयमर्थः । भगवान् दूरादेव दीपविशेषैः पताकाभिः सुवर्णकुम्भैः राजतशृङ्गैश्च राजगृहमिदमिति ज्ञातवानिति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—सब राजगृह भोग के स्थान बन गए थे उन भवनों में तेज दीपक जल रहे थे और पुष्प मण्डलियां रखी थी, ये दोनों दीप और पुष्प पूजा के साधन होते थे प्रत्येक घर में जो जालिया थीं उनमें से धूप का सुगन्धित धूप निकलता था, उनसे वे सुन्दर लगते थे, जिन भवनों पर पताकाएं विलास कर रही थी अर्थात् हिलती हुई मानों क्रीड़ा कर रही थीं इन तीनों पदों से सात्विक राजस और तामस तीन प्रकार का उत्कर्ष वर्णन किया है, अब राजगृहों का स्वाभाविक तीन प्रकार उत्कर्ष कहते है, गृहों के ऊपर सोने के कलश स्थापित थे, उनके नीचे चांदी के बड़े बड़े शिखर थे, उनसे वे पहचाने जाते थे कि यह भवन राजगृह हैं, इस कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् दूर से ही विशेष दीपों से, पताकाओं से सुवर्ण के घड़ों से चांदी के शिखरों से जान गए कि ये सब राज महल हैं ।।३।।

आभास—ततः पुरं प्रविष्टस्य भगवतः प्रकारान्तरेण स्वरूपं वर्णयितुं तत्रत्यानां औत्सुक्यमाह **प्राप्तं** निशम्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् नगर में प्रविष्ट भगवान् का अन्य प्रकार से स्वरूप वर्णन करने के लिये, वहां के निवासियों की उत्सुकता का वर्णन "प्राप्तं निशम्य" श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-**
मौत्सुक्यविश्लथियकेशदुकूलबन्धाः ।
सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतींश्च तल्पे
द्रष्टुं ययुर्युवतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ।।३४।।

श्लोकार्थ—मनुष्य नेत्रों से जिस पान पात्र में से लावण्यामृतरस का पान करते

हैं, वह पान पात्र भगवान् पधार गए हैं, यह सुनते ही उत्सुकता से जिनके केश और वस्त्र के बन्धन शिथिल पड़ गए हैं, ऐसी तरुण स्त्रियाँ घर का कार्य त्याग तथा पतियों को शय्या पर ही सोया हुआ छोड़कर भगवान् के दर्शनार्थ राज मार्ग पर आ गईं ॥३४॥

सुबोधिनी—**नराणां** यानि **लोचनानि** लावण्यामृतसारज्ञानयुक्तानि तेषा लावण्यामृतपान भगवान्पानपात्रं यत्रत्यं रूपामृतं चक्षूंषि पिबन्ति। ततो रूपदर्शनेन उन्मथिताशयानां देहवैक्लव्यमाह **औत्सुक्येति**। दर्शने दर्शनानन्तरं वा या उत्सुकता **औत्सुक्यं** तेन **विश्लथिताः केशदुकूलयोर्बन्धा** यासाम्, केशबन्धापगमे मनोवैक्लव्यम्, दुकूलबन्धापगमे देहकार्श्यम्, अन्तर्वहिः - क्लेशो निरूपितः। ततः पूर्वावस्थायां स्थातुमशक्ताः **सद्य** एव **गृहकर्म पतींश्च तल्पे** त्यक्त्वा क्रियाः क्रियाफलानि च त्यक्त्वा **नरेन्द्रस्यैव मार्गे** राजमार्गे **युवतयो** भगवन्तं **द्रष्टुं ययुः**। तल्पे पतीनां निरूपणान्न ते भगवद्भक्ताः। राजा तु भगवत्संमुखं गत इति पतिगृहेभ्यः राजमार्ग एव श्रेष्ठ इति तत्रैव निविष्टा येन भगवान् दृश्येतेत्यर्थः। गृहाः कर्माणि पतयश्चेति वा। तामसादिभेदात्त्रयः त्यागार्हा एव अर्थाद्राजमार्गो गुणातीत एव भवति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—लावण्यामृतरस के ज्ञाता जो मनुष्यों के नेत्र है, उन नेत्रों के लावण्यामृतपान का पात्र भगवान् है क्योंकि मनुष्य भगवान् के रूपामृतरस का पान नेत्रो से ही करते हैं। नेत्रों से रूपरस का पान करने से जो भगवान् के मिलने की उत्सुकता बढ़ गई, जिससे देह मे जो बेचैनी हुई उससे उनके केश तथा वस्त्रों के वन्धन खुल गए,केशों के खुलने से मनमें विकलता होने लगी वस्त्रों के खुलने से यह सूचित हुआ कि देह कृश हो गई है, इससे भीतर और वाहर का क्लेश वर्णन किया, यों होने से पहले की तरह रहने में असमर्थ हो गई, अतः शीघ्र ही गृह के कार्य और पतियों को शय्या पर ही छोड़, अर्थात् क्रियाएं और उनके फलों को छोड़ कर, वे युवतियां राजमार्ग पर प्रभु के दर्शनार्थ गई, पतियों को शय्या पर ही छोड़ा जिससे यह सूचित होता है कि वे (पुरुष) भगवान् के भक्त नहीं थे, यदि भगवद् भक्त होते तो, वे भी उठकर दर्शनार्थ जाते। राजा तो भगवान् को पधराने के लिए सामने गए हैं इसलिए पतिगृह से राजमार्ग ही श्रेष्ठ है वहां ही बैठ गई जिससे भगवान् देखने में आवें, गृह, कर्म और पति, ये तीन ही तामस आदि भेद से तीन प्रकार के हैं अतः त्यागने के योग्य ही है अर्थात् राजमार्ग गुणातीत ही हैं, क्योंकि वहां भगवद् दर्शन होते हैं ॥३५॥

आभास—अत एव तत्र गतानां भगवद्दर्शनं जातमित्याह **तस्मिन्निति**।

आभासार्थ—इस कारण से ही वहां जो गए उनको भगवान् के दर्शन हुए यह "तस्मिन्" श्लोक में कहते है—

श्लोक—**तस्मिन्सुसंकुल इभाश्वरथद्विपद्भिः**
कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः।
नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य
सुस्वागतं विदधुरुत्स्मयवीक्षणेन ॥३५॥

श्लोकार्थ—कितनी ही स्त्रियाँ घर के ऊपर के भाग पर चढ़कर दर्शनार्थ बैठ गईं, उन्होंने चतुरङ्गिणी सेना की भीड़ में पटरानियों सहित श्रीकृष्ण को पाकर उन पर पुष्प वर्षा करने लगीं तथा मन से आलिङ्गन कर मुस्कान युक्त दृष्टि से उनका स्वागत करने लगीं ।।३५।।

सुबोधिनी—चतुरङ्गसेनासंकुले **तस्मिन्** मार्गे **समार्यं** भगवन्तमुपलभ्य **गृहाधिरूढाः** सत्यः आरोहदोषपरिहाराय **कुसुमैर्विकीर्य** विवाहमिव कृत्वा **पश्चान्मनसोपगुह्य उत्स्मयवीक्षणेन** हासपूर्वकनिरीक्षणेन **सुष्ठु स्वागतं विदधुः**, सर्वनिरूपणेन ह्यपराधक्षमा । तत्र विधानपूर्वकं भगवन्तं परिगृह्य प्रमाणविरोधं परिहृत्य आत्मानं भगवति योजयित्वा प्राप्तं भगवन्तं पूरितमनोरथं पूर्णमनोरथाः हासेनाधिकरतिं दास्याम इति सूचयन्त्यः मोहयन्त्यो वा ततः साभिलाषं भगवन्तं सम्यगागतमिति सन्माननां कृतवत्य इत्यर्थः । ।।३५।।

व्याख्यार्थ—चतुरंगिणी सेना से युक्त उस मार्ग में पटराणियों के साथ भगवान् को पाकर पुष्पों को वर्षा करने लगीं मानो अब विवाह ही रहा है स्त्रियों ने घरों के ऊपर के भाग में बैठने का जो दोष किया था, क्योंकि भगवान् नीचे थे आप ऊपर बैठी थी उस दोष के मिटाने के लिए भी पुष्प वर्षा की, जिससे यह भी सूचन किया कि हम इसके लिए ऊपर बैठी है पश्चात् पुष्प वर्साने के अनन्तर मन से भगवान् का आलिंगन कर हास पूर्वक दर्शन करने से सुन्दर स्वागत किया यों सर्व प्रकार स्वागत करने से अपराध की क्षमा भी मांगली, यों करने का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक भगवान् को पाकर प्रमाण के विरोध का परिहार किया आत्मा को भगवान् में मिलाकर जिससे मनोरथ पूर्ण हुए हैं ऐसे प्राप्त भगवान् को इंगति से कहने लगी कि यद्यपि हमारे मनोरथ पूर्ण हो गए हैं तो भी हास्य से अधिक रति का दान करूँगी यों सूचन करती थी अथवा मोहित करती थीं उससे अभिलाषा वाले भगवान् को कहने लगी कि आप भले पधारे, यों सन्मान करने लगीं ।।३५।।

आभास—एवं भगवति स्त्रीणां भावमुक्त्वा पुरुषाणां भावमाह **तत्र तत्रेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् में स्त्रियों के भाव को कहकर अब "तत्र तत्र" श्लोक में पुरुषों के भाव को कहते हैं—

श्लोक—**तत्र तत्रोपसंगम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।**
चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ।।३६।।

श्लोकार्थ—निष्पाप पुरवासी, मुख्य-मुख्य कारीगर विशेष वैश्य, व्यापारी, जहाँ-तहाँ माङ्गलिक पदार्थ हस्तों में लेकर समीप आकर भगवान् का गन्धादि से पूजन करने लगे ।।३६।।

सुबोधिनी—**पौरा**: पुरवासिनः सर्व एव कृष्णस्य **सपर्या** पूजा **चक्रुः**। श्रेणीमुख्यानां विशेषमाह एकशिल्पोपजीविनः वणिग्विशेषाः **श्रेणीमुख्याः** ते भगवता तत्तच्छिल्पसहिता विशेषतो **हृष्टाः** सर्वात्मना **हतैनसो** जाता इत्यर्थः। मङ्गलद्रव्ययुक्तपाणित्वं तु समानमेव, **सपर्या** गन्धपुष्पादिभिः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—पुर में रहने वाले सब ही भगवान् की पूजा करने लगे एक ही शिल्प से आजीविका करने वाले विशेष वैश्यों को "श्रेणी मुख्याः" कहा है, भगवान् ने उनको उस शिल्प सहित विशेष प्रकार से देखा, जिससे उनके सर्व प्रकार से सर्व पाप नष्ट हो गए, मंगलद्रव्य तो सबके हाथों में था वह सर्व में समान ही है—सपर्या-पद से जताया है कि गन्ध पुष्पादि से पूजा की ॥३६॥

आभास—एवं सर्वैः सभाजनमुक्त्वा स्त्रीभिः कृतं मुकुन्दपत्नीनां पुनराह ऊचुरिति।

आभासार्थ—इस प्रकार सबने सन्मान किया यह कहकर अब स्त्रियों ने जो भगवान् की पत्नियों का सन्मान किया वह "ऊचुः" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-**
स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः।
यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-
लीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥३७॥

श्लोकार्थ—जैसे तारों के साथ चन्द्रमा, वैसे इनके साथ भगवान् शोभा दे रहे हैं, इनको देख कर इन्द्रप्रस्थ की स्त्रियाँ बातें करने लगीं कि अहो इन्होंने क्या पुण्य किया होगा, जो भगवान् इनके नेत्रों को अपने उदार मन्द हास्य और लीलापूर्वक अवलोकन की कला से आनन्द दे रहे हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—स्त्रीत्वभक्तत्वाविशेषेऽपि एता एव धन्या न तु वयम्। यद्यपि वयमुपरि तथापि भगवान् भूमौ समागत इति भूमिरेव स्वर्ग इति निरूपयन्त्यो दृष्टान्तमाहुः **तारा यथोडुपसहा** इति। 'देवगृहा वै नक्षत्राणि' इति श्रुत्या तासामिन्द्रियाणां देवद्रोगाधिक्यं सूचितम्। केन धर्मेणायमर्थः प्राप्त इति तासां विमर्शनमाहुः **किमकार्यमूभिरिति**। ननु किमाश्चर्यं बह्वीनामेव तथाभावादित्याशङ्क्य तासां सर्वोत्तमफलभोगमाह **यच्चक्षुषामिति**। यासां चक्षुषां भगवान् स्वयमुत्सवमातनोति। भगवानेव सर्वकर्तेति किमाश्चर्यमिति शङ्कां वारयितुं भगवति विशेषमाह **पुरुषमौलिरिति**। न हि पुरुषोत्तमः स्त्रिया उत्सवं संपादयति तथा सत्युत्तमत्वमेव चिन्त्यं स्यात्। तत्रापि **उदारो** यो **हासः** सर्वेषामनायासेन सर्वपुरुषार्थदाता,तत्सहितो यो **लीलावलोकः** पूर्णसर्वपुरुषार्थोपि भक्तिज्ञानसहितः, **उदारो** गुणः त्रयाणां च हासलीलावलोकानां तेषामपि

या कला नैपुण्यातिशयः तेन स्वसर्वस्वेनापि तासां नेत्राणामुत्सवं करोतीति तासां महती स्तुतिः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि इनका और हमारा स्त्रीत्व और भक्तत्व समान ही है तो भी ये ही धन्य हैं न कि हम धन्य है, यद्यपि हम ऊपर हैं तो भी भगवान् भूमि पर पधार रहे हैं, अब भूमि ही स्वर्ग है, इसका निरूपण करती हुई दृष्टांत देती है कि तारे जैसे चन्द्रमा के साथ शोभते हैं "देवगृहा वै नक्षत्राणि" इस श्रुति से उनकी, इन्द्रियों के भोग की देव की तरह अधिकता वर्णन की है, इन्होंने कौनसा धर्म किया है जो यह धन इनको प्राप्त हुआ है? इसमें क्या आश्चर्य है कि बहुतों का ही वैसे भाव होने से यह फल मिला हो? उनके सर्वोत्तम फल के भोग को कहते हैं कि "यच्चक्षुषा" जिनके नेत्रों को भगवान् स्वयं आनन्द दे रहे है, भगवान् ही सर्व कर्ता हैं इसमें क्या आश्चर्य है? इस शंका को निवारण करने के लिए कहती है कि भगवान् में सबसे विशेषता है क्योंकि 'पुरुषमौलिः' पुरुषों में उत्तम है,पुरुषोतम स्त्री से उत्सव सम्पादन नहीं करते है यदि यों हो तो उत्तमत्व ही विचारणीय हो जावे, उसमें भी जो आपका उदार हास है वह सबको बिना परिश्रम के सर्व पुरुषार्थ देने वाला है, उस उदार हास के साथ जो लीला से अवलोकन है वह पूर्ण सर्व पुरुषार्थ भी भक्ति ज्ञान सहित है, उदार गुण के साथ, हास्य लीला और अवलोकन का जो अतिशय नैपुण्य है, उससे अपने सर्वस्व से भी उनके नेत्रों को आनन्दित कर रहे हैं, इससे उनकी यह बड़ी भारी स्तुति है, ॥३७॥

आभास—पुरवासिनां कृत्यमुक्त्वा अन्तःपुरवासिनामाह **अन्तःपुरजनैरिति** ।

आभासार्थ—नगर वासियों ने जो सत्कार आदि किया वह कह कर अब अन्तःपुर वासियों का कृत्य "अन्तपुर" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।
ससंभ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—प्रेम से प्रफुल्लित नेत्र वाले अन्तःपुर के जन बड़े सम्भ्रम से सन्मुख जाकर भगवान् का सत्कार करने लगे, अनन्तर प्रभु राजमन्दिर में पधारे ॥३८॥

सुबोधिनी—अन्तःकरणेन्द्रियशरीराणि तेषां भगवत्पराणीति वक्तुं विशेषणत्रयम् । **प्रीत्या फुल्ललोचनैः ससंभ्रमैरिति संभ्रमो देहधर्मः । एवं सर्वभावैः प्रपन्नै रभ्युपेतः सन् राजमन्दिरं प्राविशत्** ॥३८॥

व्याख्यार्थ—अन्तःपुरवासी जनों के अन्तःकरण, इन्द्रियां और शरीर तीनों ही भगवत्परायण थे, यों कहने के लिए तीन विशेषण दिये है १–प्रीत्या २–फुल्ललोचनैः और सम्भ्रमैः, सम्भ्रम पद से देह धर्म कहा है, इस प्रकार सर्वोत्तम भाव वाले शरणागती सामने आए जिनसे सत्कार पाते हुए उनके साथ राजमन्दिर में प्रभु प्रविष्ट हुए ॥३८॥

आभास—संमाननाया अविच्छेदं वक्तुं पृथादिकृतं संमानमाह **पृथा विलोक्येति** ।

आभासार्थ—सत्कार का विच्छेद न हो, इसलिए पृथा आदि ने किए सत्कार का "पृथा विलोक्य" श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—**पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।**
प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥३९॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण त्रिलोकी के नाथ हैं तो भी अपने भतीजे हैं, अतः उनको देखकर पृथा (कुन्ती) प्रसन्न हुई, अपनी बहू के साथ, पलङ्ग से उठ(आ)कर उनसे मिली ॥३९॥

सुबोधिनी—भ्रातृपुत्रोपि **कृष्णस्त्रिभुवनेश्वरः** महान् सम्बन्धीति **प्रीतात्मा** सती **सस्नुषा पर्यङ्कादुत्थाय परिषस्वजे** महति लज्जाभये भवतः ते च परित्यज्य **परिष्वङ्गाज्जा**तिदेहधर्मनिवृतिः । **पर्यङ्कादुत्थायेति** सुखसाधनपरित्यागः । **सस्नुषेति** निरन्तरत्वम् । अन्तःकरणप्रीत्या दोषाभावपूर्वकं सर्वगुणा निरूपिताः । पर्यङ्कस्थितिः भगवत्कृपा सूचयति । भगवदर्थं गृहकार्ये स्थितायाः विकलाया वा पर्यङ्के स्थितिः । एतावदेव तयोः कृत्यं प्रेम्णा विकलयोर्नाधिकम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—भ्राता का पुत्र श्रीकृष्ण त्रिभुवनेश्वर है, महान् सम्बन्धी है इसलिए प्रसन्न हुई पृथा (कुन्ती) बहू के साथ पलंग से उठकर आके उनसे मिली, यद्यपि बड़े से मिलने मे लज्जा और भय होता है किन्तु उन दोनों का त्यागकर मिलने से जाति और देह के धर्म से अपनी निवृत्ति दिखाई पलंग से उठने से बताया है कि भगवान् से मिलने के लिए सुख के साधन छोड़ने चाहिए बहू को साथ लाने से यह सूचन किया कि सतत भगवान् से मिलना चाहिए, अर्थात् गृहस्थ छोड़ अकेले होने से ही भगवान् मिलते हैं यों नही है, केवल अन्तःकरण में उनके लिए प्रेम चाहिए,पृथा के अन्तःकरण की प्रीति से दोष रहित सर्वगुण निरूपण किए, पलंग पर बैठना, भगवत्कृपा का सूचन है, गृह के कार्य में स्थित अथवा विकलता से पलंग पर जो बैठता है वह भगवान् के लिए है, प्रेम से विकल उन दोनों "पृथा और बहू" का इतना ही कृत्य है इससे विशेष नहीं हैं ॥३९॥

आभास—ततो गृहागते भगवति राज्ञः कृत्यमाह गोविन्दमिति ।

आभासार्थ—गृह में पधारे हुए भगवान् में राजा का कृत्य 'गोविन्दं गृह' श्लोक से कहते है ।

श्लोक—**गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमादृतः ।**
पूजायां नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहतेन्द्रियः ॥४०॥

श्लोकार्थ—देवों के देव गोविन्द को घर में पधरा कर आया, तब महाराज की सब इन्द्रियाँ आनन्द में मग्न हो गई, जिससे प्रभु के लिए आदर होते हुए भी जान न सके कि उनकी पूजा कैसे करूँ ? ।।४०।।

सुबोधिनी—देवमात्रेऽपि गृहागते महती पूजा कर्तव्या भगवांस्तु **देवानामपि देवः** तस्मिन्नप्यागते स्वयमेव **गृहानानीय पूजायां** कर्तव्यायां आदरे विद्यमानेऽपि सति **कृत्यं** कर्तव्यं नाविदत्। भगवद्व्यतिरेकेण तस्यान्यत्र पूजासाधने दृष्ट्यभावात्। बलाच्चित्तप्रेरणे वैकल्यसंभवात् न पूजाज्ञानम्। **प्रमोदेन च उपहृतानीन्द्रियाणि** सुखासक्तानि न क्रियायां प्रवर्तन्त इत्यर्थः ।४०।

व्याख्यार्थ—केवल देवता भी घर में आवे तो उसकी विशेष पूजा करनी चाहिए भगवान् तो देवों के भी देव हैं उनके आने पर भी महती पूजा करनी चाहिए किन्तु यहां तो स्वयं भगवान् को पधरा कर लाए है, अतः पूजा मे आदर होते हुए भी किस प्रकार पूजादि कृत्य किया जाय यह समझ न सके, कारण कि उन (महाराज) की भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी पूजादि साधनो मे दृष्टि अर्थात् ध्यान ही नही था, बलपूर्वक चित्त को खीचे तो विकलता होने का सम्भव होने से पूजा विधि का ज्ञान न रहे,भगवान् के पधारने से जो सुख मिला उस सुख में सब इन्द्रियां आसक्त हो गई थीं, सुख में आसक्त इन्द्रियां कार्य मे प्रवृत हो नहीं सकती है ।।४०।।

आभास—एवं सर्वेषु प्रेम्णा विकलेषु सत्सु भगवत्कृत्यमाह **पितृष्वसुरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब सब प्रेम से विकल हो गये तब भगवान् ने जो किया। उसका वर्णन "पितृष्वसुः" श्लोक से करते है—

श्लोक—पितृष्वसुर्गुरुस्त्रीणां कृष्णश्चक्रेऽभिवादनम् ।
स्वयं च कृष्णया राजन्भगिन्या चाभिवन्दितः ।।४१।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपनी भूवा और बड़ों की स्त्रियों को प्रणाम किया, हे राजन् ! द्रौपदी और सुभद्रा ने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया ।।४१।।

सुबोधिनी—येन भगवच्चरित्रेण मोहकेन तेषां सावस्था दूरे भवति अन्यथाग्रिमकार्यं न स्यात् तच्चरित्रमाह। स्वापेक्षया ज्येष्ठानां **स्त्रीणां पितृष्वसुश्च** भगवान**भिवादनं चक्रे**। ततस्तासां देहधर्मयुक्तानां कृत्यमाह **स्वयं चेति**। स्त्रीत्वैकगृहत्वैकगोत्रत्वादिभिः सर्वा एकभावमापन्ना इति वृद्धनमस्कारेष्वन्यासामपि देहधर्मसंबन्धः। **कृष्णा** द्रौपदी। **भगिनी** सुभद्रा चकारादन्या अपि ।।४१।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के जिस मोहक चरित्र से उनकी वह विकल अवस्था मिट जावे, नही तो आगे का कार्य नहीं हो सकेगा वह चरित्र कहते है— अपनी अपेक्षा जो बड़े थे उनकी स्त्रियों को

और भूआ को भगवान् ने अभिवादन किया, पश्चात् देह के धर्मवालियों के कृत्य को कहते हैं— स्त्रीपन, एक ही गृह और गोत्र आदि से सब एक भाववाली होने से वृद्धाओं के नमस्कार में भी अन्यों के देह धर्म का सम्बन्ध आ गया, अर्थात् सबसे यथोचित अभिवादन हुआ कृष्णा (द्रोपदी) और भगिनी (सुभद्रा) और "च" पद से अन्यों ने भी भगवान् को अभिवादन किया ।।४१।।

आभास—ततो भगवत्पत्नीनां पूजामाह **श्वश्र्वेति** ।

आभासार्थ—भगवान् की पत्नियों की पूजा "श्वश्र्वा" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**श्वश्र्वा संचोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीस्तु सर्वशः ।**
आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ।।४२।।
कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैव्यां नाग्नजितीं सतीम् ।

श्लोकार्थ—सास की प्रेरणा से द्रौपदी ने रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, शैव्या, नाग्नजिती आदि सब कृष्ण की स्त्रियों का यथाविधि पूजन किया ।।४२½।।

सुबोधिनी—पृथया संप्रेषिता **कृष्णा** । सर्वशः सर्वप्रकारेण, **कृष्णपत्नीरर्चयामास** । तुशब्देन न्यूनाधिकभावेन पूजा निवारिता । समुदायेन पूजां निवारयितुं प्रत्येकं नामान्याह **रुक्मिण्यादि**-पदैः । **सत्या** सत्यभामा, **शैव्या** लक्ष्मणा, नाग्न-जित्येव **सती** सत्या । एवमष्टमहिष्यो नाम्ना निरूपिताः ।।४२½।।

व्याख्यार्थ—पृथा ने द्रोपदी को पूजा के लिए, भेजा, उसने आकर सर्व प्रकार से कृष्ण की स्त्रियों का पूजन किया 'तु' शब्द का यह भाव है कि सबकी समान रूप से पूजा की न्यूनाधिक भाव न किया, वह पूजन प्रत्येक का पृथक् पृथक् किया न सबका इकट्ठा कर दिया, इसलिए प्रत्येक के नाम दिये हैं रुक्मिणी, सत्यभामा, भ्रदा जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा, नाग्नजिती ही सती (सत्या) है, इस प्रकार अष्ट पटरानियों के नाम कहे जिनकी पूजा द्रौपदी ने सर्व प्रकार से की है ।।४४½।।

आभास—षोडशसहस्राण्यवशिष्टानि एकभावापन्नत्वात् समुदायेनाह **अन्याश्चेति** ।

आभासार्थ—शेष षोड़श सहस्र रह गई, वे एक-भाव् वाली है अतः उनका नाम न कहकर समुदाय से उनका पूजन हुआ वह "अन्याश्च" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःस्रङ्मण्डनादिभिः ।।४३।।**

श्लोकार्थ—अन्य स्त्रियाँ भी जो आई थीं, उनका वस्त्र, माला और आभूषणादि से पूजन किया ।।४३।।

सुबोधिनी—किं बहुना प्रद्युम्नादिपत्न्योपि याः काश्चन समागताः ताः सर्वा **एव वासःस्रङ्-मण्डनादिभिः** आनर्चेतिसंबन्धः ।।४३।।

व्याख्यार्थ—बहुत कहने से क्या ? भगवान् की षोड़श सहस्र पत्नियों के अतिरिक्त जो कोई प्रद्युम्न आदि की स्त्रियां भी आई थीं उनका सबका ही वस्त्र, माला और आभूषणादि से पूजन किया ।।४३।।

आभास—तात्कालिकं पूजाविशेषमुक्त्वा राज्ञः स्थिरं कृत्यमाह **सुखं निवास-यामासेति** ।

आभासार्थ—उस समय की पूजा विशेष का वर्णन कर, राजा के स्थिर कृत्य को "सुख निवा-सयामास" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।**
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ।।४४।।

श्लोकार्थ—धर्मराज भी भगवान् को तथा उनकी सेना, अनुचर और रानियों को प्रतिदिन नवीन प्रकार से सुख पूर्वक निवास कराने लगा ।।४४।।

सुबोधिनी—वस्तुतस्तु सुखरूपं भगवन्तं स्थापयित्वा स्वयं सुखी जात इत्यर्थः । **जनार्दन-मविद्यानाशकम्** । यथैव भगवतो मनःप्रीतिर्भवति तथा स्थापितवान् । न केवलं भगवतः किंतु सर्वेषामित्याह **ससैन्यमिति** । भगवतश्चत्वार्यङ्गानि सैन्यं सेवकाः **अमात्या भार्याश्चे**ति । तत्सहितं प्रत्यहं **नवं नवं** यथा भवति ।।४४।।

व्याख्यार्थ—सचमुच तो सुखरूप भगवान् को अपने पास स्थापित करने से राजा स्वयं सुखी हुआ, "जनार्दन" नाम से बताया कि भगवान् अविद्या का नाश करने वाले हैं, जिस प्रकार भगवान् का मन प्रसन्न हो उसी प्रकार भगवान् को स्थापित किया, केवल भगवान् को इस प्रकार स्थापित नहीं किया, किन्तु सबको अर्थात् भगवान् के चारों अंग सैन्य, सेवक, अमात्य और स्त्रियां, इनके साथ हर रोज जैसे-जैसे नवीनता देखने में आवे वैसे सुख पूर्वक सबको विराजमान किया ।।४४।।

आभास—एवं सर्वभावेन सेवायां क्रियमाणायां लौकिकधर्माभिनिविष्टे राजनि भगवता यत्कृत्यं तदाह तर्पयित्वेतिद्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्वभाव से सेवा करने पर लौकिक धर्मयुक्त राजा के लिए जो कृत्य भगवान् ने किया वह "तर्पयित्वा" से दो श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक—**तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ।**
मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ।।४५।।

श्लोकार्थ—भगवान् अर्जुन को साथ लेकर,अग्नि को खाण्डव वन का भोजन देकर उसको प्रसन्न किया और मय को छुड़ाया, जिससे राजा के लिए अलौकिक सभा बनाई ।।४५।।

सुबोधिनी—देवेष्वग्निः प्रधानभूत इति **खाण्डवेन** तमादौ तर्पयामास । दैत्याधिपतिं **मयं** च मोचयामास । एवं देवासुररूपाणीन्द्रियाणि स्वाधिदैविकतर्पणेन तृप्तानि सन्ति युधिष्ठिरं सर्वथा लौकिकवैदिकभावेन तर्पयिष्यन्ति । दैत्यभागस्य शीघ्रफलत्वज्ञापनाय मयकृतोपकारमाह **येन** मयेन **राज्ञे दिव्या सभा कृते**ति । क्त्वाप्रत्ययान्तयोः उवासेत्यनेन संबन्धः ।।४५।।

व्याख्यार्थ—देवों में अग्नि देव मुख्य देवता है, इसलिए भगवान् ने प्रथम उस देव को खाण्डव वन का भोजन दिया जिससे वह प्रसन्न हुआ और मय देव को बचाया, जिस मय ने राजा के वास्ते अलौकिक सभा बनाई इस प्रकार देव और असुर रूपी इन्द्रियां अपने आधिदैविक की प्रसन्नता से प्रसन्न हैं, अतः वे लौकिक वैदिक भाव से युधिष्ठिर को प्रसन्न करेंगी अर्थात् तृप्त करेंगे, दैत्य शीघ्र प्रसन्न होते हैं अतः वे शीघ्र फल दे देते हैं, जैसे मय असुर को छुड़ाकर प्रसन्न किया तो उसने शीघ्र ही सभा बनाकर फल देके कृतज्ञता प्रकट की है, 'क्त्वा' प्रत्यय के अन्त वाले शब्दों का "उवास" पद से सम्बन्ध है ।।४५।।

आभास—न केवलं कृत्यैव तं सुखीचकार किंतु स्थित्यापीत्याह **उवासेति** ।

आभासार्थ—केवल अपने कृत्यों से उसको सुखी नहीं किया किन्तु वहां विराजमान होकर भी प्रसन्न किया यह "उवास" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**उवास कतिचिन्मासान्राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।**
विहरन्रथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ।।४६।।

श्लोकार्थ—अर्जुन के साथ रथ में विराजकर, योद्धाओं को साथ में लेकर, विहार करते हुए भगवान् राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से कितने ही मास वहाँ इन्द्रप्रस्थ में बिराजे ।।४६।।

सुबोधिनी—**कतिचिन्मासा**निति कार्यान्तरमकृत्वा राज्ञः प्रियार्थं निरन्तरं राजसन्निधान एवोवास मासचतुष्टयमिति विमर्शः भगवतः शयनकाल एव तादृश इति । निर्बन्धेन स्थितिं वार-

यति **विहरन् रथमारुह्य**ेति । तत्रत्यान् स्वकीयांश्च प्रीणयन्निति वक्तुं **फाल्गुनेन भटैर्वृत** इत्युक्तम् । फाल्गुनस्तत्रत्योपलक्षकः । **भटाः** स्वकीयाः उभयैर्वृतः । वेष्टनेन निरन्तरं **सर्वेषां** सुखदानं निरूपितम् ।।४६।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे द्वाविंशाध्यायः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—कितने मास अर्थात् चार महिने अन्य कोई कार्य न कर राजा को प्रसन्न करने के लिए राजा के पास ही विराजने लगे, ये चार मास भगवान् के पोढने का समय हैं, क्या वहां आग्रह से बन्धन में रहे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं "विहरन् रथमारुह्य" रथ में बैठकर विहार भी करते रहे,न केवल राजा को ही प्रसन्न करते थे किन्तु वहां के निवासी तथा जो अन्य अपने थे उन सबको भी प्रसन्न करते थे जैसे कि "फाल्गुनेन भटैर्वृत" अर्जुन और योधाओं को भी साथ में लेकर विहार करते थे,फाल्गुन शब्द से वहां वाले सब कहे और भट शब्द से स्वकीय अर्थात् अपने कहे साथ में लेने से बताया है कि सबको निरन्तर सुख दान करते थे ।।५६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध २२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस तथा अगले अध्याय में वर्णित भगवल्लीलाओं का निम्न पद से मनन करने को विनम्र प्रार्थना है

राग मारू

चले हरि धर्म सुवन के देस ।
संतन हित भू भार उतारन, काटन बंदि नरेस ।।
जब प्रभु जाइ संख धुनि कीन्ही, होत नगर परवेस ।
सुनि नृप बंधु सहित उठि धाए, झारत पद रज केस ।।
आसन दै भोजन विधि पूछी, नारद सभा सुदेस ।
तच्छन भीम धनंजय माधौ, धरचौ विप्र कौ भेस ।।
पहुँचे जाइ राजगिरि द्वारें, घुरे निसान सुदेस ।
मांग्यौ जुद्धहिं जरासिंधु पै, छत्री कुल आवेस ।।
जरासंध कौ जुद्ध अर्थ, बल रहत न छत्री लेस ।
सूरज प्रभु दिन सात बीस मैं, काटे सकल कलेस ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ७२वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६९वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २३वाँ अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—२"

पाण्डवों के राजसूय यज्ञ का आयोजन और जरासन्ध का उद्धार
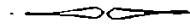
कारिका—निरोधः सात्त्विकानां हि सगुणानां निरूपितः ।
धर्मप्रसङ्गे शुद्धानां तेषां दुःखं निवार्यते ॥१॥

कारिकार्थ—सगुण सात्विकों के निरोध का निरूपण किया,(अब)यज्ञ के प्रसङ्ग में उन शुद्ध हुए सात्विकों का दुःख निवारण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**त्रयोविंशे जरासंधवधः क्लेशहरो महान् ।
निरूप्यते यतः सर्वसात्त्विकाः सुखिनोऽभवन् ॥२॥**

कारिकार्थ—मूल से उत्तरार्ध के इस२३वें अध्याय में अर्थात् सात्विक साधन उप-प्रकरण के दूसरे अध्याय में जरासन्ध का वध कहा जाएगा । जो वध महान् क्लेश को मिटाने वाला होगा, जिससे सब सात्विक सुखी होंगे ॥२॥

कारिका—**त्रिविधाः सात्त्विकाः प्रोक्ता राजानो यादवास्तथा ।**
पाण्डवाश्च ततस्तेषु द्वयोरिष्टो वधः स्फुटः ।।३।।

कारिकार्थ—सात्विक तीन प्रकार के हैं-(१) राजा, (२) यादव और (३) पाण्डव; इन तीनों में से दो को जरासन्ध का नाश इष्ट है, यह स्पष्ट समझ में आता है ।।३।।

कारिका—**पाण्डवानामिष्टतायै प्रसङ्गोऽप्यत्र रूप्यते ।**
भक्तानां कर्मिणां चेत्स्यादिष्टं मागधनाशनम् ।।४।।
तदैव नाशनं युक्तं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ।
ब्राह्मणस्याप्यालभनं यज्ञार्थं हि निरूप्यते ।।५।।

कारिकार्थ—पाण्डवों के इच्छित की पूर्ति के लिए यहाँ प्रसङ्ग का भी निरूपण किया जाता है, भक्त और कर्मठों को भी यदि जरासन्ध का वध इष्ट हो, तब ही तो दयावान् और ब्रह्मण्य का वध करना उचित है । वेद ने यज्ञ के लिए ब्राह्मण का भी नाश निरूपण किया है ।।४-५।।

कारिका—**ब्रह्मण्ये तत्र को मर्षः क्षत्रिये विमुखे हरेः ।।**

कारिकार्थ—हरि के विमुख ब्रह्मण्य क्षत्रिय के (फिर) मारने में कौनसा दोष है ?

।। इति कारिकार्थं सम्पूर्ण ।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते स्वगृहे भगवन्तं सुखेन स्थापितवानित्युक्तम् । ततो यदर्थं स्थापनं तद्विज्ञापनार्थं प्रसङ्गमाह **एकदा त्विति** द्वाभ्याम् । साधारणासाधारणसंबन्धि-सहभावभेदात् ।

आभासार्थ— पूर्व अध्याय के अन्त में कहा कि महाराजा युधिष्ठिर ने भगवान् को अपने गृह में सुख पूर्वक विराजमान किया, पश्चात् जिस कार्य के लिए घर में स्थापित किया, उसकी प्रार्थना करने के लिए प्रसङ्ग को 'एकदा' श्लोक से दो श्लोक में कहते हैं, दो श्लोकों में कहने का भावार्थ यह है, जो कार्य कहता है वह साधारण और असाधारण सम्बन्धि भाव से दो प्रकार का है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।**
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ।।१।।
आचार्यैः कुलवृद्धैश्च ज्ञातिसंबन्धिबान्धवैः ।
शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ।।२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि एक दिन महाराजा युधिष्ठिर मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, भ्राता, आचार्य, कुलवृद्ध, ज्ञाति-सम्बन्धी बान्धवों से वेष्टित हुआ बैठा था, फिर सभा के बीच खड़ा हो, वहाँ बैठे हुए सर्व सभासदों को सम्बोधन कर यों कहने लगा ॥१-२॥

सुबोधिनी—एकान्ते विज्ञापनमभिमाननिवर्तकं न भवतीति संभावनायां सर्वसंनिधानं निरूप्यते। **एकदा** शुभलग्ने, तुशब्दः कालान्तरसंनिधानं वारयति। **आस्थित** उत्थितः। धर्मार्थमेव विज्ञापनमिति ज्ञापयितुमादौ **मुनीनां** सहभावः। अन्ये साधारणा **ब्राह्मणाः** त्रयो वर्णाः क्रमेण निरूप्यन्ते। शूद्रस्तु यज्ञे अनवक्लृप्तः। **भ्रातरो** भीमादयः, चकाराद्दुर्योधनादयश्च ॥१॥

आचार्या द्रोणादयः, **कुलवृद्धाः** भीष्मादयः, ज्ञातयोन्ये गोत्रजाः। **संबन्धिनो** विवाह्याः। **बान्धवा** दूरस्थाः सर्व एव। तद्द्वारा तत्स्त्रीणामभ्यनुज्ञा सिद्धेति न कस्यापि परोक्षता। सर्वे सावधानाः शृण्वन्त एव स्थिताः। **एवकारेण** व्यासङ्गो निवार्यते चकारेणानुद्दिष्टनामपि। **आभाष्य** हे कृष्ण स्वामिन्नित्युक्त्वा। एवमभिमानपरित्यागः आश्चर्यायेति हेत्युक्तम् ॥२॥

व्याख्यार्थ— युधिष्ठिर ने सभा के मध्य में सबके सामने यज्ञ करने की भगवान् को प्रार्थना की, इससे उसने अपना निरभिमानत्व प्रकट किया है, यदि अभिमान होता तो एकान्त में प्रार्थना करता, 'एकदा' पद से वह प्रार्थना का समय शुभ लग्नवाला था, यह सूचन किया है 'तु' शब्द से अशुभ काल के सानिध्य का भी निषेध करते हैं, यह प्रार्थना धर्म कार्य के लिये थी। इसे बताने के लिए प्रथम मुनियों का साथ कहा है, दुसरे साधारण ब्राह्मण आदि तीन वर्ण क्रम से निरूपण किए गए है। शूद्र तो यज्ञ में अनधिकारी हैं 'भ्राता' पद से भीम आदि कहे हैं और च शब्द से दुर्योधनादि भी कहे हैं ॥१॥

'आचार्य' पद से द्रोण आदि कहे, कुल वृद्ध पद से भीष्म आदि कहे, 'ज्ञाति' पद से दूसरे जो गोत्र में उत्पन्न हुवे बान्धव हैं। 'बन्धिना' पद से वे कहे है जिनसे कन्या लेनदेन का सम्बन्ध है, 'बान्धव' पद से दूर के जो सम्बन्ध वाले हैं उनको कहा है, उनसे आज्ञा लेने से उनकी स्त्रियों की भी आज्ञा मिल गई यों समझना चाहिए, जिससे किसी की परोक्षता नहीं रही, सब सावधान हो सुनने लगे 'एव' पद कह कर बताया है कि दूसरी किसी प्रकार की आसक्ति नहीं थी, 'च' पद से जिनका प्रत्यक्ष नाम नहीं कहा हैं वे भी सावधान हो सुन रहे थे। आभाष्य का भावार्थ प्रकट करते हैं कि हे कृष्ण ! हे स्वामिन् ! यों कह कर अपनी सब दीनता दिखाई है, 'ह' पद से आश्चर्य प्रकट किया है ॥१॥

आभास—विज्ञापनामाह क्रतुराजेनेति।

आभासार्थ— 'क्रतुराजेन' श्लोक से प्रार्थना कहता है।

श्लोक—युधिष्ठिर उवाच—क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः।
यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्संपादय नः प्रभो ॥३॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने कहा कि हे गोविन्द ! सब यज्ञों का राजा जो राजसूय यज्ञ है, उससे मैं आपकी पवित्र विभूतियों का पूजन करूँगा, अतः हे प्रभो ! इस कार्य को आप सिद्ध करो ।।३।।

सुबोधिनी—**गोविन्देति** संबोधनमिन्द्र एव यष्टव्य इति मर्यादास्थापनार्थम् । यथा राजा पुरुषाणां तथा राजसूयो यज्ञानामिति **क्रतुराज-त्वम्** । यद्यपि नारदेन त्वां यक्ष्यतीत्युक्तं तथापि सर्वरूपस्य परिच्छेदः समायातीति भगवदंशानामेव विभूतिरूपाणां देवानां यागं निरूपयति **पावनीस्तव विभूतीर्यक्ष्य** इति । **पावनीरि**त्याधिदैविकीः दैत्यसंबन्धव्यावृत्त्यर्थं वा । **तत्**तस्मात् तद्वा यजनं **नोस्माकं संपादय** । सामर्थ्याय संबोधनम् ।।३।।

व्याख्यार्थ— 'गोविन्द' नाम से यह सूचन किया है कि इन्द्र ही यज्ञ में पूजनीय है, आप इन्द्र हैं इसलिए अन्य का पूजन मैं नही करता हूं । यज्ञ में तो दूसरे देवों का भी पूजन करना पड़ेगा ? जिसके उत्तर में कहता है कि, यद्यपि नारद ने कहा है कि 'त्वां यक्ष्यति' आपका पूजन करेगा तो भी आपके पूजन कहने में आपके सर्वरूपों का पूजन कहा गया है । इसलिए आपके अंशरूप पवित्र विभूति रूपों का ही पूजन करूंगा, यों कह कर अन्य पूजन का निषेध कर दिया । अर्थात् 'पावनी' पवित्र शब्द से आधिदैविकी विभूतियों का पूजन कहकर दैत्य सम्बन्ध की निवृत्ति कही है, जैसे मनुष्यों का राजा सम्राट कहा जाता है वैसे ही यह राजसूय यज्ञों का राजा है इसलिए 'क्रतुयज्ञ' कहा है इस कारण से यह यज्ञ का मेरा कार्य आप सिद्ध करो, क्योंकि आप प्रभु होने से सर्व समर्थ हैं ।।३।।

आभास—ननु भगवद्भक्ता न किंचन वाञ्छन्ति 'पुंसां किलैकान्तधियाम्' इति शास्त्रानुसारेणापि भगवदीयानां कार्यसिद्धिः तत्कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्याह **त्वत्पादुके** इति ।

आभासार्थ— भगवद्भक्त तो कुछ मांगते ही नहीं है क्योंकि 'पुंसां किलैकान्तधियाम्' इस प्रमाणानुसार उनकी कार्य सिद्धि स्वतः हो जाती है तो फिर प्रार्थना क्यों ? जिसका उत्तर त्वत्पादुके श्लोक में देता है ।

श्लोक—**त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति**
ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।
विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-
माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ।।४।।

श्लोकार्थ—हे पद्मनाभ ! हे ईश ! जो लोग पवित्र हो, दुःख नाश करने वाले आपकी पादुकाओं का निरन्तर देह से सेवन करते हैं, मन से ध्यान करते है, वाणी

से गुणगान करते हैं व मोक्ष को प्राप्त करते हैं और यदि जिनको संसार के सुख की इच्छा होती है, उनकी वह इच्छा भी पूर्ण होती है, जो यों (सेवा ध्यानादि) नहीं करते हैं, उनको कुछ भी नहीं मिलता है ॥४॥

सुबोधिनी—यद्यपि कायवाङ्मनोभिस्त्वां प्रपन्नाः नैतादृशं वाञ्छन्ति, तथापि यदि वाञ्छन्ति तदा प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तः। तेषां सहजं फलं निरूपयति **ये त्वत्पादुके** भक्तिमार्गानुसारेण **परिचरन्तीति** कायिको व्यापारो निरूपितः। **ध्यायन्तीति** मानसः। चित्तमस्थिरं योगव्यतिरेकेण कथं ध्यानसिद्धिरित्याशङ्कां वारयितुं विशेषणमाह **अभद्रनशने** इति। पापवशादेव चाञ्चल्यम्। ध्यानार्थमुद्यतस्य प्रथमस्मरणेन पापनाशे उत्तरोत्तरस्मरणसिद्धिः, ततः **शुचयो गृणन्ति** तेन कायिकान्यव्यापारनिवृत्तिः सर्वपापक्षयः शुद्धिश्च तेषां प्रसङ्गादुक्ता। अतस्ते **भवस्य** संसारस्या**पवर्गं** समाप्तिं **विन्दन्ति**। ननु कर्मज्ञानाभावे कथं भगवद्भजनमात्रेण प्रमाणाभ्यनुज्ञाभावात् भवापवर्ग इत्याशङ्क्य संबोधनमाह **कमलनाभेति**। भुवनकोशात्मकं कमलं नाभौ यस्य, एतत् प्रवर्तित एव सर्वोऽपि संसार इति एतत्परिचर्यायां न प्रमाणाभ्यनुज्ञापेक्षेति भावः। **ते** यदि बहिर्मुखाः सन्तः बालपुत्र**वदाशिष आशासते** लौकिकीर्वैदिकीर्वा तदा त एव **विन्दन्ति**। अन्ये तु कर्मादिभिः क्लृप्तमेव प्राप्नुवन्ति नाक्लृप्तमिति भावः। 'एकान्तधियाम्' इत्यत्रान्तर्निष्ठा एव गृहीता इति न विरोधः। प्रथमप्रवृत्तस्यैव धनादिहरणमन्यथा सर्वसेव्यता न स्यात् ॥४॥

व्याख्यार्थ— यद्यपि जो, काया, वाणी और मन से आपकी शरण आते हैं वे वैसा कुछ भी नहीं मांगते हैं। यदि मांगते हैं तो पाते हैं यह सिद्धान्त है। उन शरणागतों को जो सहज फल मिलता है उसका निरूपण करते हैं। जो आपके पादुकाओं की भक्ति मार्ग के अनुसार सेवा करते हैं यों कहकर देह का व्यापार बताया, ध्यान करते हैं यह मन का व्यापार कहा, चित्त चञ्चल है। बिना योग के ध्यान की सिद्धि कैसे होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'अभद्रनशने' आपकी पादुकाएं पापों का नाश करने वाली हैं अतः चित्त में जो चञ्चलता है वह पापों के कारण है यदि पाप नाश हो जायँगे तो चञ्चलता स्वतः नष्ट हो जाएगी, जिससे चित्त स्थिर हो जाने से ध्यान कर सकेगा। ध्यान करने के लिए जो उद्यत होता है उसके प्रथम स्मरण से पाप नाश हो जाने से उत्तरोत्तर स्मरण की सिद्धि होती है, यों वे पवित्र होकर देह, मन और वाणी से सर्व परिचर्या करते हैं जिससे कायिकादि से होने वाले अन्य कार्य छूट जाते हैं। उनके सर्व पापों का नाश और उनकी शुद्धि भी हो जाती है यह प्रसङ्ग से कह दिया है, अतः वे संसार की समाप्ति को प्राप्त करते हैं। अर्थात् उनका जन्म मरण का रोग नष्ट हो जाता है। कर्म और ज्ञान के अभाव में के केवल भगवद्भजन से प्रमाण न होने पर संसार से आवागमन निवृत्त कैसे होगा ? जिसके उत्तर में कहा कि आप कमलनाभ हैं, आपकी नाभि में भुवन कोश रूप कमल है, इसके प्रवृत्त होने से ही समग्र संसार प्रवृत्त होता है, इनकी सेवामें प्रमाण और आज्ञा की अपेक्षा नहीं है, यदि वहिर्मुख भी हो जावे किन्तु छोटे (अज्ञानी, मूर्ख) पुत्र की भाँति लौकिकी अथवा वैदिकी आशीर्वाद चाहते हैं तो वे भी प्राप्त कर सकते हैं, दूसरे तो कर्म आदि से स्वल्प ही पाते हैं न कि पूर्ण फल पा सकते हैं। 'ऐकान्तधियां' श्लोक में अन्तर्निष्ठा ही ग्रहण की गई है, इसलिए उससे भी विरोध नहीं पड़ता है।

तो भक्तिमार्ग में प्रविष्ट होता है उसका ही भगवान् धन आदि हरण करते हैं, यदि सर्व का हरण हरें तो सर्वदा सब सेवा नहीं कर सकें ॥४॥

आभास—ततो लोके ये स्वोत्कर्षं वाञ्छन्ति भक्ताः सन्तः भक्तिमार्गोत्कर्षार्थं वा तेषामानुगुण्यं भगवता कर्तव्यमित्याह **तद्देवदेवेति** ।

आभासार्थ— लोक में, जो भक्त होके भी अपना उत्कर्ष चाहते हैं अथवा भक्ति मार्ग के उत्कर्ष के लिये अपना उत्कर्ष चाहते हैं उनकी इस इच्छा को पूर्ण करना, भगवान् का कर्त्तव्य है यह 'तद्देवदेव' श्लोक में युधिष्ठिर कहता है ।

श्लोक—**तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-**
सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एषः ।
ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां
निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥५॥

श्लोकार्थ—इसलिए हे देवों के देव ! आपके चरणारविन्द की सेवा का प्रभाव यह जगत् देखे, जो (पाण्डव) आपका भजन करते हैं और जो (कौरव) आपको नहीं भजते हैं, उन दोनों की निष्ठा का फल दिखलाईये ॥५॥

सुबोधिनी—तथापि कस्यचिद्वधं सर्वात्मा न करिष्यतीत्याशङ्क्य संबोधनं हे **देवदेवेति** । अनेन दैत्यवधोभिप्रेत इति सूचितम् । **तत्त**स्मात्कारणात् । अस्योत्कर्षस्य केवलबहिर्मुखविषयत्वादयुक्तकथनत्वमाशङ्क्य लोकप्रतीत्यर्थतामाह **भवतश्चरणारविन्दसेवानुभावमिह लोकः पश्यत्विति।** ननु राज्यवद्राजसूयसिद्धावपि कथमेतद्भक्तस्यैव नान्यस्येति ज्ञायते तत्राह **ये त्वां भजन्तीति** । **ये** पाण्डवादयस्**त्वां भजन्ति** ये वा शिशुपालदुर्योधनजरासंधादयः **त्वां न भजन्ति** तेषामु**भयेषां निष्ठां** फलपर्यवसानं त्वमेव **दर्शय** । मरणमानभङ्गवञ्चितत्वादयः विमुखेषु, कीर्तिधनधर्मादयः सेवकेष्विति । तान् सर्वान् सङ्क्षेपतो निर्दिशति **कुरुसृञ्जयानामिति** । सृञ्जयवंशः द्रुपदस्य, अतस्तत्पक्षपातेन पुष्टा इति कुर्वाख्यातिं परित्यज्य पाण्डवाः सृञ्जयाख्यातिमेव मन्यन्ते । तेन कौरवाः धार्तराष्ट्राः विमुखाः, सृञ्जयाः पाण्डवा भक्ता इति । अनेन स्वस्य मात्सर्याभिनिवेशः सूचितः ॥५॥

व्याख्यार्थ— भगवान् सर्व की आत्मा होने से वध नहीं करेंगे, ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिये श्लोक में भगवान् का संबोधन 'हे देवदेव' ! दिया है, अर्थात् आप देवों के अधिदेव हैं न कि दैत्यों के अधिदेव हो अतः आप दैत्यवध कर सकते है, युधिष्ठिर को यही अभिप्रेत था इसलिए ऐसा सम्बोधन दिया है । इसी कारण से, यह उत्कर्ष केवल बहिर्मुखों का विषय होने से, यह कथन उचित नहीं ऐसी शङ्का को मिटाने के लिये कहता है यों करना लोक प्रतीति के लिये है, अर्थात् लोग, आपके चरणारविन्दकी सेवा का प्रभाव देखें ।

राज्य की तरह राजसूय की सिद्धि भी होगी यह भक्त की ही हो, अन्य को नहीं यह कैसे जाना जाए ? इसके उत्तर में कहता है, जो पाण्डवादि आपका भजन करते हैं, और जो शिशुपाल दुर्योधनादि आपको नहीं भजते हैं, उन दोनों की निष्ठा अर्थात् अन्तिम क्या होगा ? यह आपही दिखाईये ? जो विमुख हैं अर्थात् प्रभु को नहीं भजते हैं उनको मरण, मानभङ्ग और ठगा जाना आदि फल प्राप्त होगा, और जो प्रभु के सेवक हैं उनको कीर्त्ति, धन और धर्मादि की 'प्राप्ति होगी' इन सबका संक्षेप में निर्देश करता है, सृञ्जय वंश द्रुपद का है अतः उसके पक्षपात से पुष्ट हुवे पाण्डव कुरुवंश से अपनी प्रसिद्धी को त्याग कर सृञ्जय वंश से अपनी प्रसिद्धी स्वीकार करते हैं इससे वे धृत्तराष्ट्र के पुत्र कौरव प्रभु से विमुख हैं और सृञ्जय अर्थात् पाण्डव भक्त हैं, यो कहकर अपने में मत्सरता का अभिनिवेश है यह सूचित किया है ॥५॥

आभास—नन्वेतदल्पदेवानां परिच्छिन्नमतीनामेव कार्यं न ममेत्याशङ्क्य, सत्यं परं भक्तानुरोधेन कर्तव्यमिति प्रार्थयन्नाह **न ब्रह्मणः** इति ।

आभासार्थ— यदि भगवान् कहदें कि यह परिच्छिन्नमति वाले देवों का कार्य है, मेरा नहीं है, तो इसके उत्तर में कहता है कि आपका कहना सत्य है, किन्तु यह कार्य भक्तों के अनुरोध से करना चाहिये, यों 'न ब्रह्मण': श्लोक में प्रार्थना करता है—

श्लोक—**न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्**
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥६॥

श्लोकार्थ—आप परब्रह्म हैं, जिससे आप समान दृष्टिवाले, स्वसुख को अनुभव करने वाले हैं, अतः आपको यह अपना, यह पराया; ऐसी मति नहीं है, किन्तु जैसे कल्पवृक्ष, अपने सेवकों के इच्छित कार्य पूर्ण करता है, वैसे आप भी चरणाश्रितों के मनोरथ पूर्ण करते हैं, इससे आप में विषमता, दोष नहीं आता है, उनको जो फल मिलना है, वह सेवा के अनुरूप ही मिलता है, इसमें कभी अन्तर नहीं पड़ता है ॥६॥

सुबोधिनी—भगवान् स्वार्थं चेत्कुर्यात्तदैवं कुर्यात्, अन्यार्थत्वे त्वन्यच्छानुसारेणैव कर्तव्यम् । अन्यथा भगवतः पुरुषार्थसाधकत्वं न स्यात् । प्रथमपक्षमङ्गीकृत्याह **तव ब्रह्मणः** सर्वात्मस्य यद्यपि **स्वपरभेदमति**र्नास्ति तथापि **तव** वा । स्वपरभेदमतिः त्रिविधानां भवति ये देहात्मभावेन परिच्छिन्नाः ततो भोगसिद्ध्यर्थं विषयेषु विषमदृष्टयः ततो विषयसुखभोक्तारः । भगवांस्तु नैवंविध इति विशेषणत्रयं, **सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेरि**ति । अन्यार्थत्वे तु तत्त्वे एतादृश-

मिति । **सुरतरुः** स्वभावत एव तथा । तथा भगवानपि, भगवद्धर्माभिव्यक्तिरेव सर्वत्रेति स धर्मोऽस्मदर्थे प्रकटीकर्तव्य इति भावः । धर्मिणि तु दोषो न भविष्यति धर्मानुरोधे, अतः **सेवानुरूपमुदयोस्तु** । अतोत्र धर्मिसंबन्धाभावान्न **विपर्ययः** ॥६॥

व्याख्यार्थ— भगवान् यदि अपने लिये करे तो यों (वध आदि) न करें, यदि दूसरों के लिए करना पड़े तो दूसरों की इच्छा के अनुसार ही करना चाहिये, अर्थात् करना पड़ता है, यदि न किया जाय तो कहा जाएगा कि भगवान् में पुरुषार्थ सिद्ध करने का बल नहीं है। पहला पक्ष अङ्गीकार कर कहता है कि सर्व में समान दृष्टि वाले आप ब्रह्म को यह अपना है और यह पराया है ऐसी बुद्धि नहीं है तो भी भक्तों के अनुरोध से यों होना पड़ता है यों हो जाने में विधि नहीं है। अपना और पराया ऐसी भेद बुद्धि तीन प्रकार के पुरुषों की होती है १— जो देह को आत्मा समझ परिच्छिन्न बुद्धि वाले होते हैं २— जो विषय सुखों को भोग करने वाले हैं, ५— जो भोग को सिद्ध करने के लिये विषयों में विषय बुद्धि वाले हैं, भगवान् तो वैसे नहीं हैं, इसलिये ही भगवान् के तीन विशेषण कहे हैं, १— सर्व की आत्मा २— सर्वमें समान दृष्टि वाले ३— अपने आनन्द का ही अनुभव करने वाले, ऐसे गुणोंवाले भी दूसरों के हित के लिये विषम कार्य करते हैं दृष्टान्त देकर समझाता है कल्पवृक्ष अपने सेवकों के मनोरथ कैसे भी हों तो पूर्ण कर देता है जिससे कल्पवृक्ष में विषमतादि दोष नहीं आता है क्योंकि कल्पवृक्ष का स्वभाव ही दूसरों का अभीष्ट पूर्ण करना है, वैसे ही आप भगवान् भी हैं, सर्वत्र भगवान् के धर्म का ही प्राकट्य होता है, वह धर्म हम लोगों के लिए भी प्रकट करना चाहिये धर्मानुरोध में धर्मी में कोई दोष न आएगा, अतः सेवा के अनुरूप ही उदय होना चाहिये, अतः यहाँ धर्मी के सम्बन्ध के अभाव होने से किसी प्रकार उलट फेर न होगा ॥६॥

आभास—भगवांस्तु तेन स्वान्तरो दोषो निरूपित इति संतुष्टः सन् चिकीर्षितस्य गुणरूपत्वं वदन्नभिनन्दति **सम्यग्व्यवसितं राजन्नि**ति ।

आभासार्थ— उसने अपना आन्तर दोष निरूपण किया, जिससे भगवान् प्रसन्न हुवे, अब युधिष्ठिर की जिस यज्ञ करने की इच्छा है, उसका गुणरूपपम् कहते हुए उसका अभिनन्दन 'सम्यग्' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवा—**सम्यग्व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्षण ।**
कल्याणी येन ते कीर्तिर्लोकाननुभविष्यति ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे राजन् ! तुम्हारा यह उद्यम उत्तम है, हे शत्रुकर्षण ! यज्ञ करने से कल्याण रूप तुम्हारी कीर्ति का लोग अनुभव करेंगे ॥७॥

सुबोधिनी—प्रकारान्तरेण नेष्टं सिद्ध्यतीति। **राजन्नि**ति संबोधनात् राज्ञो बहिर्मुखता युक्तेति सूचितम् । **तत्रा**पि स्वराज्यपरिपालनमात्रतायां तथा न भवेदिति विशेषणान्तरं **शत्रुकर्षणे**ति ।

एवं कृते धर्मभगवत्प्रीत्यादेरभावात् यत्फलं तादृशीं कल्याणी येन ते कीर्तिरिति । वध-जयादिनापि कीर्तिर्भवति परं सा न कल्याणी पुष्टा च भविष्यतीत्याह लोकाननुभविष्यतीति । 'यशःश्रियामेव परिश्रमः' इति पक्षो निरूपितः ॥७॥

व्याख्यार्थ— दूसरी तरह अर्थात् यज्ञ किए बिना इष्टकी सिद्धि नहीं होगी, हे राजन् ! इस संबोधन से यह सूचन किया है कि राजा की बहिर्मुखता उचित है, उसमें भी केवल अपने राज्य का पालन करने से यों न हो सके, तो इसलिये दूसरा विशेषण देते हैं कि हे शत्रुकर्षण ! राजा शत्रुओं को भी नाश करते हैं, यों कहने का सारांश यह है कि राजा लोग राज्य के पालन के साथ शत्रुओं को भी नाश करते रहते हैं जिससे वे धर्म और भगवत्प्रीति आदि में रुचि नहीं कर सकती हैं। अतः वे बाहिर्मुख रहते हैं, यद्यपि जय और शत्रुओं के नाश से भी कीर्ति हो सकती है किन्तु यह कल्याणकारी नहीं है, अतः अब तुमने जो धर्म (यज्ञ) कार्य उद्यम किया है, इससे तेरी कल्याणी और पुष्ट अर्थात् स्थिर कीर्ति का लोग अनुभव करेंगे, 'यशः श्रियमिव परिश्रमः' इस पक्ष का निरूपण किया है।

आभास—अन्येनापि धर्मेण यशो भवति तथापि राजसूय एव कर्तव्य इति प्रारिप्सितं स्तौति ऋषीणामिति ।

आभासार्थ— अन्य धर्म से भी यश होता है तो भी राजसूय यज्ञ ही करना चाहिये, इसलिये जिनके करने की इच्छा कर उद्यम किया है उनकी 'ऋषीणां' श्लोक से भगवान् स्तुति करते हैं।

श्लोक—ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभोः ।
सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥८॥

श्लोकार्थ—ऋषि, देव पितर, सुहृद, प्रभु तथा मनुष्य मात्र को यह यज्ञों का राजा सोमयाग इच्छित है अर्थात् चाहते हैं कि यह यज्ञ हो ॥८॥

सुबोधिनी—राजसु तथा स्वाध्यायनिष्ठताभावात् राजसूयेनैव ऋषयः प्रीता भवन्ति । राजसूयकर्तुरेव पितर इन्द्रसभायां तिष्ठन्ति, अन्ये तु यमसभायाम् । तथा देवानां साद्यस्कप्रयोगाद् विलम्बाभावाद् विशेषतृप्तिः । सुहृदामपि स्वकीयोत्कर्षहेतुत्वात्, तत्रापि नोऽस्माकमेव न दुर्योधनादीनाम् । प्रभोः कालस्यापि भूभारहरणहेतुत्वात् । उद्धतहननात्सर्वेषामेव भूतानां क्रतुराड् राजसूय ईप्सितः । तत्राप्ययं त्वया क्रियमाणः उत्तमप्रकारत्वान्न तु वरुणादिकृतः ॥८॥

व्याख्यार्थ— ऋषिगण वेदादि स्वाध्याय करने वाले पर प्रसन्न होते हैं, राजा लोगों में उसका अभाव है अतः ऋषियों को प्रसन्न करने के लिये राजसूय यज्ञ करना चाहिये, राजसूय यज्ञ करने वाले नृपति के पितर इन्द्र सभा में बैठ सकते हैं। जो राजा राजसूय यज्ञ नहीं करते हैं, उनके पितर यम सभा में बैठते हैं, वैसे साद्यस्क प्रयोग से यज्ञ करने में विलम्ब न होने से देवताओं की विशेष तृप्ति होती है, अपने उत्कर्ष का कारण होने से सुहृदों को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है, उन सुहृदों में

भी अपने को आनन्द है, न कि दुर्योधन आदि को। 'प्रभोः' काल का प्राकट्य भी भूमि के भार के हरण के लिए हुआ है. उद्धतों के नाश होने से सर्व भूतों को यह क्रतुराज राजसूय का होना इच्छित है, उसमें भी यह राजसूय तुम जिस उत्तम प्रकार से कर रहे हो, वैसा वरुणादि ने नहीं किया ॥८॥

आभास—अतः प्रथममेव आरम्भमकृत्वा स्वाधिकारं संपादयेत्याह **विजित्येति।**

आभासार्थ—अतः यज्ञ के आरम्भ करने से पहले यज्ञ के लिए अधिकार प्राप्त करो, बाद में यज्ञ प्रारम्भ करना। यह 'विजित्य' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे।**
संभृत्य सर्वसंभारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥९॥

श्लोकार्थ—सब राजाओं को जीत, पृथ्वी को वश में कर, सब तैयारी[1] कर महायज्ञ को प्रारम्भ करो ॥९॥

सुबोधिनी—सर्वराजजयाभावे न राजसूयाधिकारः सार्वभौमस्यैवाधिकारात्। यं च लोका न मन्यन्ते तस्यापि नाधिकार इति अत आह **कृत्वा च जगतीं सर्वमेव वशे।** ततो यज्ञ**संभाराः** आदावेव साधनीयाः अन्यथा यज्ञः संभृतो न भवतीति तत्कालसंभरणेन समारम्भे न सर्वः समारब्धो भवेदिति। यथा जनने हस्तपादादयः यद्यपि तदा नोपयुज्यन्ते तथाप्यविकलेनैव भाव्यं तथा संभाराः। तदनन्तरमा**हरस्व।** नित्यमेव भगवद्रूपं हृदयात् प्रतिमायामिव मूलस्थानात्स्वस्मिन्नाहरणं कर्तव्यमिति भावः। 'तमाहरत्तेनायजन्त' इति पृथङ्निर्देशात्। केचिदारम्भमाहरणमाहुः तन्न श्रौतं किंतु महातेजो वह्नेः स्वस्थानादाहरणमेव। महाप्रयत्नहेतुमाह **महाक्रतुमिति** ॥९॥

व्याख्यार्थ—राजसूय यज्ञ करने का अधिकार उसको है जिसने भूमि के सब भूपतियों को जीता है, उनको जीते बिना राजसूय यज्ञ करने का अधिकार नहीं है, अतः प्रथम सब राजाओं को जीतकर तुम सार्वभौम बनकर अधिकारी बनो और सर्व लोगों को अपने वश में करो, यों किए बिना यज्ञ के अधिकारी नहीं होवोगे; ये दो कार्य पूर्ण कर पश्चात् यज्ञ की समस्त सामग्री इकट्ठी करो, जिसके बिना भी यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकेगा, यदि यज्ञ आरम्भ करने के बाद उस समय उपकरण मँगावोगे तो हो नहीं सकेगा, जैसे जन्म के समय ही हस्तपादादि इन्द्रियाँ काम में नहीं आती हैं तो भी वे पूर्ण रीति से गर्भ में ही तैयार हो जाती हैं, वैसे ही यज्ञ की सामग्री भी यज्ञ के कार्य में आवे, उससे पहले ही तैयार कर लेनी चाहिए, उसके बाद यज्ञ को आरम्भ करना चाहिए। जैसे नित्य ही प्रतिमा से भगवत्स्वरूप को अपने चित्त में पधराया जाता है, वैसे ही नित्य मूल स्थान हृदय से भगवद्रूप को अपने में पधराना चाहिए, जिसमें 'तमाहरत्तेनायजन्त' प्रमाण है, अतः इसका पृथक्

१– यज्ञ के लिए सब प्रकार की सामग्री इकट्ठी करके

निर्देश किया है, कितने ही आरम्भ को आहरण कहते हैं, वह श्रौत नहीं है अर्थात् वेद सम्मत सिद्धान्त नहीं है, किन्तु महातेज वह्नि का अपने स्थान से लाना ही सिद्धान्त है। महान् प्रयत्न का कारण कहते हैं कि यह यज्ञ 'महाक्रतु' है ।।९।।

आभास—तत्र दिग्विजये साधनं बोधयति **एते ते भ्रातर** इति ।

आभासार्थ—अधिकार प्राप्त करने के लिए जो दिग्विजय करनी है, उसके साधन 'एते ते भ्रातरः श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—**एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसंभवाः ।**
जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ।।१०।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! ये तुम्हारे भ्राता लोकपालों के अंश से उत्पन्न हुए हैं, अतः ये सबको जीतेंगे । जिन्होंने अपने अन्तःकरण को वश नहीं किया है, वे मुझे जीत नहीं सकते अर्थात् वश नहीं कर सकते, तुमने तो आत्म संयम से मुझे वश कर लिया है ।।१०।।

सुबोधिनी—तव **एते** भीमादि**भ्रातरः लोकपालानां** वाय्यादीनामंशैः **संभवो** येषाम्, अनेन देवानां मनुष्यजयः सुगम इति दिग्विजयो निः-संदिग्धो निरूपितः । अनेनैव जगतीवशीकरणं च सिद्धयति । **राजन्नि**ति संबोधनं भ्रातॄणामपि सेवकत्वात्तज्जये स्वजय एवेति सूचयितुम् । यज्ञावेशस्तु मन्त्रादिना न भवति, भगवद्रूपत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च भगवतः । परमन्येनैवोपायेन यदि भगवान् वशे भवति सोपि तवास्तीत्याह **जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहमि**ति । हृषीकेशो हि भगवान् हृषीकाणामत्यन्तजये जितो भवति तद्रूपः अनेनासिधाराव्रतं कृतमित्यन्यत्र प्रसिद्धम् ।

'सर्वालङ्करणोपेता भार्यैकशयने यदा ।
शेते संवत्सरं पूर्णं स्वयं पुष्टस्तथाविधः ॥
मनसापि न तां वाञ्छेत् स्पृशन्नपि शिलामिव ।
असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महत्' ।।इति।।

इयमेव आत्मवत्ता मर्यादामार्गे । अनेनैव प्रकारेण भगवज्जयः । **अकृतात्मभिर**जितान्तःकरणैः ।।१०।।

व्याख्यार्थ—तुम्हारे ये भीम आदि भाई वायु आदि लोकपालों के अंश से उत्पन्न हुए हैं, इससे देवों के लिए मनुष्यों को जीतना सरल है, यों कह कर यह सूचित किया है कि दिग्विजय में शङ्का ही नहीं है । इस विजय से ही लोगों का वशीकरण भी स्वतः सिद्ध हो जाएगा । 'हे राजन्!' संबोधन से यह बताया है कि छोटे भाई भी सेवक-समान हैं, अतः उनकी जय से अपनी ही जय है, यज्ञ का आवेश मन्त्र आदि से नहीं होता है; क्योंकि यज्ञ भगवद्रूप है और भगवान् स्वतन्त्र हैं, किन्तु अन्य उपाय से यदि भगवान् को वश में किया जाय तो हो सकता है। वह उपाय तुम्हारे पास है जिससे तुमने मुझे जीत (वशकर) लिया है, वह उपाय है—इन्द्रियों को अपने वश में रखना, यह कार्य जिसने किया, उसने मुझे जीत लिया; क्योंकि हृषीकेश ही भगवान् हैं अर्थात् इन्द्रियों के

जीतने वाला इन्द्रियों का स्वामी मैं हूँ, अतः जिसने इन्द्रियों को जीता, वह हृषीकेश होने से मुझे जीतने वाला हुआ। वह उपाय 'असिधाराव्रत' है, वह आपने किया है, यह अन्यत्र प्रसिद्ध है।

'सर्वालङ्करणोपेता भार्यैकशयने यदा। शेते संवत्सरं पूर्णं स्वयं पुष्टस्तथाविधः ॥
मनसापि न तां वाञ्छेत् स्पृशन्नपि शिलामिव। असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महत्' ॥इति॥

जो पुरुष यह असिधाराव्रत करता है, वह विष्णु को प्रसन्न कर वश में कर लेता है। इस व्रत की विधि बताते हैं कि एक ही शय्या पर सर्व प्रकार के शृङ्गारों से सुसज्जित युवती (स्त्री) और वैसा ही सुन्दर बलवान् पुरुष एक वर्ष साथ सोये हों, तो भी उस स्त्री को पत्थर की शिला समझ मन से भी उसकी चाहना न करे, इस प्रकार यह व्रत विष्णु भगवान् को बहुत प्रिय (प्रसन्न) करने वाला है। यह ही मर्यादा मार्ग में आत्मवत्ता है अर्थात् भगवान् को अपना करना है। इस प्रकार से ही भगवान् जीते जाते हैं, जिन्होंने अन्तःकरण को वश नहीं किया है, वे भगवान् को जीत नहीं सकते अर्थात् वश नहीं कर सकते हैं ॥१०॥

आभास—कदाचिज्जयारम्भे भ्रातुः कस्यचिदभिभवे किं कर्तव्यमित्याशङ्कायामाह **न कश्चिदिति**।

आभासार्थ—कदाचित् जय के लिए आरम्भ करते ही किसी भ्राता का अभिभव हो जाय तो क्या करना चाहिए? इस शङ्का का उत्तर 'न कश्चित्' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया।**
विभूतिभिर्वाभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥११॥

श्लोकार्थ—मेरे परायण पुरुष का इस लोक में तेज से, यश से, श्री से अथवा अन्य सम्पत्तियों से देव भी पराभव नहीं कर सकते हैं तो राजा क्या कर सकते हैं? कुछ नहीं ॥११॥

सुबोधिनी—**अहमेव परो** नियन्ता स्वामी यस्य, तं कोप्यभिभवितुं न शक्तः। अभिभवस्त्रेधा भवति विषयातिक्रमेण शरीरातिक्रमेण यशोतिक्रमेण च। ततो विशेषणत्रयं **तेजसा यशसा श्रियेति**। तेजोभिभवे तं विभृयात् मानयेद्वा, यशोभिभवे अकीर्त्या मृत एव, श्रिया अभिभवे मानभङ्गः, साधारणानां त्रयम्। राज्ञां विशेषमाह **विभूतिभिर्वेति**। यथा आरण्यके घोषयात्रायामभिभवार्थमुद्यमः। त्रैलोक्यजयाकाङ्क्षायां त्रिलोकीमपि जीयात् तत्र देवस्यापि जयः प्राप्नोति। तादृशे **देवोपि** तं नाभिभवितुं शक्त इति वाक्यसंभवः। **पार्थिवो** राजा पृथिवीविकारः कथं शक्त इति मत्परत्वान्मज्जयव्यतिरेकेण न तज्जय इति ॥११॥

व्याख्यार्थ—मैं ही जिनका स्वामी चलाने वाला हूँ, उनका परिभव

अपयश होता है जिससे वह मरा ही समझना चाहिये श्री के अभिभव हो जाने पर मान नष्ट हो जाता है, साधारणों के लिए ये तीन प्रकार हैं, राजाओं के लिए विशेष कहते है 'विभूतिभिर्वा' जैसे आरण्यक में घोष यात्रा प्रसङ्ग में अभिभव के लिए उद्यम है, त्रैलोक्य के जीतने की इच्छा से त्रिलोकी को भी जीत जावे, उस जीत में देव भी जीते जाते है वैसे अर्थात् जो मेरे हैं मेरे परायण हैं देव भी (जब) उनको जीतने में समर्थ नहीं है, (तो फिर) पार्थिव, जो पृथ्वी के विकार हैं वे कैसे समर्थ होंगे। जो मेरे परायण हैं वे ही मुझे वश कर सकते हैं अर्थात्, जीत जाते है, बिना मुझे जीतने के उनकी जीत नहीं है अर्थात् जो मेरे परायण हैं वे ही सर्वत्र जय पाते हैं उनका अभिभव कोई नहीं कर सकता है ।।११।।

आभास—भगवदाज्ञां प्राप्य तथा कृतवानित्याह **निशम्येति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की आज्ञा पाकर वैसे ही किया यह 'निशम्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**निशम्य भगवद्गीतं प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजः ।**
भ्रातॄन्दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपबृंहितान् ।।१२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि भगवान् के वचन श्रवण कर युधिष्ठिर का मुख प्रेम से प्रफुल्लित हो गया, भगवान् ने तेज से बढ़े हुए अपने भ्राताओं को दिग्विजय करने के लिए भेजा ।।१२।।

सुबोधिनी—**गीतं** भगवता सर्वेषां श्रुतिप्रियकरं प्रोक्तम् । **प्रीत्या उत्फुल्लं मुखाम्बुजं** यस्य । प्रीतिः संतोषः चिकीर्षितं सेत्स्यतीति । भगवत्स्पर्शाद्विष्णुतेजोपबृंहिता **भ्रातरः** । पालकं हि तत्तेजो दैत्यनाशकम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—'गीत' शब्द कहने का भावार्थ यह है कि जो भगवान् ने गाया अर्थात् कहा वह सबके कानों को प्रिय लगा, प्रिय होने से युधिष्ठिर का मुख कमल प्रफुल्लित हो गया, प्रीति शब्द का भावार्थ है कि उन वाक्यों के सुनने से संतोष हो गया, कारण कि यह निश्चय हुआ कि मैं जो चाहता हूं वह अवश्य पूर्ण होगा। भगवान् के स्पर्श से भ्राता विष्णु तेज से युक्त हो गए हैं। भगवान् का तेज 'पालक' है अतः दैत्यों का नाश करने वाला है ।।२।।

आभास—प्रत्येकं भगवता तेजःसमर्पितमिति ज्ञापयितुं विभागेन दिग्विजयार्थं प्रेषणमाह **सहदेवमिति** ।

आभासार्थ—प्रत्येक को भगवान् ने तेज दिया, यह जताने के लिए दिग्विजय, करने को पृथक् पृथक् दिशा बताई वह 'सहदेव' श्लोक मे कहते हैं ।

श्लोक—सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सह सृञ्जयैः ।
दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।
प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥१३॥

श्लोकार्थ—क्षत्रिय विशेषों के साथ सहदेव को दक्षिण दिशा में जय करने के लिए आज्ञा की, नकुल को पश्चिम में, अर्जुन को उत्तर में और भीम को पूर्व में भेजा, जिसके साथ में मत्स्य केकय और मद्र के पति (राजा) दिए ॥१३॥

सुबोधिनी—**दक्षिणस्यां दिशि** जयार्थं **सृञ्जयैः** क्षत्रियविशेषैः **सह**, **सहदेवमादिशत्** स्वदेशात् प्रौढप्रकारेण दिग्विजयः । तथा **नकुलं प्रतीच्याम्**, अनन्तमुत्तरापथमिति तत्र समर्थोर्जुनः । **प्राच्यां** जरासंधादयस्तिष्ठन्तीति, सेनाधिक्यं बलिष्ठस्य भीमस्य च प्रेषणम् । कनिष्ठक्रमेण विनियोगो धर्म्यः उत्तमानामेवावशेषात् । ॥१३॥

व्याख्यार्थ—दक्षिण दिशा में जीतने के लिए सहदेव को सृञ्जय अर्थात् क्षत्रिय विशेषों के साथ भेजा, स्वदेश से जाकर पूर्ण प्रकार से दिग् विजय कर आना ऐसी आज्ञा दी, इसी तरह नकुल को पश्चिम में, उत्तर दिशा में अर्जुन को भेजा क्योंकि वहां जीतने के लिये अर्जुन समर्थ थे, शेष पूर्व दिशा में जरासन्ध आदि बलवान रहते हैं अतः सेना अधिक देकर वहां बलिष्ठ भीमसेन को भेजा, यह भेजने का क्रम छोटे से रखा वह धर्मानुकूल था क्योंकि शेष जो पूर्व दिशा रही थी उसमें उत्तम जरासन्ध आदि रहते थे, इसलिए यह दिशा भीम के लिए रख छोड़ी थी, वहां जय कर सकने योग्य भीम था अतः उसको वहां भेजा ॥१३॥

आभास—तेषां कार्यसिद्धिमाह **ते निर्जित्येति** ।

आभासार्थ—'ते निर्जित्य' श्लोक में उनके कार्य की सिद्धि कहते हैं ।

श्लोक—ते निर्जित्य नृपान् वीरा आजह्रुर्दिग्भ्य ओजसा ।
अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥१४॥

श्लोकार्थ—वे वीर राजाओं को जीतकर अपने बल से दिशाओं में से बहुत द्रव्य ले आए, वह द्रव्य यज्ञ के लिए अजातशत्रु अपने भ्राता युधिष्ठिर को दिया ॥१४॥

सुबोधिनी—**ओजसा** स्वपौरुषेण, न तु धर्मार्थं स्नेहेन वा तैर्दत्तम् । नन्वेवं सर्वद्रोहकर्तुः कथं यागाधिकार इत्याशङ्कायामाह **अजातशत्रव** इति । आज्ञयैव तथा कृतवान् न तु तस्य हृदये कश्चिच्छत्रुरस्ति । भ्रातॄणां वा वैषम्याभावाय, कृषीवलादिव राजभ्यो द्रव्यसमानयनं स्वद्रव्येणैव याग इति । **यक्ष्यते अजातशत्रव** इति तादर्थ्यमुक्तम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—'ओजसा' पद का भावार्थ बताते है कि, अपने पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ से द्रव्य ले आए हैं, न कि उन राजाओं ने स्नेह से वा दान कर दिया है। शङ्का करते हैं, कि इस प्रकार सबका द्रोह करने वाला यज्ञ का अधिकारी कैसे हो सकेगा ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'अजातशत्रवे' जो इस द्रव्य से यज्ञ करने वाला है उसके हृदय में किसी के लिए भी शत्रुभाव नहीं है, भगवदाज्ञा से ही यों किया है। मानलो, कि युधिष्ठिर में शत्रुभाव नहीं है, किन्तु भ्राताओं में तो वैषम्य है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि उनमें भी विषमता नही है जैसे खेती हर पृथ्वी से अन्न उत्पन्न कर लाता है वैसे ही राजा, राजाओं को जीतकर द्रव्य ला सकता है जिसमें कोई दोष वा विषमता नहीं है, वह द्रव्य अपना ही है अतः अपने द्रव्य से यज्ञ होगा, भ्राताओं ने भी, लाया हुआ धन यज्ञ करने वाले अजातशत्रु को दे दिया। इससे यह सूचित किया कि वह द्रव्य अपने भोगादि के काम के लिए नहीं लाये थे। किन्तु भगवान् की सेवा के लिये लाए थे ॥१४॥

श्लोक—**श्रुत्वाऽजितं जरासंधं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।
आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥१५॥**

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने दिग्विजय में जरासन्ध के सिवाय सब राजाओं की पराजय सुनी, जिससे उसको चिन्ता होने लगी, राजा को चिन्तित देख भगवान् ने जो उपाय उद्धव को बताया था, वह आज सुना दिया ॥१५॥

सुबोधिनी—तत्र ब्रह्मण्यं विष्णुतेजो नाभिभवतीति जरासंधो न जितः। तस्याप्यजये यागो न भवेदिति **नृपतेर्ध्यानं** चिन्तारूपम्। पूर्वमेव भगवान् विनियुक्त इति तस्याप्यशक्यभावनया चिन्ता। तथापि तस्यापि दुःखनिवारको **हरिः** स्वस्मिन् तस्य लौकिको भावो जात इति उपायमेवाह तत्रापि **उद्धवो यमुपायमाह**। अन्यथा भगवान् कृत्रिमं वेषं न संपादयेत् ॥१५॥

व्याख्यार्थ— जो ब्रह्मण्य है उसको विष्णु तेज भी नहीं दबा सकता है इसलिए जरासन्ध नहीं जीता गया, जब तक वह जीता नहीं जाएगा तब तक यज्ञ न हो सकेगा, इस प्रकार का राजा का ध्यान ही चिन्ता रूप था, भगवान् को पहिले ही विनियुक्त किया तो भी उससे भी कुछ न हो सका इससे राजा को चिन्ता होने लगी उस चिन्ता का हरण करने वाला भी हरि ही है, भगवान् ने देखा कि इसका मुझमें लौकिक भाव उत्पन्न हुवा है इसलिए भगवान् राजा को वह उपाय बता देते हैं जो उद्धवजी ने पहले ही बता दिया था, यदि ऐसा विचार राजा को न होवे तो भगवान् कृत्रिम वेष धारण न करें अर्थात् कृत्रिम वेष धारण के कारण ही राजा की बुद्धि डावांडोल होने लगी ॥१५॥

श्लोक—**भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधरास्त्रयः ।
जग्मुर्गिरिव्रजं तात बृहद्रथसुतो यतः ॥१६॥**

श्लोकार्थ—भीमसेन, अर्जुन और कृष्ण; ये तीनों ब्राह्मण वेष धारण कर गिरिव्रज गए; क्योंकि जरासन्ध वहाँ था ॥१६॥

सुबोधिनी—अर्जुनस्य तदंशत्वात् नरनारायणयोर्धर्मावतारात् पूर्णत्वायार्जुनस्य गमनम् । अद्येदानीं भगवतोपि तथा वचनमाश्चर्यम् । भगवान् सर्वरूप इति ब्रह्मलिङ्गधरत्वं न दोषः, तथार्जुनोऽपि, पूर्वजन्मनि तथाभावात् । अत एव वासनया सन्यासिवेषः पूर्वमपि कृतः । अत एवोद्धवो भीमस्यैव वेषमाह । अनुवादे त्रयाणां वेषः क्रमेण निरूप्यते । वेषान्तरे समानशीलत्वं नोपपद्यत इति । अतो नूतनत्वाद्भीमसेनपुरःसुराः गिरिव्रजं जग्मुः । इदानीं राजगृहमिति प्रसिद्धम्। यतो यस्मात्कारणात् तत्र बृहद्रथसुतो जरासंधः। यत इति सप्तम्यर्थे वा ।।१६।।

व्याख्यार्थ—नर और नारायण धर्म के अवतार हैं अर्जुन भी उनके अंश है अतः पूर्णत्व के कारण अर्जुन का गमन कहा है, आज अब भगवान् का भी वैसा वचन कहना आश्चर्य कारक है, भगवान् तो सर्वरूप हैं इस ब्राह्मण वेष धारण करने में उनको कोई दोष नहीं है वैसे ही अर्जुन को भी दोप नहीं है क्योंकि पूर्व जन्म में वैसा भाव था इस कारण ही वासना से पहले भी सन्यासी वेश धारण किया था, इसलिए ही उद्धवजी भीम का ही वेष कहते हैं, अनुवाद में तीनों के वेष क्रम से निरूपण किए जाते हैं, पृथक अन्य वेष हो तो समान शीलपन उत्पन्न न हो सके अतः नूतनपन से भीमसेन को आगे कर गिरिव्रज गए, अब वह राजगृह से प्रसिद्ध है क्योंकि वहां बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध रहता है अथवा 'यतः' यह सप्तमी के अर्थ में लिया जा सकता है तब इस 'यतः' का अर्थ 'क्यों' न कर जिसमें बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध रहता है ।।१६।।

आभास—गतानां कृत्यमाह तं गत्वेति ।

आभासार्थः—'तं गत्वा' श्लोक में गए हुओं का कार्य कहते हैं—

श्लोक—तं गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।
ब्रह्मण्यं समयाचेरन्राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ।।१७।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण भक्त, गृहस्थ धर्म पालने वाले जरासन्ध के पास उस समय गए, जिस समय वह अतिथियों की कामनानुसार उनको देते हैं; ब्राह्मण वेषधारी राजाओं ने जाकर याचना की ।।१७।।

सुबोधिनी—अतिथिवेला वैश्वदेवः अप्रत्याख्येयातिथिः । महाराजत्वात् कथमन्तःप्रवेश इत्याशङ्कायामाह गृहमेधिनमिति । सर्वथा गृहस्थन्यायेन स्थितम् । तत्र हेतुः ब्रह्मण्यमिति । अन्यथा ब्राह्मणाः पराङ्मुखाः गच्छेयुः । एतेऽपि ब्रह्मलिङ्गिनः प्रविष्टाः ।।१७।।

व्याख्यार्थ—वैश्वदेव करने के समय अतिथियों का सन्मान करने में आता है अतः वह अतिथि वेला कही जाती है, जरासन्ध महाराजा है तो उसके पास विना आज्ञा के कैसे प्रवेश किया ? जिसके उत्तर में कहा है कि जैसे अन्य गृहस्थ धर्म में रहते हैं, वैसे यह भी सर्वथा गृहस्थी की तरह रहता है विशेष में ब्राह्मणों का सन्मान करने वाला अर्थात् ब्राह्मण भक्त है अतः प्रवेश में रुकावट नहीं थी, जो गृहस्थ न्याय से नहीं रहता और ब्राह्मण भक्त न होता, तो ब्राह्मण इसके गृह से लौट जाते, यह भी ब्राह्मण वेष धारी थे इसलिए राजगृह में प्रविष्ट हुए ।।१७।।

आभास—नटवद्याचनमपि कृतवन्तः सर्वथा अनृतत्वाभावाय राजन्निति ।

आभासार्थ— सर्व प्रकार असत्यता के अभावार्थ नर की तरह याचना भी करने लगे, यह 'राजन्' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**राजन् विद्ध्यतिथीन्प्राप्तानर्थिनो दूरमागतान् ।**
तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ।।१८।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हम अतिथि याचना करने के लिए दूर से आए हैं यों आप जानो, इसलिए हम जो कुछ आप से मांगें वह हमको दीजिए जिससे आपका कल्याण होगा ।।१८।।

सुबोधिनी—**अतिथि**शब्दो ग्रामब्राह्मणव्युदासार्थः । **दूरमागतान्**निति बहुदानाय दयार्थं च । अस्मद्दाने कीर्तिरपि भविष्यतीति सूचितम् । अतः साधारण्येन वचनमाहुः **तन्नः प्रयच्छे**ति । ब्राह्मणत्वज्ञापनाय मध्ये आशीः । मिथ्यावेश इति ब्राह्मणवाक्यस्याप्यफलत्वम् । वस्तुतस्तु मोक्षपर्यवसानाद्भद्रमेव । अथवा **ते भद्रं** प्राणादिरूपं **कामयामहे तत् प्रयच्छे**त्यर्थः ।।१८।।

व्याख्यार्थ— अतिथि शब्द कहने का भावार्थ यह है कि हम गांव के भिक्षुक ब्राह्मण नहीं हैं, जिसके कहने का आशय यह है हमको आपसे बहुत बड़ा दान लेना है और दया भी करो क्योंकि दूर से आए हैं दूर से आने में हमने कितना कष्ट पाया होगा अतः दयाकर हम जो मांगें वह दीजिए निराश न कीजिए, हमको जो मांगा हुआ दान दोगे तो आपका यश भी होगा, यह सूचित किया, हम ब्राह्मण हैं यह बताने के लिए मध्य में आशीर्वाद भी दी है, वास्तव में तो यह ब्राह्मण वेष मिथ्या था इसलिए यशरूप आशीर्वचन निष्फल होगा वास्तव में तो 'भद्र' कल्याण ही प्राप्त करोगे अर्थात् मोक्ष पाओगे, अथवा 'तेभद्रं' तेरा भद्र जो प्राण आदि है उसकी कामना करते हैं, वह दीजिये ।।१८।।

आभास—ननु दानं धर्मत्वात्सुखार्थं भवति तद्यस्मिन् दत्ते महद्दुःखं भवेद्वृत्तिर्वा विपद्येत न तद्देयमिति कथं सामान्येन प्रार्थनायां दानप्रतिज्ञासंभव इत्याशङ्क्याह **किं दुर्मर्षं तितिक्षूणा**मिति ।

आभासार्थ— दान देना धर्म है वह सुखार्थ ही होता है जिसके देने से यदि दुःख प्राप्त वा वृत्ति नष्ट हो वह दान नहीं देना चाहिए इसलिए सामान्य रीति से प्रार्थना करने पर दान की प्रति का सम्भव कैसे ? इस प्रकार की शङ्का का उत्तर 'किं दुर्मर्ष श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।**
किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—सहनशील सब कुछ दुःख सह लेते हैं, नीच पुरुष क्या नहीं करते हैं ?

अर्थात् कैसा भी नीच कर्म हो तो वह उसके करने में हिचकते नहीं। उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते हैं ? अर्थात् सब कुछ देने में समर्थ हैं, जिनकी समान दृष्टि है उनके लिए पराया कौन है, अर्थात् कोई पराया नहीं सब अपने हैं ।।१९।।

सुबोधिनी—ये **तितिक्षवः** सर्वातिक्रमसहनशीलाः, अन्यथा ब्रह्मण्यता न स्यात्। तथा चेत् किं दुर्मर्षम्, महद्दुःखमपि सोढव्यमित्यर्थः। नाप्येवं मन्तव्यमेते महद्दुःखं न दास्यन्तीत्यभिप्रायेणाहुः **किमकार्यमसाधुभिरिति**। **असाधुभि**र्वेषान्तरस्थैः साधवः सहजवेषा भवन्ति। अश्च सा सहितश्च धूञ् कम्पन इति धूर्वायुश्च त एते त्रयः। अथवा। किमित्येवमस्मभ्यं दुःखं दीयत इति आशङ्कायामाहुः **किमकार्यमिति**। दुष्टैर्भवद्भिर्जीवद्भिः किमकर्तव्यम्। यज्ञविघातमपि करिष्यन्तीति मारणमुचितमिति भावः। ननु दान शास्त्रसिद्धं तद्येषामेव विधिर्भवति तान्येव दातुं शक्यन्ते न तु निषिद्धानि। 'आत्मा च धर्मदासश्च धर्मपत्नी तथैव च। सर्वस्वं च प्रपन्नश्च न देयानि विदुर्बुधाः' इति विशेषनिषेधात्तत्राहुः **किं न देयं वदान्यानामिति**। **वदान्या** दध्यङ्शिबिप्रभृतयः। **अयं साधारणानामेव विषयः न तु वदान्यविषयः** ते ह्यात्मानमेव **प्रयच्छन्ति** कः संदेहोऽन्येषु, अनेन तस्य स्तुतिरपि कृता। तथापि शत्रुभ्यो न देयम्, अन्यथा नीतिशास्त्रं विरुध्येत। हीनाः शत्रवो मरणं प्रार्थयेयुरिति तत्राऽऽहुः **कः परः समदर्शिनामिति**। समदर्शिनां सर्वत्र ब्रह्मदृष्टीनां **कः परः** शत्रुः सर्वस्यैवात्मत्वात् ।।१९।।

—**व्याख्यार्थ**—जो सर्व प्रकारों के अतिक्रमों को सहन कर सकते हैं वे ही ब्रह्मण्य होते हैं। जिनमें पूर्ण सहन शीलता नहीं है वे ब्राह्मणों का सन्मान पूजादि नहीं कर सकते है, जिससे वे ब्रह्मण्य नहीं कहे जाते, जब वे सहन शील हैं तो वे महान् दुःखों को भी सहन करने में समर्थ होते हैं, यों भी नहीं समझना चाहिए कि, वे विशेष दुःख नहीं देंगे, क्या कारण है जो हमें दुःख देंगे, इस अभिशाप को प्रकट करने के लिए कहते हैं 'असाधुभिः किम कार्यं' जो वास्तविक साधु नहीं है, किन्तु साधुओं का (ब्राह्मणों का) वेष धारण किया है वे ढोंगी हैं, अतः कोई सा भी नीच कार्य करने में वे नहीं हिचकते हैं, अथवा तुम्हारे जैसे दुष्ट यदि जीवित होंगे तो अच्छे यज्ञादि कार्यों को भी नाश करेंगे इसलिए ऐसे को हम मारें यह ही हमारे लिए उचित है। शास्त्र सिद्ध दान, उनको देना चाहिए जिनके लिये देने की शास्त्रों में आज्ञा है, और जिस दान के देने का निषेध है वह नहीं देना चाहिए, जैसा कि कहा जाता है, कि 'आत्मा च धर्मदासश्च धर्मपत्नि तथेव च सर्वस्वं प्रपन्नश्च न देयानि विदुर्बुधाः।' "शरीर, धर्म से जो दास बना है, धर्मपत्नी, सर्वस्व और जो शरण में आया हो ये वस्तु दान में नहीं देनी चाहिये" इस प्रकार का निषेध विशेष निषेध है, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'किं न देय' वदान्यानां'। उदार हृदय शिवि, दधीचि आदि जैसों ने जैसे शरीर आदि सर्वदान में दे दिया है, वैसे उदार चित्त वाले सब कुछ दान में देते हैं, ऊपर दिया हुआ प्रमाण साधारणों के लिए है, यों कहकर उसकी स्तुति भी की है, फिर कहते हैं कि यों है किन्तु शत्रुओं को दान नहीं देना चाहिए यदि शत्रु को दिया जाएगा तो नीति शास्त्र का विरोध होगा, जो हीन और शत्रु हैं वह तो मारने का दान मांगेगा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'कः परः समदर्शिनाम् जिनकी सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि है उनका पराया कोई नहीं है सब समान हैं क्योंकि सर्व आत्मा होने से अपने ही हैं ।।१९।।

आभास—तथापि देहाध्यासो दृढ इति देहव्यतिरिक्तं सर्वमेव दास्यामीत्याशङ्कायामाहुः **योऽनित्येन शरीरेणेति**।

आभासार्थ—यों है, तो भी देहाध्यास दृढ है, इसलिए देह के सिवाय सब ही दूंगा; यदि यों कहे तो उसका उत्तर 'योऽनित्येन' श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—**योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।**
नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ॥२०॥

श्लोकार्थ—जो पुरुष समर्थ होते हुए भी इस अनित्य शरीर से, जिसकी कीर्ति सत्पुरुष गाते हैं ऐसे नित्य स्थिर रहने वाले यशः शरीर को प्राप्त नहीं करता है उसकी इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में भी हीन योनि पाने से शोक करने योग्य होता है ॥२०॥

सुबोधिनी—अदाने अयशः नित्यम्, शरीरमनित्यं दाने तु यशो नित्यं, शरीरमपि नित्यमेव । यशसा नित्यं दिव्यं शरीरमिति, अयशसा नारकिशरीरम् । एवं तारतम्यं ज्ञात्वा यः अनित्येन शरीरेण सतां गेयं वैकुण्ठादिशरीरजनकं यशः ध्रुवं निश्चलं च यशो नाचिनोति सर्वतोपगच्छन्न संचिनोति यथा वस्त्राभासेन हीरकाबन्धनं वस्त्रनाशो भविष्यतीति शङ्कया स्वयं समर्थो भूत्वा स वाच्यः अस्मिन् लोके निन्द्यो भवति शोच्यश्च परलोके हीनशरीरप्राप्त्या । एवकारेणोत्तमशरीरशङ्कां वारयति । यतः सोधुना यशःसंचयमकुर्वन् कथमन्यथा करिष्यति । न हि कदाचिदपि सोऽन्यथा भवति ॥२०॥

व्याख्यार्थ— दान न देने से, सदैव अपयश होता है यह शरीर तो अनित्य है दान करने से यश प्राप्त होता है वह नित्य रहता है और दान करने से जो यश मिलता है उससे नित्य दिव्य शरीर प्राप्त होता है अपयश से नारकीय शरीर की प्राप्ति होती है, इस प्रकार दोनों में तारतम्य जान कर जो इस अनित्य शरीर से सत्पुरुष जिसका गान करते हैं वैसा वैकुण्ठादि के शरीर को उत्पन्न करने वाला यश ध्रुव और निश्चल है । जैसे कोई पुरुष वस्त्र के कोने में हीरे को इस डर से नहीं बान्धता हैं कि वस्त्र फट जाएगा, वैसे ही जो पुरुष समर्थ होते हुए भी शरीर चला जाएगा, इस डर से ध्रुव यश का संचय नहीं करता है तो वह इस लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक में हीन योनि पाकर पश्चात्ताप करता है 'लोक में 'एवं' पद से यह सिद्ध किया है कि ऐसे पुरुष को उत्तम शरीर नहीं मिलेगा, जिससे उसके मन की शङ्का को मिटा दिया है, क्योंकि वह अब समय होते हुए भी यश का सञ्चय नहीं कर सकता है तो फिर कैसे करेगा ? वह कभी भी अन्य प्रकार का नहीं होता है ॥२०॥

आभास—ननु तथापि यत्कैश्चिदपि न दत्तं तत्कथं देयमिति शङ्कायामाहुः हरिश्चन्द्र इति ।

आभासार्थ— तो भी जो किसी ने भी नहीं दिया है वह कैसे देना चाहिये ? इस शङ्का का उत्तर 'हरिश्चन्द्रो' श्लोक में देते है ।

श्लोक—हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिबिर्बलिः ।
व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ।।२१।।

श्लोकार्थ—हरिश्चन्द्र रन्तिदेव, उच्छवृति, शिवि, बलि, व्याध और कपोत ऐसे बहुत अध्रुव (अनित्य) इस शरीर से ध्रुव को प्राप्त हुए हैं ।।२१।।

सुबोधिनी—स हि सर्वस्वमपि दत्त्वा चण्डालत्वमङ्गीकृतवान् । **रन्तिदेवः** पिपासया म्रियमाणः पुक्कसायापि जलं दत्तवान्, तथोञ्छवृत्तिः क्षुधा म्रियमाणः सर्वमेवान्नं दत्तवान् । **शिबिश्च** स्वमांसं दत्तवान्, श्येनकपोतसंवादे । **बलिः** सर्वस्वं विष्णवे । **व्याधो** ब्राह्मणरक्षाया व्याघ्रेण भक्षितः । **कपोतः** चोररूपातिथिसंतर्पणार्थं तदग्नौ स्वयं पतितः सभार्यः । एवं **बहव एवाध्रुवेण** शरीरेण **ध्रुवं** फलं **गताः** ।।२१।।

व्याख्यार्थ— हरिश्चन्द्र ने सर्वस्व देकर भी, चाण्डालपन अङ्गीकार किया, रन्तिदेव स्वयं प्यास से मर रहा था तो भी डोम को अपने पीने का पानी दे दिया, इसी प्रकार उच्छवृत्ति ने क्षुधा से मरते हुए भी सर्व अन्न दे दिया, शिवि ने अपना मांस कपोत को बचाने के लिए दे दिया बलि ने अपना सर्वस्व विष्णु को दान में दिया, व्याध नें ब्राह्मण की रक्षा करते हुए अपना शरीर व्याघ्र को अपर्ण किया, स्त्री समेत कबुतर ने चोर रूप अतिथि को भोजन कराने के लिए अपना शरीर अग्नि में डालकर नष्ट किया इस भांति बहुतों ने इस अध्रुव शरीर से ध्रुव फल को पाया है ।।२१।।

आभास—एवं दाने प्रोत्साहं प्राप्तः क एत एवं धर्मवक्तार इति तान् विचार्य निश्चित्य स्वमनस्याह **स्वरैराकृतिभिरिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार दान करने लिए प्रोत्साहन पाया तब विचार करने लगा कि इस प्रकार धर्म को कहने वाले ये कौन हैं ? उनको अच्छी तरह जांच कर निश्चित जान लेने के बाद जो मन में कहने लगा वह 'स्वरैराकृतिभिः 'श्लोक से' शुकदेवजी बताते है—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपि ।**
राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्वानचिन्तयत् ।।२२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी बोले कि स्वर, आकृति और धनुष की प्रपञ्चा के घातु चिन्ह वाले भुजाओं से उनको क्षत्रिय जाना और मनमें आया कि पहिले कदाचित् इनको कहीं देखा है ।।२२।।

सुबोधिनी—प्रथमेन विमर्शः ततश्चतुर्भिर्वाक्यानि ततो निश्चित्य प्रतिज्ञा । **स्वरा** मेघगम्भीराः क्षत्रियाणामेव भवन्ति । **आकृतयः** आजानुबाहूरूपाः अन्तर्बहिर्धर्मास्तु क्षत्रियत्वनियामका उक्ताः । तत्कर्मपरत्वनियामकानाह **प्रकोष्ठैर्ज्याहतैरपीति** । त्रिभिर्धर्मैरव्यभिचारिभिः **राजन्यबन्धव** एत इति ज्ञातवान्, प्रायेण तैः सह युद्धमपि कृतमिति दृष्टपूर्वत्वात् क एते इत्यचिन्तयत् । कथं क्षत्रिया एववेषेण समागता इति ।।२२।।

व्याख्यार्थ— पहले से विचार किया, अनन्तर चारों से वाक्य, उनसे निश्चय फिर प्रतिज्ञा की, बादल जैसे गंभीर स्वर क्षत्रियों के ही होते हैं, आकृतियाँ, घुटनों तक लम्बी भुजाएँ ये भीतर और बाहर के धर्म क्षत्रियपन के ही नियामक कहे हैं। क्षत्रियों के कर्मपन के नियामक धर्म भी इनमें हैं जैसा कि इनकी कलाई धनुष के प्रत्यञ्चा के घात वाली है, इन अव्यभिचारी तीनों धर्मों से ये क्षत्रिय बान्धव हैं यों जरासन्ध ने समझ लिया, बहुत कर पूर्व में इनसे युद्ध भी किया है इसलिए ये आगे देखे हुए लगते हैं किन्तु वास्तव में ज्यों मुझे भासते हैं त्यों हैं वा अन्य हैं, यों विचार करने लगा, यदि क्षत्रिय है तो इस वेश से यहां क्यों आये है ? ॥२३॥

श्लोक—**राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।**
ददामि भिक्षितं तेभ्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—ये कोई राजबन्धु देखने में आते हैं, किन्तु ब्राह्मण का वेश धारण किए हुए हैं, ब्राह्मण वेश के कारण माँगी हुई भिक्षा इनको दूँ, यदि ये न देने योग्य शरीर माँगे, तो वह भी दूँगा ॥२३॥

सुबोधिनी—स्वधर्मनिरतत्वाभावाद् राजन्यबन्धुत्वं मन्यते, बन्धुशब्दो वा अप्रौढक्षत्रिये। आत्मा अदेयः। क्षत्रियाश्चेत्स्वजात्यभिमानं परित्यज्य ब्राह्मणवेषेण मद्याचका जाताः तदा अहं क्षत्रियाणां मानरक्षार्थं दध्यङ्शिबिवत् आत्मानं शरीरमपि ददामि तद्वस्तुतो दुस्त्यजम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—क्षत्रिय न कहकर इनको क्षत्रिय बान्धव कहा है जिसका कारण यह है कि ये अपने क्षत्रिय धर्म में रत नहीं हैं अथवा बन्धु अप्रौढ क्षत्रिय के लिये दिया जाता है यद्यपि 'आत्मा' देने योग्य नहीं है, तो भी यदि क्षत्रिय अपनी जाति का अभिमान छोड़ ब्राह्मण वेश से मेरे यहां भिखारी हो के आए हैं तो मैं क्षत्रियों का मान (इज्जत) बचाने के लिए दधीचि और शिवि के समान अपना शरीर भी देता हूँ वह वास्तव में देना कठिन है ॥२३॥

आभास—कपटेन समागतस्य बलिरेव दातेति तस्य प्रशंसां स्वहृदये समागतां निरूपयति **बलेर्नु श्रूयते कीर्तिरिति ।**

आभासार्थ— कपट रूप से आए हुए वामन को बलि ने सर्वस्व दिया जिससे उसकी सर्वत्र प्रशंसा हो रही है इस प्रशंसा को मनमें लाकर उसका 'बलेर्नु' श्लोक में निरूपण करते हैं—

श्लोक—**बलेर्नु श्रूयते कीर्तिर्वितता दिक्ष्वकल्मषा ।**
ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रव्याजेन विष्णुना ॥२४॥

श्लोकार्थ—विष्णु से (ब्राह्मण मिष से) ऐश्वर्य से भ्रष्ट किए गए बलि राजा की भी निष्कलङ्क कीर्ति चारों दिशाओं में व्याप्त हो गई है, यों सुनने में आता है ॥२४॥

सुबोधिनी—दैत्यांशत्वाद्दैत्यकृतिरेव हृदये समायाति **दिक्षु वितते**ति। तादृशी **कीर्ति**स्तस्याभिलषितेति ज्ञापितम्। **अकल्मषा** शुद्धभावयुक्ता। आत्मदानमभिप्रेत्याऽऽह **ऐश्वर्याद् भ्रंशितस्यापि**। संकल्पस्तु भ्रंशात्पूर्वमेव जातः त्रैलोक्यपरिग्रहश्च। भ्रंशो बन्धनात्मकः। तत्राप्येवं **विष्णुर्ब्राह्मणरूपेणैव** समागतः तेन मत्तुल्यता। अतस्तद्धर्माणामनुवादः ॥२४॥

व्याख्यार्थ— दैत्यांश होने से दैत्य का कार्य ही हृदय में आता है, 'दिक्षु वितता' उस बलि दैत्यकी निष्कलङ्क शुद्ध भाव वाली कीर्ति सर्वत्र फैली हुई है, यों कहने का इसका आशय यह है कि मेरी भी वैसी कीर्ति हो, आत्मा का दान करने की अभिलाषा कर, कहता है, कि बलि ने एश्वर्य भ्रष्ट होकर भी सर्वस्व दान दे दिया, देने का सङ्कल्प तो भ्रंश(बन्धनरूप होने)से प्रथम ही हुआ था और त्रैलोक्य देने का स्वीकार वहां भी इस प्रकार विष्णु ब्राह्मण रूप से ही पधारे थे। इससे मेरी और उसकी तुल्यता (समानता) है, अतः उसके धर्मों का यह अनुवाद है ॥२४॥

आभास—एतदर्थमेव ज्ञात्वा दानमनुवदति **श्रियमिति**।

आभासार्थ— इसलिये ही जानकर दान का 'श्रियं' श्लोक से अनुवाद करता है।

श्लोक—**श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे।**
जानन्नपि महीं प्रादाद्वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥२५॥

श्लोकार्थ—इन्द्र के लिए बलि की लक्ष्मी ले लेने की इच्छा वाले ब्राह्मण रूप विष्णु को गुरु शुक्राचार्य के रोकने पर भी दैत्यराज बलि ने पृथ्वी दे दी ॥२५॥

सुबोधिनी—**जिहीर्षत इन्द्रस्ये**ति वक्तव्ये संधिरार्षः। **इन्द्रस्यार्थे** राज्यश्रियं **जिहीर्षते विष्णवे जानन्नपि प्रादा**दिति संबन्धः। शुक्राचार्येण **वार्यमाणोऽपी**ति। यदि मां कश्चिद्वारयिष्यति तदापि दास्यामीत्येतदर्थमुक्तम् **दैत्यरा**डिति। राजधर्मः प्रजाभिरपि कर्तव्य इति निश्चयः ॥२५॥

व्याख्यार्थ— श्लोक में 'जिहीर्षतेन्द्रस्य' वाक्य में जो सन्धि है वह आर्ष प्रयोग है 'जिहीर्षते' यह पद विष्णवे का विशेषण है चतुर्थी विभक्ति में है अतः व्याकरणानुसार यों सन्धि हो नहीं सकती है, इन्द्र के लिए राज्य श्री को हरण की इच्छा वाले विष्णु को, जानता था तो भी दान दिया, गुरु शुक्राचार्य ने रोका, तो भी दिया, यों कहने का जरासन्ध का यह आशय था कि यदि मुझे भी कोई रोकेगा तो भी मैं दूंगा क्योंकि बलि दैत्यों का राजा था, राजा का धर्म प्रजा को भी पालना चाहिए यह निश्चय है ॥२५॥

आभास—ननु तथापि वाक्यात्तस्य तथा न निश्चयः प्रतिज्ञा च पूर्वमेव तेन कृता तव तु बलिनाशदर्शनात् प्रतिज्ञाभावाच्च कथं न निवृत्तिरित्याशङ्कायामाह **जीवते**ति।

आभासार्थ— बलि ने केवल वाक्य से वैसा निश्चय नहीं किया था, किन्तु वह पहले ही प्रतिज्ञा कर चुका था, तुमको तो ऐसे कपट वेशधारियों को दान देने से बलि का नाश हुआ है यह जानकर और तुमने बलिवत् प्रतिज्ञा भी नहीं की है, अतः क्यों नहीं, दान से निवृत्त हो जाओ अर्थात् दान न दो ऐसी शङ्का का निवारण 'जीवता' श्लोक से करता है।

श्लोक—जीवताऽब्राह्मणार्थाय कोन्वर्थः क्षत्रबन्धुना।
देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥२६॥

श्लोकार्थ—क्षत्रिय होकर इस जीवन से ब्राह्मण के कार्य को सिद्ध कर महती कीर्ति उपार्जन न करे तो फिर इस नाशवान शरीर धारण का क्या प्रयोजन है? ॥२६॥

सुबोधिनी— अब्राह्मणार्थाय ब्राह्मणप्रयोजनाभावाय प्रयोजनान्तराय वा **जीवता क्षत्रबन्धुना** किम्। न किंचित् प्रयोजनमित्यर्थः। एवं जीवनवैफल्यमुक्त्वा देहवैफल्यमाह **देहेनिति**। स्वत एव **पतमानेन** यस्योपचयस्तस्यापचय इति **विपुलं यशो नेहता** न संपादयता ब्राह्मणार्थप्राणत्वं तस्य स्वाभाविकं **यशःसंचयनं** त्वेतैरेवोपादिष्टं बलिधर्मास्तु स्मारिताः ॥२६॥

व्याख्यार्थ— यदि यह क्षत्रिय शरीर, ब्राह्मण के काम न आवे अथवा किसी दूसरे के काम में भी न आवे तो उस क्षत्रिय के जीते रहने से क्या लाभ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है इसी तरह जीवन की विफलता दिखाकर अब देह की व्यर्थता कहता है. जो देह गिरने वाली है, जो बढती है वह घटती भी है इसलिए वैसी नाश होनेवाली अनित्य देह से यदि विपुल यश सम्पादन न किया, अर्थात् ब्राह्मण के लिए प्राण देने से स्वाभाविक यानि अवश्य ही यश का संचय होगा यह उपदेश उन्होंने ही दिया है और बलि के धर्म भी स्मरण करवाये हैं ॥२६॥

आभास—एवं त्रिभिः कृत्वा दास्यामीति निश्चित्य प्रतिज्ञां कृतवानित्याह **इत्युदारमतिरिति**।

आभासार्थ— वैसे तीन श्लोकों से 'दूंगा' यह निश्चय कर 'इत्युदार' श्लोक से प्रतिज्ञा की है।

श्लोक—इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान्।
हे विप्रा व्रियतां कामं ददाम्यात्मशिरोऽपि वः ॥२७॥

श्लोकार्थ—उदार बुद्धिवाला जरासन्ध कृष्ण, अर्जुन और भीम को इस प्रकार कहने लगा–हे भूदेवों! आप प्रसन्नता से जो चाहिए, वह माँगें, मैं अपना सिर भी आपको देने के लिए तैयार हूँ ॥२७॥

सुबोधिनी—एवं बलिधर्माभिनिवेशेन उदारमतिर्भूत्वा प्रत्येकं तान् **व्रियतामित्याह**। दानसिद्धचर्थं तेषां ब्राह्मण्यं स्थापयति **हे विप्रा** इति। **कामं** स्वाभिलषितम्। कदाचिदेते मया सह युद्धे अशक्ता: मच्छिर: प्रार्थयिष्यन्ति चेत्तदपि देयमित्याह **ददाम्यात्मशिरोऽपीति**। **वो** युष्मभ्यं ब्राह्मणेभ्य: ॥२७॥

व्याख्यार्थ— इस प्रकार अन्त: करण में बलि के धर्म के प्रवेश से जरासन्ध भी वैसा ही उदार मति वाला हो गया, जिससे प्रत्येक को कहने लगा कि जो कुछ चाहिए वह मांग लो, दान की सिद्धि हो इसलिए उनका ब्राह्मण पन स्थापित करता हुआ कहता है कि हे विप्रा: (ब्राह्मणों)! आप अपनी इच्छानुसार मांगलो, कदाचित् ये मेरे साथ युद्ध करने में अशक्त हैं, इसलिए यदि मेरा शिर मांगोगे तो वह भी आप ब्राह्मणों को दे दूंगा ॥२७॥

आभास—एवं सत्यप्रतिज्ञस्य प्रतिज्ञां श्रुत्वा कर्तव्यमूढयोर्भीमार्जुनयो: सतो: भगवांस्तन्मनोरथं दूरीकर्तुं कापट्यं दूरीकृत्य सत्यमाह **युद्धं नो देहि** इति।

आभासार्थ— सत्य प्रतिज्ञ की इस प्रकार सत्य प्रतिज्ञा सुनकर क्या करना चाहिए इस विचार में मूढ हुवे भीमार्जुन को देखकर भगवान् कापट्य को दूर कर 'युद्धं नो' श्लोक में सत्य कहने लगे।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे।**
युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिण: ॥२८॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा—हे राजेन्द्र! यदि हम जो चाहते हैं, वह देना स्वीकार करते हो तो, हमको द्वन्द्व युद्ध दो, हम युद्ध के लिए यहाँ आए हैं, हम क्षत्रिय हैं, अत: अन्न नहीं चाहते हैं ॥२८॥

सुबोधिनी—युद्धप्रार्थना क्षत्रियस्य नापकर्षहेतु:। **राजेन्द्रेति** क्षत्रियमात्रस्य राजेन्द्रेण सह युद्धार्थमागमनमनुचितमिति सूचितम्। तेन युद्धप्रार्थना सर्वथायुक्तेति भाव:। किंच। युद्धविशेषं प्रार्थयितुमागता इत्याह **द्वन्द्वश** इति। एको भवान् त्वं अस्मासु चैक: त्रयाणां मध्ये कोऽपि। एतदपि न छलवाक्येनाङ्गीकारं कारयित्वा वदाम: किंतु **यदि मन्यसे** कथंचिद्द्वन्द्वयुद्धे श्रद्धा भवतीत्यर्थ:। न तु निर्बन्धेनायमर्थ: स्वीकर्तव्य: अस्माकं तु युद्धस्वीकारे युद्धानन्तरं जयपराजयनिर्णय:। अस्वीकारे तु प्रथमत एवेति उभयथापि समीचीनम्। इदमत्यन्त स्वोत्कर्षख्यापकं वचनम्। किंच। जगति द्वन्द्वयुद्धं कोऽपि कर्तुं न शक्त इति त्वत्समीपमागता इत्यभिप्रायेणाह **युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता** इति। देवदैत्यरक्षसामन्यतरत्वे भयान्नाङ्गीकरिष्यतीत्याशङ्क्याह **राजन्या** इति। तर्हि ब्राह्मणवेष: किमर्थं कृत इत्याशङ्क्याह **नान्नकाङ्क्षिण** इति। ब्राह्मणो भोजनप्रिय इति, अन्नकाङ्क्षिणो ब्राह्मणा न भवाम:। अन्नार्थं वा न ब्राह्मणवेष:। किंतु महान् क्षत्रिय: अल्पेन सह युद्धं न करोति ब्राह्मणेन तु सह तदिच्छापूर्त्यर्थं अल्पेनापि करोतीति ब्राह्मणवेष इत्यर्थ: ॥२८॥

व्याख्यार्थ—युद्ध के लिए मांग करने से क्षत्रिय का अपमान नहीं होता। राजेन्द्र! इस प्रकार के सम्बोधन से यह सूचित किया है कि साधारण क्षत्रिय को राजेन्द्र के साथ बल से युद्ध करने के लिए आना उचित नहीं है इस कारण से युद्ध के लिए प्रार्थना करना सर्व प्रकार से योग्य है, यह भाव है, उसमें भी विशेष प्रकार के युद्ध की प्रार्थना करने के लिए ही आए हैं वह प्रकार बताते है कि 'द्वन्द्वशः' एक एक से आमने सामने लड़ें अत. आप एक हैं हम तीनों में से किसी एक को आप चुनलो, यह भी किसी छल द्वारा अङ्गीकार नहीं करवाता हूं, किन्तु यदि कैसे भी द्वन्द्व युद्ध में श्रद्धा हो तो स्वीकार कीजिए यह मन्तव्य किसी भी आग्रह से स्वीकार नहीं करना, हमको तो युद्ध के स्वीकार करने पर जय वा पराजय का निर्णय युद्ध के बाद होगा, यदि स्वीकार न करोगे तो पहले ही यों है अतः हमारे लिए दोनों ही समीचीन हैं, अपने अत्यन्त उत्कर्ष के प्रसिद्ध करने वाले वचन हैं और विशेष जगत् में द्वन्द्व युद्ध करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है इसलिए युद्ध को चाहने वाले हम आपके पास आए हैं देव, दैत्य और राक्षसों में से आप कोई हैं। इस भय से यदि युद्ध देना अङ्गीकार न करो तो इस भय का निवारण करते हैं कि हम क्षत्रिय हैं यदि क्षत्रिय हो, तो ब्राह्मण वेश क्यों धारण किया है जिसके उत्तर में, हमने वेश धारण इसलिए नहीं किया है कि हमको भोजन दो, ब्राह्मण भोजनप्रिय होते हैं, हम भोजन चाहने वाले ब्राह्मण नहीं हैं। अन्न के लिए ब्राह्मण वेश धारण नहीं किया है, हमने इस विचार से ब्राह्मण वेश धारण किया है कि महान् क्षत्रिय, छोटे से युद्ध नहीं करता है, ब्राह्मण से तो उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिए छोटे से भी करता है इसलिए ब्राह्मण वेश धारण किया है ॥२८॥

आभास—यथा रूपमन्यथा तथा वागपि भविष्यतीत्याशङ्क्य क्षत्रियत्वसिद्धयर्थं स्वनामान्याह **असौ वृकोदर** इति।

आभासार्थ— जैसे आपका रूप सत्य नहीं है, वैसे वाणी भी सत्य न होगी, इस शङ्का को मिटाने के लिए, अपने क्षत्रियपन की सिद्धि करते हुए 'असौ वृकोदरः' श्लोक में अपने नाम प्रगट कर बताते हैं।

श्लोक—**असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्राताऽर्जुनो ह्ययम्।**
अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—यह भीमसेन है और दूसरा पृथा का पुत्र इसका भ्राता अर्जुन है, इन दोनों के मामे का पुत्र तेरा शत्रु मैं कृष्ण हूँ, यों समझ ले ॥२९॥

सुबोधिनी—**वृको** दशविधः प्राण उदरे यस्येति बलं च सूचितम्। **पार्थ** इति स्वसंबन्धार्थं कपटागमनार्थं वा न त्वप्रयोजकत्वाय। तस्यैव **भ्राताः पार्थः अर्जुनोयं** द्वितीयः। **हि** युक्तश्चायमर्थः। आकृतिसाम्यात्। यदर्थमेतयोर्मातृनाम्ना निरूपणं तदाह **अनयोर्मातुलेयं मां कृष्णं जानीहीति**। तर्हि प्रसिद्धाः कथं वेषेण समागता इत्याशङ्क्याह **ते रिपुमिति**। रिपोः स्थाने कार्यपर्यन्तं वेषेणैव स्थातव्यमिति नीतिः ॥२९॥

व्याख्यार्थ— वृक पद का अर्थ है दश प्रकार के प्राण, वे जिसके उदर में है वैसा यह वृकोदर है यों कहने से उसकी महती शक्ति का सूचन किया है जिसको 'पार्थ' भी कहते हैं, यह नाम अपने सम्बन्ध प्रकट दिखाने के लिए कहा है अथवा कपट से आने के लिए कहा है अप्रयोजकपन के लिए नहीं, उसका ही भ्राता अर्जुन दूसरा भी पार्थ है, 'हि' पद से बताया है कि यह अर्थ उचित है, कारण कि दोनों की आकृति समान है इनका मातृ नाम से परिचय जिस कारण से दिया वह प्रकट करते हैं कि, इन दोनों के मामे का पुत्र कृष्ण मुझे समझ लो, जब आप ऐसे प्रसिद्ध हैं तो वेशान्तर धारण कर क्यों आए ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'तेरिपुम' तुम्हारे शत्रु हैं शत्रु के स्थान पर कार्य पूर्ण हो तब तक वेशान्तर से ही रहना चाहिए यह नीति है ।।२९।।

आभास—एवं भगवता पार्थैं निरूपिते अतिथिश्रद्धायां गतायां बालभावेनैते समागता इत्यवहेलेव तेषूत्पन्ना तट आगमनमाश्चर्यमिव मत्वा प्रथमतो हास्यमुत्पन्नमित्याह **एवमावेदित** इति ।

आभासार्थ— भगवान् ने जब ये पार्थ नाम से प्रसिद्धि की तब जरासन्ध के हृदय से अतिथि श्रद्धा निकल गई । ये तो लड़के से आए है इसलिए उन्होंमें तिरस्कार जैसा भाव उद्भूत हुआ, इस कारण से इनका आना आश्चर्य जैसा माना, जिसमें पहिलें उसको हँसी आई जिसका वर्णन 'एवमावेदितो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।**
आह चामर्षितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ।।३०।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब इसको अपने स्वरूप का ज्ञान कराया, तब राजा मागध जोर से हँसने लगा और क्रोधित हो कहने लगा कि हे मूर्खों ! यदि आप द्वन्द्व युद्ध ही माँगते हो तो तुमको वही देता हूँ ।।३०।।

सुबोधिनी—आवेदनं स्वरूपख्यापनम् । यतो राजा राज्यमत्तः उच्चैर्जहासेति कथमेते अकस्माच्छत्रुगृहे पतिताः दैवगत्येति । ननु भगवन्तं दृष्ट्वा भक्तिः कथं नोत्पन्ना वस्तुसामर्थ्यात्, कथमवहेलेत्याशङ्कायामाह मागध इति । देशदोषान्न सद्बुद्धिः । तह्युपेक्षा भवितुमर्हतीत्याशङ्क्याह आह चेति । पूर्वं भगवदतिक्रमं श्रुत्वा अमर्षितः ततः क्रोधेन मारयिष्यामीति विचार्य स्वप्रतिज्ञां च स्मृत्वा उभयथापि मारणं संभवतीति किमिति प्रतिज्ञा हातव्येति स्वस्य कार्यमुभयथापि समीचीनमेवेति तेषामेवोभयथाऽसमीचीनमिति ज्ञापयितुं मन्दा इति संबोधनमाह । अस्तु वा तेषां मन्दत्वं स्वप्रतिज्ञां तु पूरयाम्येवेत्याशयेनाह युद्धं तर्हि ददामि व इति । व इति बहुवचनात् त्रयोऽपि भवन्त एकतो भवन्तु अहमेकत इति सूचितम् ।।३०।।

व्याख्यार्थ— आवेदन का तात्पर्य है अपना स्वरूप प्रकट कर देना, स्वरूप प्रकट जानकर 'राजा' राज्य के कारण मदमत्त होने से जोर से हंसने लगा इसलिए कि ये अचानक शत्रु के गृह

में कैसे आ गए ? दैव गति से आए हैं, भगवान् का दर्शन कर वस्तु में ऐसी सामर्थ्य होते हुए भी भक्ति क्यों न उत्पन्न हुई ? कैसे तिरस्कार जगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि वह राजा तो था किन्तु साथ में मगध देश में उत्पन्न होने से मागध भी था अतः देश दोष से सुबुद्धि न आई उसके न आने से उपेक्षा होना ही योग्य, है इस शङ्का के होने पर कहते हैं कि भगवान् का अतिक्रम सुनकर क्रोधपूर्ण हो गया पश्चात् विचार कर कहने लगा कि इनको मारूंगा और अपनी प्रतिज्ञा का भी स्मरण किया, जिससे यों निश्चय किया कि ये युद्ध की भिक्षा मांग रहे हैं और मेरी प्रतिज्ञा है कि ब्राह्मण जो मांगे वह देना ही अतः दोनों प्रकार मारना ही सम्भव होता है इससे क्या प्रतिज्ञा छोड़नी ? नहीं जरासन्ध ने समझा कि हमारा कार्य दोनों प्रकार उचित है और उनका ही दोनों प्रकार अनुचित हैं, यह जानने के लिए उनको 'मन्दा' यह सम्बोधन दिया है, वे भले ही मूर्ख हो अपनी प्रतिज्ञा तो पूर्ण करूंगा ही, इस आशय से कहता है कि 'युद्धं तर्हि दादामि' आप तीनों को द्वन्द्व युद्ध देता हूँ अर्थात् एक तरफ भले तुम तीनों हो जाओ दूसरी तरफ मैं एक ही रहूंगा यों सूचित किया ।।३०।।

आभास—तथापि द्वन्द्वतायां निर्वन्धो यदि तदाह **न त्वयेति** ।

आभासार्थः— तो भी यदि द्वन्द्व में आग्रह है तो इस पर जो कहना है वह 'न त्वया' श्लोक में कहता हैं ।

श्लोक—न त्वयाऽभीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा ।
मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ।।३१।।

श्लोकार्थ—जरासन्ध ने भगवान् को कहा कि लड़ाई में अस्थिर चित्तवाले डरपोक तुझ से मैं नहीं लड़ूंगा, तू ऐसा डरपोक है, जो तुमने अपनी पुरी मथुरा का त्याग कर समुद्र की शरण ली है ।।३१।।

सुबोधिनी—त्वया न योत्स्ये अभीरुणेति परमार्थः । व्याजेन भीरुणेत्याह । भीरुत्वे कथमेवमागमनमित्याशङ्क्याह युधि विक्लवचेतसेति। युद्धे चेत् स्थिरता बुद्धेर्भवेत् तदा क्षत्रियो युद्धसंभवभूमिं परित्यज्य युद्धरहितभूमौ न गच्छेत् इत्याशयेनाह मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वेति । आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्य इति ज्ञापयितुं स्वपुरीमिति । मध्ये समुद्रस्थितिः समुद्रशरणागतिः दुर्गाश्रयवत् ।।३१।।

व्याख्यार्थ— तुम डरपोक[1] हो इसलिए तुम से नहीं लड़ूंगा, यदि मैं डरपोक होता तो यहां कैसे आता ? जिसका उत्तर देता है कि लड़ाई में तुम स्थिर चित्त वाले नहीं हो, यदि युद्ध में चित्त स्थिर हो तो क्षत्रिय कभी जहां लड़ाई होने की भूमि है उस भूमि का त्याग कर वैसी भूमि पर क्षत्रिय कभी नहीं जाते हैं जहां लड़ाई न हो सके, आपने यों किया है जैसे अपनी मथुरा पुरी का

१- वास्तव में 'अभीरुणा' पद होने से अर्थ "वहादुर"

त्याग कर जैसे कोई किले का आश्रय ले वैसे समुद्र के मध्य में स्थिति की है, जो स्थान युद्ध के योग्य नहीं है, नीति शास्त्र तो यों कहता है कि 'आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्यः, आपदाओं में भी अपना देश नहीं छोड़ना चाहिए ॥३१॥

आभास—अर्जुनं च निराकरोति **अयमिति** ।

आभासार्थ— अर्जुन से भी लड़ाई करने का 'अयं तु' श्लोक में निराकरण करता है ।

श्लोक—**अयं तु वयसाऽतुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।**
अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥३२॥

श्लोकार्थ—यह अर्जुन छोटा है और महाबली नही है तथा मेरे समान नहीं है, इसलिए अर्जुन योद्धा, मुझ से लड़ाई करने वाला नहीं हो सकता है, किन्तु भीम, समान बल होने से मुझ से लड़ सकता है ॥३२॥

सुबोधिनी—अयं तु योद्धा भवति परंतु वयसा **अतुल्यः** वयोऽत्र बलहेतुभूतम्, अन्यथ भीमोऽपि वयसा न तुल्यः भीमार्जुनयोर्वर्षत्रय-व्यवधानात् तदेव ज्ञापयितुमाह **नातिसत्त्व** इति । यादृशे लग्ने उत्पन्नो तादृशं बलं भवति तद्भीम-बलभद्रमद्रराजादीनामेव अतः एव **न मे समः ।** दैव्यं तु बलं ममापि ब्रह्मण्यत्वादधिकमेवेति न तन्मन्यते । कनिष्ठ इति । भीमस्यापि निराकरणे व्याजोत्तरत्वं भविष्यतीति तमङ्गीकरोति **भीमस्तुल्यबलो ममेति** । वस्तुतस्तु नरनारायणौ परित्यज्य कालकन्यापुत्रत्वात् मुख्यप्राणं तुल्यं मन्यते सोपि दैत्यप्राणरूप इति 'जीव जीव'इति वाक्यात् ॥३२॥

व्याख्यार्थ— यह अर्जुन तो योद्धा बन सकता है, किन्तु आयु में छोटा है बल का कारण वय भी होता है, यदि यों है तो भीम भी आयु में आपके बराबर नहीं है, भीम और अर्जुन का केवल तीन वर्ष का ही अन्तर है, जिसके उत्तर में कहता है कि अर्जुन विशेष बलवान भी नहीं है और न मेरे समान है, क्योंकि जैसे लग्न में जन्म होता है तदनुसार बल होता है वह बल भीम, बलभद्र मद्र आदि राजाओं में हैं इस कारण ही यह अर्जुन मेरे समान नहीं है अतः मुझसे द्वन्द्व युद्ध कर नहीं सकता, दिव्य बल तो ब्रह्मण्यत्व के कारण मुझ में विशेष है भीम के भी निराकरण में दूसरा कोई कारण होगा जिसके उत्तर में कहता है कि नहीं भीम तो मुझ से बल में समान है उससे द्वन्द्व युद्ध करूँगा । वास्तव में तो नर नारायण को त्यागकर काल कन्या के पुत्र होने से मुख्य प्राण को समान मानता है, वह भी दैत्य प्राण रूप है, यों 'जीव जीव' इस वाक्य से मानता है ॥३२॥

आभास—एतेषां तु सर्वत्रैवाभ्यनुज्ञा, बलं तु भगवतः क्वापि संचारणीयमिति तदङ्गीकारे जरासंधकृत्यमाह **इत्युक्त्वेति** ।

आभासार्थ—इनको तो सर्वत्र ही अनुमति है। भगवान् का बल तो कहीं भी चलाने योग्य है अर्थात् चलाया जा सकता है उनके अङ्गीकार करने पर जरासन्ध के कृत्य का वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।**
द्वितीयां स्वयमादाय निर्जगाम पुराद्बहिः ॥३३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कहकर जरासन्ध ने भीमसेन को एक बड़ी गदा दी और दूसरी गदा स्वयं लेकर नगर से बाहर निकले ॥३३॥

सुबोधिनी—द्वन्द्वयुद्धं शरीरबलनिमित्तकमिति गदायामेव शरीरबलं योजयितुं शक्यमिति निरायुधेन युद्धं न युक्तमिति तस्मै महतीं गदां प्रादात्। द्वितीयां तत्तुल्यां स्वयमादाय स्वरूपतः साधनतश्च फलरूपो भूत्वा स्थानबलं स्वगृहे स्वस्याधिकमिति स्वपुरं परित्यज्य युद्धार्थं पुराद्बहिर्निर्गतः ॥३३॥

आभासार्थ—द्वन्द्व युद्ध शरीर बल प्रदर्शित करने वाला है वह बल गदा में ही जोड़ने का है अर्थात् गदा से ही दिखलाया जा सकता है। विना आयुध के युद्ध करना उचित नहीं है, इसलिए भीम को बड़ी गदा दी, उसके समान दूसरी गदा स्वयं जरासन्ध ने ली, स्वरूप से और साधन से फलरूप होकर अपने गृह में अपना स्थान बल विशेष होता है, इस कारण से अपने पुर का त्याग कर युद्ध के लिए वाहर निकला ॥३३॥

आभास—ततो युद्धप्रकारं लौकिकमाह **ततः समे खले** इति ।

आभासार्थ—'ततःसमे खले' श्लोक में लौकिक युद्ध का नमूना कहते हैं—

श्लोक—**ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ ।**
जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥३४॥

श्लोकार्थ—फिर वे, रण में मदोन्मत्त वीर, युद्ध में आकर आपस में भिड़े और वज्र के समान गदाओं से प्रहार करने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी—कोमला भूमिः खलशब्देनोच्यते। असहायसमागमने हेतुः वीरौ इति। संयुक्तावितरेतरौ इति समारम्भे तुल्यता निरूपिता। वज्रकल्पाभ्यामिति गदामाहात्म्यम्। रणदुर्मदौ इति तयोः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—कोमल और समान भूमि पर,द्वन्द्व युद्ध प्रारम्भ की,सेना आदि की सहायता बिना आने का कारण यह था कि 'वीरों' (बहादुर) थे 'परस्पर आपस में भिड़ गए, इससे समारम्भ में

बराबरी (समानता) निरूपण की है, वज्रकल्पाभ्यां' पद से गदा का महात्म्य वर्णन किया है 'रण दुर्मदों' पद से दोनों का महात्मय दिखाया है ।।३४।।

श्लोक—मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।
चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ।।३५।।

श्लोकार्थ—जैसे रङ्गभूमि में नट खेलते हैं, उनकी तरह बाँए और दाहिने विचित्र मण्डलों में फिरते इन दोनों का युद्ध शोभा देने लगा ।।३५।।

सुबोधिनी—मण्डलानि गदायुद्धे प्रोक्तानि **सव्यं** यथा भवति **दक्षिणं** यथा भवति । **एवे**त्युभयोरवधारणम् । चकाराद्भयोरुभयं कदाचित् । एवं **चरतोर्युद्धं शुशुभे** द्रष्टॄणां तद्युद्धं सुखदं जातमित्याह **नटयोरिवे**ति । युद्धाभास एवायमनुकरणमिति शङ्कायामाह **रङ्गिणोरि**ति । रङ्गोनयोर्वर्तत इति युद्धे रसयुक्तौ, न त्वाभासावित्यर्थः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—गदा युद्ध में मण्डल कहे हैं, कभी एक बांऐ जाता है तो दूसरा दाहिने जाता है 'एव' पद से दोनों का यों करना दिखाया है, 'च' पद से कभी दोनों का दोई कदाचित् हो जाते थे । यों फिरते रहने से युद्ध शोभा देने लगा, देखने वालों को वह युद्ध सुखदायी हुआ, इसलिए दृष्टान्त देते हैं नटों की तरह युद्ध का खेल खेलने लगा, यह सच्चा युद्ध नहीं किन्तु युद्ध का आभास है अतः यह अनुकरण है इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'रङ्गिणोः' इन दोनों में रङ्ग है इसलिए युद्ध में रसवाले हैं न कि आभास है यह तात्पर्य है ।।३५।।

आभास—लोकानां रसजननान्यथानुपपत्त्या आभास एव भविष्यतीत्याशङ्क्य युद्धे शब्दं वर्णयति **ततश्चटचटाशब्द** इति ।

आभासार्थ—लोगों को अन्य प्रकार रस की उपपत्ति न होने से यह आभास ही होगा, यह शङ्का कर युद्ध करते हुए जो शब्द होने लगे उनका वर्णन 'ततश्चटचटा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसंनिभः ।
गदयोः क्षिप्तयोरेष दन्तयोरिव दन्तिनोः ।।३६।।

श्लोकार्थ—जैसे हाथियों के लड़ते हुए उनके दन्तों के शब्द होते हैं, वैसे ही आपस में चलाई जाती हुई गदाओं का वज्रपात के समान चटचटा शब्द होता था ।।३६।।

सुबोधिनी—वज्रनिष्पेषो वज्रपातस्तत्संनिभः तत्सदृशः । अन्योन्यं **क्षिप्तयोर्गदयोरेषः**, शब्दादपि महद्भयं संभवति सर्वेषां तेषां प्रहारेऽपि न तदिति माहात्म्यम् । **गदयोः** परित्यागशङ्काभावाय अपरित्यागाय वा दृष्टान्तः **दन्तयोरिव दन्तिनोरि**ति। ।।३६।।

व्याख्यार्थ—एक दूसरे पर फेंकी हुई गदाओं के वज्र के गिरने के समान चटचटा शब्द हो रहे थे, इन शब्दों से ऐसा बड़ा भय होता था वैसा उन सबको गदा को चोट से न होता था यह माहत्म्य है। गदाओं के परित्याग को शङ्का के अभाव के लिए अथवा अपरित्याग के लिए दृष्टान्त देते हैं जैसे हाथियों के युद्ध में उनके दान्तों का शब्द होता है तो भी वे लड़ना छोड़ते नहीं ।।३६।।

आभास—गदयोरेवान्योन्यं प्रहारो न तु देहयोरितिशङ्कां वारयितुं प्रहारं वर्णयति **ते वै गदे** इति ।

आभासार्थ—यह प्रहार परस्पर गदाओं का ही होता था न कि देहों का, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'ते वै गदे' श्लोक में प्रहार का वर्णन करते हैं—

श्लोक—ते वै **गदे भुजजवेन** निपात्यमाने
अन्योन्यतोंसकटिपादकरोरुजत्रून् ।
चूर्णीबभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे
संयुद्धचतोर्द्विरदयोरिव तीव्रमन्वोः ।।३७।।

श्लोकार्थ—उद्दीप्त क्रोध वाले हस्ती लड़ते हुए आक पर पड़ते हैं तो उनकी टहनियाँ जैसे टूट जाती हैं, वैसे ही भुजाओं के वेग से चलाई हुई गदाएँ जब एक-दूसरे के कन्धे, कमर, हाथ, पाँव, जाँघ (साथल) और हँसियों पर पड़ती थी, तब गदाएँ चूर्ण हो जाती थी ।।३७।।

सुबोधिनी—गदापेक्षया देहोऽत्यन्तं कठिन इति देहस्पर्शे गदानाश उच्यते। **भुजजवेनान्येनान्यस्योपरि निपात्यमाने अंसकटिपादकरोरुजत्रून्** षडङ्गान्युपेत्य **चूर्णीबभूवतुः**। देहगदयोस्तारतम्यार्थं दृष्टान्तमाह **यथार्कशाखे** हस्तिभ्यां निक्षिप्ते **यथार्कवृक्षशाखे**। तदभावे युद्धाभावो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **संयुद्धचतोरिति**। साधनमवयवा एवेति दृष्टान्तः **द्विरदयोरिवेति**। नन्ववयवस्य कथं साधनत्वं प्रहारे स्वस्यापि व्यथासंभवादित्याशङ्क्याऽऽह **तीव्रमन्वोरिति**। **तीव्रो मनुर्मन्युर्ययोः** ।।३७।।

व्याख्यार्थ—गदा की तुलना में देह अत्यन्त कठिन थी इसलिए देह के स्पर्श होते ही गदा का नाश कहा जाता है भुजाओं के वेग से एक दूसरे पर गिराई हुई गदाएँ कन्धे, कमर, पांव, हाथ, हांसल और हासिया इन छ अङ्गों पर पड़ती थी तब चूर्ण हो जाती थी, देह और गदा के तारतम्य दिखाने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि हस्तियों के पड़ने पर आक की टहनियों टूट जाती हैं किन्तु यहां गदाएँ चूर्ण हो गई। जिससे सिद्ध होता है कि गदाओं से देह कोमल थी और यहां आक की टहनियाँ कोमल है जो टूट गई हैं— तब युद्ध नहीं हुआ होगा, इस शङ्का के मिटाने के लिए कहते हैं कि 'संयुद्धचतोः' लड़ते हुए हस्तियों के पड़ने से, साधन अवयव ही हैं इसलिए दृष्टान्त है 'द्विरदयोरिव' हस्तियों की तरह अवयव साधन कैसे हैं ? प्रहार होने पर अपने को भी व्यथा होने का संभव होने

से यों शङ्का कर उत्तर देते हैं कि तीव्र (जबरदस्त) क्रोध से पूर्ण थे इसलिए उनको चोट का भान नहीं रहता था ॥३७॥

आभास—एवं गदायुद्धमुपसंहृत्य मुष्टियुद्धमाह **इत्थमिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार गदा युद्ध पूर्ण कर 'इत्थं' श्लोक से 'मुष्टियुद्ध' का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**इत्थं तयोः प्रहतयोर्गदयोर्नृवीरौ**
क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शैरपिष्टाम् ।
शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासीन्
निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥३८॥

श्लोकार्थ—इस तरह गदाओं के टूट जाने से उन दोनों वीरों ने क्रोध में आकर, लोहे के समान कठोर स्पर्श वाली मुक्कियों से आपस में मुक्कं-मुक्का की, जिससे एक-दूसरे के अङ्ग को चूर्ण करने लगे । हाथी के समान प्रहार करते हुए इन दोनों वीरों के चपेट मारने का शब्द वज्रपात के समान कठोर होता था ॥३८॥

सुबोधिनी—**तयोर्गदयोः प्रहतयोः** सत्योः तथापि **नृवीरौ क्रुद्धौ** सन्तौ **अयःस्पर्शैर्मुष्टिभिः** अपिष्टां अन्योन्यशरीरं पेषयामासतुः । तत्रापि पूर्ववच्छब्दमाह शब्दस्तयोरिति । तयोर्देहयोः संबन्धी शब्दः इभयोरिव गर्जनरूपो जातः । वीररसेन तयोरेव वा वाक् शब्दः उभयोरपीत्येके । अन्योऽपि तत्र शब्दो जात इत्याह निर्घातवज्रपरुषस्तलताडनोत्थ इति । निर्घातो निरभ्रविद्युत्पातः तादृशपातयुक्तो वज्रः ततोऽपि यः परुषः तलताडनं चपेटः तेनोत्थानं यस्य । अनेन महाप्रहारो निरूपितः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—उनकी गदाओं के चूर्ण हो जाने पर भी दोनों नरवीर क्रोध पूर्ण हो, लोहे के समान कठोर मुक्काओं से चूर्ण न हुए परस्पर के शरीर को चूर्ण करने लगे, वहां पहले की भांति शब्द हुए यों कहते हैं दोनों देहों के शब्द हस्तियों के समान गर्जना रूप होने लगा, कोई कहते हैं कि वीर रस के कारण उन दोनों के वाणी का शब्द वैसा होने लगा, वहां दूसरे प्रकार का भी शब्द हुआ, बिना बादल होते हुए गिरि हुई बिजली के पात के समान जो वज्र होता है उससे भी जो कठोर थप्पड़ है उससे निकला हुआ शब्द जोर से होने लगा, यों कहने से महान् प्रहार का निरूपण किया ॥३८॥

आभास—उपसंहरति **तयोरेवमिति** ।

आभासार्थ—'तयोरेवं' इस श्लोक से विषय का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—**तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।**
निर्विशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! अभ्यास, बल और प्रभाव से समान बल वाले भीम और जरासन्ध का बल, इतना लड़ते हुए भी कम नहीं हुआ, अतः दोनों में विशेष समान युद्ध होने लगा ॥३६॥

सुबोधिनी—समतायां हेतूनाह समशिक्षाबलौजसोरिति । युद्धे पराक्रमो बलं शिक्षा च हेतवः । तत्तुल्यत्वात् युद्धे विशेषाभावः । आवृत्त्यान्यबलक्षये युद्धे विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क्याह अक्षीणजवयोरिति । नृपेति संबोधनं विश्वासाय । आवृत्त्या जरासंधस्य क्षीणता भविष्यतीत्यभिप्रेत्य आवृत्तिः कृता । तज्जरया निर्मितोऽयमिति सर्वस्मादबलं समाहृत्य जरास्मै प्रयच्छतीति न कदाचिदप्यस्य ब्रलक्षयः, आसन्यत्वाद्भीमस्य नास्त्येव ॥३६॥

व्याख्यार्थ—भीम और जरासन्ध की समानता में हेतु कहते हैं शिक्षा, बल और ओज दोनों का एक जैसा है, युद्ध में पराक्रम बल और शिक्षा कारण हैं, वे बराबर होने से विशेषता का अभाव है, आवृत्ति से दूसरे के बल का क्षय होने से युद्ध में कोई प्रबल हो जाएगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहता कि 'अक्षीण जवयो' आवृत्ति होते हुए भी किसी का बल क्षीण नहीं हुआ, नृप ! यह संबोधन विश्वास उत्पन्न करने के लिए कहा है, आवृत्ति से जरासन्ध का बल कम होगा, यों विचार कर आवृति की, किन्तु बल क्षीण नहीं हुआ, क्योंकि यह जरा का निर्माण किया हुआ है अतः जरा सब ठौर से बल लाकर इसको देती है, इसलिए कभी भी इसका बल नाश होने का नहीं है, आसन्य प्राणरूप होने से भीम का भी बल क्षय नहीं होता है ॥३६॥

आभास—एवं तुल्यत्वे प्रयोजनं न सिद्धचतीति भगवान् भीममधिकबलं कृतवानित्याह **शत्रोरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार तुल्य बल होने से कार्य की सिद्धी न होगी इसलिए भगवान् ने भीम को अधिक बल वाला किया यह 'शत्रोर्जन्ममृती' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**शत्रोर्जन्ममृती विद्वाञ्जीवितं च जराकृतम् ।**
पार्थमाप्याययत्स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भगवान् शत्रु (जरासन्ध) के जन्म-मरण को जानते हैं, इसके दो भागों को जरा नाम वाली राक्षसी ने जोड़ा है, यह राक्षसी जरासन्ध को बल देती रहती है, यह विचार कर भगवान् ने अपना तेज भीम में स्थापन कर उसके वध का उपाय सोचने लगे ॥४०॥

सुबोधिनी—शत्रोर्जरासंधस्य सिद्धफलाच्छकलभूताज्जन्म शकलभूतस्यैव, शकलयोश्चाक्षयत्वं जराकृतसंधानेनैव च जीवितं शकलयो: स्वरूपतो नाशाभावात् विश्लेषादेव मरणं अतिवलादेव च विश्लेष: संभवतीति **पार्थ स्वेन तेजसा आप्याययत्**। स्वकालशक्ति तत्र स्थापितवानित्यर्थ:। कालकन्यापेक्षया कालशक्तेराधिक्यात्, ततस्तस्य वधोपायं अचिन्तयत्। यत: सतां दु:खहर्ता ॥४०॥

व्याख्यार्थ—हमारे शत्रु जरासन्ध का दो टुकड़े हुवे सिद्ध फल से जन्म हुआ है, इन दो टुकड़ों का अक्षयपन और जीवन जरा राक्षसी के किए हुए जोडान से ही हुवा है दोनों टुकड़ो का स्वरूप से नाश होने का नहीं है, अत: उन टुकड़ों के पृथक् होने से ही इसकी मृत्यु होगी वह पृथक्पन अतिशय वल से ही होगा, इसलिये भीम को अपने तेज से युक्त किया अर्थात् अपनी काल शक्ति उसमे स्थापित की, काल कन्या की अपेक्षा काल शक्ति अधिक बलवती है उससे उसके वध का उपाय सोचने लगे क्योंकि सत्पुरुषों के दु:ख के हरण करने वाले हैं ॥४०॥

श्लोक—**संचिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शन:।**
दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४१॥

श्लोकार्थ—अमोघ ज्ञान वाले हरि ने शत्रु के वध का उपाय विचार कर एक टहनी को चीरते हुए, उस संकेत से भीम को जरासन्ध के मारने का उपाय बता दिया ॥४१॥

सुबोधिनी—ततो विश्लेषमेवोपायं विनिश्चित्य **भीमस्य दर्शयामास**। चिन्तनमन्यथा न भवतीति ज्ञापनार्थमाह **अमोघदर्शन** इति। भीमस्य वा ज्ञानार्थं विशेषेण दर्शनम्। स्वयं भीमसंमुखो भूत्वा विटपं कस्यचिच्छाखां मध्ये विपाटयन् संज्ञया अभिज्ञानेन पाटयामास एवमयं पाटनीय इति ॥४१॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् भगवान् ने जरासन्ध को मारने का उपाय दो टुकडे करना ही है वह संकेत से भीम को दिखाया, भगवान् का निश्चित किया हुआ विचार अन्यथा नहीं होता है, क्योंकि भगवान् अमोघ दर्शन हैं, वह प्रकार भीम को समझाने के लिए विशेष प्रकार से दिखाया, स्वयं भगवान् भीम के सामने होकर वृक्ष की शाखा में से किसी टहनी को लेकर उसको मध्य से चीर डाला, इस संकेत से भीम को सूचित किया कि जरासन्ध इस प्रकार मध्य में से चीरने से मरेगा अत: उसके भी बीच से दो टुकड़े कर डालो तो मरेगा ॥४१॥

श्लोक—**तद्विज्ञाय महासत्त्वो भीम: प्रहरतां वर:।**
गृहीत्वा पादयो: शत्रुं पातयामास भूतले ॥४२॥

श्लोकार्थ—प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ महा बलवान भीमसेन ने उस उपाय को समझकर वैरी के पांवों को पकड़ कर पृथ्वी पर गिरा दिया ।।४२।।

सुबोधिनी—एवं भगवत्कृपया ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः प्रहरतां मध्ये श्रेष्ठः मल्लयुद्धमिषेण तं भूमौ पातयामास । पूर्ववदेव यथा तस्य शङ्का नोदेति । नन्वेवं मारणमनुचितमित्याशङ्क्याह शत्रुमिति । शत्रुः शातयिता यथाकथंचिद्वध्यः पादयोर्गृहीत्वा पातने विकलता च जाता ।४२।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् की कृपा से ज्ञान क्रिया शक्ति से युक्त, प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ मल्ल युद्ध के मिष से उसको पृथ्वी पर गिराया जैसे पहले यह शङ्का पैदा नहीं होती है इस प्रकार मारना उचित नहीं है, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'शत्रु' है, इसलिए यों मारने में कोई दोष नहीं है । शत्रु को जिस किसी तरह भी हो मारना चाहिए, दोनों पांवों को पकड़ कर गिराने में विकलता तो हुई है ।।४२।।

आभास—ततो मारणप्रकारमाह **एकं पादमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् 'एकंपादं' श्लोक में मारने का प्रकार बताते है—

श्लोक—एकं पादं पदाक्रम्य दोर्भ्यामन्यं प्रगृह्य सः ।
गुदतः पाटयामास शाखामिव महागजः ।।४३।।

श्लोकार्थ—एक पाँव को पांव से दबा कर दूसरा पांव हाथों से पकड़ कर जैसे गजराज वृक्ष की शाखा को चीर डालता है ऐसे जरासन्ध को, गुदा से लेकर ऊपर तक बराबर चीर कर दो टुकड़े कर डाले ।।४३।।

सुबोधिनी—पादौ त्वश्लिष्टौ एव अतो गुदतः पाटयामास । पूर्वं तस्मिन् ब्राह्मणबुद्धिर्जातेति कालशक्त्या गृहीत इति न प्रयत्नं कमपि कृतवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह शाखामिवेति । अनायासे दृष्टान्तो महागज इति ।।४३।।

व्याख्यार्थ—पांव तो जुड़े हुवे नहीं है अतः गुदा से चीर डाला, पहले तो उसमें ब्राह्मण वुद्धि उत्पन्न हुई, इसलिए कालशक्ति ने इसको अपनी तरफ खींच लिया जिससे इसने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया यों जताने के लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे गजराज बिना प्रयत्न के लीला करते ही वृक्ष की शाखा को तोड़ देता है वैसे ही काल शक्ति ने भी इसके दो टुकड़े कर डाले ।।४३।।

आभास—ततस्तस्य वधः सर्वजनीनो जात इत्याह **एकपादेति** ।

आभासार्थ—उसका वध सर्वजनीन हुआ यह 'एक पादो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एकपादोरुवृषरणकटिपृष्ठस्तनांसके ।
एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशः प्रजाः ॥४४॥

श्लोकार्थ—प्रजा ने उसके दो खंड समान देखे, जैसे प्रत्येक में एक पांव, एक उरु एक वृषण, एक कटि एक पृष्ठ, एक स्तन, एक कन्धा, शिर एक हाथ, एक ग्राँख एक भौंह ग्रौर एक कान देखा ॥४४॥

सुबोधिनी—एकपादः पादादिर्यस्य पादः ऊरुः वृषण. कटिः पृष्ठस्तनमंसः कं चेत्यष्टाङ्गानि द्वन्द्वरूपाणि भिन्नानि जातानि । द्वादशाङ्गेष्वप्यपराणि चत्वार्याह बाहुरक्षिभ्रूः कर्णश्च एको ययोः । एतादृशे शकले सर्वा एव प्रजा ददृशुः । ॥४४॥

व्याख्यार्थ—गुदा से चीरने के कारण पांव उपर ग्रा गया था इसलिए कहा है, कि यह पाद है ग्रादि जिसके ऐसे ग्राठ ग्रङ्ग, पाद, उरु, वृषण कटि, पीठ, स्तन, कन्धा ग्रौर कं (शिर) । जो दो दो थे वे पृथक् हो गए, सर्व द्वादश ग्रङ्गों में ग्राठ ऊपर कहे शेष चार कहते हैं कि बाहु, ग्रांख भौंह, ग्रौर कान, दोनों टुकड़ों मे यों एक एक १२ ग्रङ्गों को प्रजा ने देखा ॥४४॥

ग्राभास—ततो यज्जातं तदाह हाहाकार इति ।

ग्राभासार्थ—मरणानन्तर जो कुछ हुग्रा वह 'हाहाकारो' श्लोक मे कहते है—

श्लोक—हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वर ।
पूजयामासतुर्भीमं परिरभ्य जयाच्युतौ ॥४५॥

श्लोकार्थ—जरासन्ध के मरने पर बड़ा हाहाकार हुग्रा ग्रौर ग्रर्जुन तथा श्री कृष्णचन्द्र ने ग्रालिङ्गन कर भीमसेन का सत्कार किया ॥४५॥

सुबोधिनी—महान् सर्वैः कृतत्वात् बद्धानामपि यथा श्रवणं भवति । भगवान् तथा संपादितवान् मगधेश्वरमरणानन्तरमेव तथा भवतीति बोधयितुं तदानन्तर्यमनूदितम् । ततो भीमात्तेजो ग्रहीतुं व्याजेनालिङ्गनं प्रशंसां च कृतवानित्याह पूजयामासतुर्भीममिति । ग्रर्जुनोऽपि भगवदंश इति द्वयोर्निरूपणम् । स्तोत्रेण स्मये जाते तेजोऽपगच्छतीति स्तुतिः । जयोऽर्जुनः ग्रच्युतश्च । उभयोर्गुणस्तस्मिन्न गच्छतीति तथापदम् ।४५।

व्याख्यार्थ—मगधेश्वर के मरने के बाद सर्व ने ऐसा महान् हाहाकार किया जो जहां बन्धे हुए राजा थे उन्हों को भी सुनने मे ग्राया, भगवान् ने ही वैसा सम्पादन करवाया कि मगधेश्वर के मरजाने के बाद यों महान् हाहाकार होवे तो बंधन में पड़े हुए राजा सुनकर प्रसन्न होवे ग्रौर समझे कि हम ग्रव बन्धन से छूटेंगे, पश्चात् भगवान् ने भीम में जो तेज स्थापित किया था वह ग्रहण करने के लिए ग्रालिङ्गन ग्रौर प्रशसा रूप मिष कर भीम का ग्रालिङ्गन ग्रौर प्रशंसा की, ग्रर्जुन ने भी ग्रलिङ्गनादि किया, क्योंकि भगवदंश है इसलिए श्लोक में 'जयाच्युतौ' जय ग्रर्जुन ग्रौर ग्रच्युत

कृष्ण दोनों के नाम दिए हैं, स्तुति से प्रसन्नता होती है जिससे तेज चला जाता है दोनों ने इसलिए आलिङ्गन किया कि हम दोनों के गुण इस (भीम) में नहीं जावे इसलिए तथा पद दिया है ।।४५।।

श्लोक—सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः ।
अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं विभुः ।
मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये ।।४६।।

श्लोकार्थ—अप्रमेय स्वरूप, भूत भावन भगवान् ने उसके पुत्र सहदेव को मगध के राज्यासन पर अभिषेक कर इसको मगध का राजा बनाया और जरासन्ध ने जिन राजाओं को कैद किया था उन्हें कैद से छुड़ा दिया ।।४६।।

सुबोधिनी—ततः अराजकराज्ये स्थितिरयुक्तेति अन्यस्तस्मिन् देशे स्थापयितुमयुक्त इति अनुकूलस्तत्पुत्र इति सहदेवं तत्तनयं तत्रत्यानां भूतानामनुकम्पार्थमभ्यषिञ्चत् । यतो भगवान् सर्वसमः । ननु शत्रुं हत्वा तद्राज्यं स्वयं ग्राह्यं कथं तत्तनयाय दत्तवानित्याशङ्कायामाह अमेयात्मेति । भगवान् हितमहितं वा करोतीति न कस्यापि मेयः आत्मा यस्य । मगधानां स्वभावतोपि स पतिर्भवति तस्य विपरीतत्वेपि न काचित् क्षतिरिति ज्ञापयितुमाह विभुरिति । यदर्थमेतावत् कृतं तदाह मोचयामासेति । ननु येन निमित्तेन ते धृताः तदपगमाभावे कथं मोचनमित्याशङ्क्याह मागधेन संरुद्धा इति । मागधस्यैव मृतत्वात् हेत्वपगमः सुतरामेव जात इत्यर्थः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—बिना राजा के राज्य में स्थिती उचित नहीं है और उस देश में दूसरे देश का राजा राज्य पर बिठाना अयोग्य है अतः उसका पुत्र ही अनुकूल है, इसलिए उसके पुत्र सहदेव को वहां के रहवासी प्रजा की सहानुभूति के लिए राज्याभिषेक किया अर्थात् राजसिंहासन पर बिठाकर उसको वहा का राजा बनाया क्योंकि भगवान् को सर्व समान है, शत्रु को मार कर उसका राज्य अपने को ग्रहण करना चाहिए था उसके पुत्र को कैसे दिया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि भगवान् 'अमेयात्मा' है अर्थात् भगवान् यह कार्य कर हित कर रहे है वा अहित कर रहे हैं इसको कोई नहीं समझ सकता है मगधों का स्वभाव से भी भगवान् ही पति है ही यदि जरासन्ध उनके विरुद्ध हुआ तो भगवान् की किसी प्रकार क्षति नहीं हुई यह जताने के लिए कहते हैं कि 'विभु' सर्व समर्थ हैं, भगवान् ने जिस कार्य के लिए यह लीला की है, वह कार्य कहते है कि 'मोचयामास' छुड़ाये, जिस निमित्त वे कैद में रखे गए उस निमित्त (कार्य) के पूर्ण हुए बिना क्यों छुड़ाया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'मागधेन संरुद्धा' मागध ने इनको कैद में रखा था मागध ही मर गया तो उनके कैद में रखने का हेतु आप ही समाप्त हो गया ।।४६।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
त्र्यविंशाध्यायविवरणम् उत्तरार्धे द्वाविंशाध्यायः ।।२२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध २२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन
अवान्तर प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

स अध्याय में वर्णित भगवल्लीला के निम्न पद का अवलोकन करें

राग मारू

कंस खल दलन, रन राम रावन हतन,
दीन दुख हरन, गज मुक्त कारी।
नृपति चहुँ देस के बंदि जरासंघ के,
रैनि दिन रहत जिय दुखित भारी।।
सुनी जदुनाथ यह बात जब पथिक तैं,
धर्म सुत कें हृदय यह उपाई।
राजसू जज्ञ कौ कियौ आरम्भ मैं,
जानि कै नाथ तुमकौ सहाई।।
भीम अरजुन सहित बिप्र कौ रूप धरि,
हरि जरासंघ सौं जुद्ध माँग्यौ।
दियौ उनपै कह्यौ तुम कौऊ राजसी,
कपट करि विप्र को स्वांग स्वांग्यौ।।
हरि कह्यौ भीम अरजुन दोऊ सुभट ये,
कृष्न, मैं देखि लोचन उघारी।
वचन जो कह्यौ प्रतिपालता कौ करौं,
कै सभा माँहि पत जाहु हरि।।
पार्थ तुम नहीं समरत्थ मम जुद्ध कौं,
भीम सौं लरौं यह कहि सुनाई।
बीस औ सप्त दिन यों गदाजुद्ध कियौ,
दोउ बलवंत कोउ लियौ न जाई।।
स्याम तृन चीरि दिखराइ दियौ भीम कौं,
भीम तब हरषि ताकौ पछार्यौ।
जरा जरासंघ की संधि जोर्यौ हुतौ,
भीम ता संधि कौ चीरि डार्यौ।।
नृपनि कौं छोरि सहदेव कौं राज दियौ,
देव नर सकल 'जय जय' उचार्यौ।
सूर प्रभु भीम अरजुन सहित तहां तैं,
धर्मसुत देस कौं पुनि सिधार्यौ।।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७३वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७०वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २४वाँ अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—३"

जरासन्ध के बन्दीगृह से छूटे हुए राजाओं की विदाई और भगवान् का इन्द्रप्रस्थ लौट आना ।

कारिका – **चतुर्विंशे विमुक्तानां ज्ञानेनाज्ञानमोचनम् ।**
विषयात्मसमृद्धिं च प्राह कृष्ण इतीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस २४वें अध्याय में जरासन्ध को नाश कराके राजा जो कैद से छुड़ाये हैं उनको कृष्ण ने ज्ञान देकर उनका अज्ञान नष्ट किया यह कथा कही जाएगी ॥१॥

कारिका—**स्वधर्मैश्चेन्न पुष्टाः स्युर्निरोधस्तर्ह्यनर्थकः ।**
अतः स्वासक्तिसिद्धयर्थं ज्ञानराज्ये ददौ हरिः ॥२॥

कारिकार्थ—उनको ऐसा उपदेश दिया है कि अयत्न सिद्ध विषयों से समृद्धि बढानी, यदि ये राजा अपने धर्म से पुष्ट न होवें तो इनका निरोध निरर्थक हो जावे,

अतः भगवान् ने इनका निरोध सार्थक करने के लिए इनको राज्य दिया, राज्य मद से भगवान् को भूल न जावें तदर्थ हरि ने ज्ञान भी दिया ।।२।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते निरुद्धा राजानो मोचिता इत्युक्तं तेषां मुक्तानां भक्त्याधिक्येन पूर्ववत् स्थितिर्निरूप्यते, तत्र प्रथमं निरोधस्थानान्निर्गमनमाह **अयुते द्वे** इति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में यह कहा कि जरासन्ध के बन्धन में पड़े हुवे राजाओं को बन्धन से छुड़ाया, छुड़ाये हुवे उन राजाओं की भक्ति की अधिकता से पूर्व की भांति स्थिति निरूपण की जाती है, उसमें प्रथम निरोध स्थान से निकलना 'अयुते द्वे' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ।**
ते निर्गता गिरिद्रोण्या मलिना मलवाससः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, बीस हजार आठ सौ राजा जिनको लीला मात्र से युद्ध में जीत कर, जरासन्ध ने कैद किया था, वे मलीन वस्त्र और रूप वाले पर्वत की घाटी से बाहर निकल आए ।।१।।

कारिका—**एकविंशतिसाहस्रे वधस्तेषां हि संमतः ।**
ततः शतद्वयन्यूनास्तेन पूर्वं न मारिताः ।।

कारिकार्थ – जरासन्ध की इच्छा थी कि इक्कीस हजार राजा जब बन्दी बनेंगे तब उनका वध कर प्रमथनाथ को बलि दूंगा, किन्तु दो सौ कम थे इसलिए इनका वध नही किया ।

सुबोधिनी—एतज्ज्ञापयितुं संख्यामाह **अयुते द्वे शतान्यष्टाविति** । उलूखलबन्धनवदत्रापि शतद्वयन्यूनता । एतावतामेकत्र कथं स्थितिरित्यत्र हेतुमाह **लीलया युद्धि निर्जिता** इति । गिरिद्रोण्याः सकाशान्निर्गताः मलिना असंस्कृतदेहाः । मलवाससोऽप्रक्षालितवाससः । अनेन बहिःस्थितिरधमा निरूपिता ।।१।।

व्याख्यार्थ—यह जताने के लिए सख्या बताते हैं कि, बीस हजार आठ सौ। भगवान् को यशोदा ने जब उलूखल में बान्धना चाहा तो वह रज्जु दो अङ्गुल न्यून रही जिससे भगवान् बन्धन में न आ सके उसी तरह यहां भी दो सौ राजा कम हुवे इतमें बीस हजार राजाओं की एकत्र स्थिति कैसे हुई ? यों होने का कारण कहते हैं कि 'युद्धि निर्जिता' युद्ध में जरासन्ध जीत कर लाया था । पर्वत की घाटी से जब बाहर आए तब मलीन देह वाले थे और कपड़े भी मैले पहने थे इससे उनकी बाहर आने के समय बाहर की हालत खराब थी ।।१।।

आभास—अन्तःस्थितिं निरूपयति ।

आभासार्थ—भीतर की स्थिति का निरूपण करते हैं—

श्लोक—**क्षुत्क्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकर्शिताः ।
ददृशुस्ते घनश्यामं पतिकौशेयवाससम् ॥२॥**

श्लोकार्थ—भूख से दुबले, शुष्क मुख और कैद में रहने से बहुत कृश हो गए थे उन्होंने बाहर आके मेघ से श्याम, पीले कौशेय वस्त्र धारण किए हुए भगवान् का दर्शन किया ॥२॥

सुबोधिनी—क्षुत्क्षामाः रोगाद्यभावेऽपि भक्ष्याभावात् कृशाः । अन्तःसन्तोषाभावात् **शुष्कवदनाः** । इन्द्रियाणां पीडामाह **संरोधपरिकर्शिता** इति । परितः कर्शिताः क्लिष्टाः सर्वेन्द्रियेषु जातक्लेशाः । एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन परमापदमापन्नाः तत्क्षणादेव सर्वनिवृत्त्यर्थं भगवन्तं दृष्टवन्त इत्याह **ददृशुस्ते घनश्याममिति** । यादृशमात्मानं भगवान् प्रदर्शितवान् द्वादशलक्षणोपेतं तादृशमनुवर्णयति **घनश्यामादिभिः** पदैः । मानसो हि द्वादश वृत्तयः क्लिष्टा इति सर्वक्लेशनिवृत्त्यर्थं द्वादशधर्मप्राकट्यम् । तत्र शुष्काणामाप्यायनार्थं **घनवत् श्याममिति** । नीलमेघो ह्याप्यायकः । अनेन देहक्लेशो निवारितः । वाक्क्लेशव्यावृत्यर्थमाह **पीतकौशेयवाससमिति** । पीतं वासो हि वेदात्मकं तत्रापि स्वकर्मबद्धजीवकोशनाशेन प्रादूर्भूतम् । निवृत्तिबोधिका श्रुतिरिति यावत् । अनेन ज्ञानसहिता वागाविर्भवतीति सूचितम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—रोगी नहीं थे तो भी कृश थे कारण कि उनको पूरा भोजन नहीं मिला था जिससे भूख से दुबले हो गए थे, अन्तः करण में सन्तोष न होने से सब के मुख मुरझा के सूख गए थे, कैद मे बन्द रहने से सब इन्द्रियों में क्लेश होने से कृश हो गये थे, इस प्रकार बाहर और भीतर महान् आपदा में फँसे हुए उन राजाओं ने उसी क्षण ही आपदाओं से निवृति के लिए भगवान् के दर्शन किए, द्वादश लक्षण युक्त भगवान् ने जैसे स्वरूप से उनको दर्शन दिये वैसे स्वरूप का वर्णन करते हैं । भगवान् ने द्वादश धर्म इस लिए प्रगट किये थे जो मन की १२ वृत्तियाँ है वे सब दुःखी थी उनके दुःखों को छुड़ाना था उसमें शुष्कों को स्निग्ध करने के लिए मेघ की तरह श्याम धर्म धारण किया, श्याम मेघ ही स्निग्ध करता है । इससे देह का क्लेश निवृत्त किया, वाणी के क्लेश को मिटाने के लिए पीले कौशेय वस्त्र धारण किये हैं, पीले वस्त्र वेद रूप हैं उसमें भी अपने कर्म से वद्ध जीव कोश के नाश से उत्पन्न हुआ है यह श्रुति (वेद) निवृत्ति का बोध कराने वाली है, इससे ज्ञान सहित वाणी प्रकट होती है, यह सूचन किया ॥२॥

श्लोक—**पद्महस्तं गदाशङ्खरथाङ्गैरुपलक्षितम् ।
किरीटहारकटकटिसूत्राङ्गदाचितम् ॥३॥**

श्लोकार्थ—एक श्री हस्त में कमल धारण किया है, गदा, शङ्ख और चक्र से शेष

तीन श्री हस्त सुशोभित हैं, किरीट, हार कड़ा, कंदोड़ा तथा बाजूबन्द आदि आभूषणों से विभूषित ॥३॥

सुबोधिनी—ततो वसनक्लेशाभावाय अपामोषधीना च रसरूपं **पद्मं हस्ते** प्रदर्शनार्थे यस्य । ततो ममेत्यहङ्कारस्त्रिध इति तन्निवृत्त्यर्थं **गदाशङ्खरथाङ्गैः उपलक्षितं** स्त्रीपु नपु सकहेतिप्रयोगेण त्रिविधानामपि छेदनम् । एतावन्त एव हि ममताविषयाः । उपलक्षणत्वं तु सकृदेव निराकरणात् पुनः प्रयोजनाभावं ज्ञापयति **किरीटादिभिः पञ्चविधैरलङ्कारैः** पूजितश्चक्षुःक्लेशाभावाय । पञ्चविधं हि रूपमिति नीलश्वेतपीतरक्तचित्रभेदाद् अन्येषामत्रैवान्तर्भाव ॥३॥

व्याख्यार्थ—श्री हस्तमें कमल इसलिए धारण किया है कि जल एवं औषधियों का यह कमल रस रूप है अतः इसके धारण से वस्त्रों के पहिनने का क्लेश नाश हो गया है, पश्चात् तीन प्रकार के अहङ्कार की निवृत्ति के लिए तीन आयुध शेष तीन हस्तों में धारण किए है, जिनसे स्त्री पुम् और नपु सक रूप इन शस्त्रों से तीनों प्रकार के अहंकार का छेदन किया है, इतने ही ममता के विषय है, उपलक्षणत्व को तो एक बार ही निराकरण करने से फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता है, यह जताने के लिए किरीट आदि पांच प्रकार के आभूषणों से पूजित अर्थात् सुशोभित नेत्रों के क्लेश का अभाव करने के लिए रूप नील, श्वते, पीत, रक्त और चित्रित भेद से पांच प्रकार का ही होता है अन्यों का इनमें ही अन्तर्भाव है ॥३॥

आभास—श्रीवत्साङ्कमिति ।

अभासार्थ—श्रीवत्साङ्क श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**श्रीवत्साङ्कं चतुर्बाहुं पद्मगर्भारुणेक्षणम ।**
चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्रीवत्स के चिन्ह वाले, चार भुजा धारी कमल के गर्भ के समान नेत्र वाले सुन्दर और प्रसन्न मुख वाले झलकते कुण्डल वाले ॥४॥

सुबोधिनी—पादक्लेशाभावः ब्राह्मणपादक्लेस्तत्रैव निवारितः । **चतुर्बाहु**मिति हस्तयोः क्रियाया द्विगुणीकरणात् । **पद्मगर्भवदरुणे** ईक्षणेयस्येति मनसःक्लेशाभावः । नासिकयोर्वा । **चारु प्रसन्नं वदनं** यस्येति सर्वकामनापूर्त्या कामक्लेशनिवृत्तिः । **स्फुरन्मकरकुण्डल**मिति श्रोत्रस्य ॥४॥

व्याख्यार्थ—श्रीवत्स के चिन्ह से भृगु के चरण के क्लेश की निवृत्ति दिखाई । चतुर बाहु का भावार्थ है कि हस्तों के क्रिया को दुगुना किया है, कमल के गर्भ के समान नेत्र कहने से बताया है कि मानसिक क्लेश नही है अथवा नासिकाओं के क्लेश का अभाव दिखाया है । सुन्दर प्रसन्न मुख होने से यह दिखाया है कि सर्व काम पूर्ण होने से काम क्लेश की निवृत्ति हो गई है, मकराकृति कुण्डलो की चमक से श्रोतों के क्लेश का अभाव प्रकट किया है ॥४॥

श्लोक—भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।
पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।।५।।

श्लोकार्थ—कौस्तुभ मणि जिनके कण्ठ में देदीप्यमान हो रही है, वनमाला जिन्होंने धारण की है ऐसे भगवान् को, मानो नेत्रों से पीते हैं और जीभ से चाटते हैं ।।५।।

सुबोधिनी—भ्राजत्प्रकाशमानो यो मणिः स **ग्रीवायां** यस्येति । ज्ञानक्रिययोर्मध्यस्थेन जीवोत्क्रमक्लेशो निवारितः । **निवीतं वनमालयेति** व्यापिका कीर्त्या त्वक्स्पर्शक्लेशो निवारितः। एतादृशं भगवन्तं दृष्ट्वा सर्वेन्द्रियाण्यहमहमिकतया रूपरसगन्धस्पर्शार्थं प्रवृत्तानि इति वदन् तेषां भगवति सर्वभावप्रवृत्तिमाह **पिबन्त इव चक्षुर्भ्यामिति** । चक्षुषा हि रूपलावण्यामृतं पीयते, दर्शनं बहिःस्थितावेव, पानमन्तःप्रवेशनमिति विशेषः । उभाभ्यां पानं द्विहस्तभोजतवदत्यासक्ति बालभावं वा बोधयति । रसग्रहणार्थमाह **लिहन्त इव जिह्वयेति** गौर्वत्समिव । तथाभूतं **भगवन्तं दृष्ट्वा** तेषां तथाभावो जात इत्यर्थः ।।५।।

व्याख्यार्थ—दीप्तिमान् मणि जिनके कण्ठ में है, जिससे बताया है, कि ज्ञान और क्रिया का मध्य भाग कण्ठ है, क्योंकि ज्ञान मस्तक में रहता है और क्रिया शरीर में, इन दोनों को मिलाने वाली ग्रीवा है जो मध्य में है, उस ग्रीवा में मणि अर्थात् चैत्य तत्व धारण किया है जिससे जीव के उत्क्रम में क्लेश न होगा । सारे शरीर पर वनमाला व्याप्त थी, वनमाला कीर्तिरूप है, जिससे त्वचा के स्पर्श के क्लेश का निवारण किया, ऐसे भगवान् का दर्शन कर समस्त इन्द्रियाँ रूप-रस गन्ध के स्पर्श के लिए यों चाहने लगी कि मैं पहले जाकर पान करूं-जिसका वर्णन करते हैं कि 'पिवन्त इव चक्षुर्भ्यां' नेत्रों से ही लावण्यामृत पीया जाता है । दर्शन तो बाहर स्थित होकर किया जाता है । पान तो भीतर प्रवेश से होता है, इतना विशेष है । दोनों नेत्रों से पीना लिखा है जिसका भावार्थ यह है कि जैसे दो हस्तों से भोजन बालक करते हैं तो आपने भी दो नेत्रों से पान कर बाल भाव प्रकट किया है अथवा यों पीने से अत्यासक्ति दिखाई है । 'लिहन्त इव जिव्हया' लिख कर यह प्रगट किया है कि रस का ग्रहण कर रहे हैं जैसे गौ का बछड़ा चाटता है वैसे ही भगवान् को देख उनमें वैसा भाव प्रकट हो गया, यह तात्पर्य है ।।५।।

आभास—गन्धानुभवार्थमाह **जिघ्रन्त इव नासाभ्यामिति** ।

आभासार्थ—गन्ध के अनुभावार्थ 'जिघ्रन्त इव' **श्लोक** कहते हैं—

श्लोक—जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।
प्रणेमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्नृपाः ।।६।।

श्लोकार्थ—नासिकाओं से मानो सूंघते हुए, भुजाओं से मानो आलिङ्गन करते हुए राजाओं के सर्वपाप व कष्ट नष्ट हो गए । जिससे हे राजा ! वे मस्तकों से चरणों में पकड़कर प्रणाम करने लगे ।।६।।

सुबोधिनी—पूर्ववद्व्याख्येयम् । स्पर्शार्थमाह **रम्भन्त इव बाहुभिरिति ।** रम्भणमालिङ्गनं परिरम्भ इति यावत् । ग्रत्र बहुवचनं नानाविध-स्पर्शग्रहणार्थमवयवगतमभिप्रेतं चतुर्भुजत्वलक्षणं सारूप्यदानं वा बोधयति । एवं लौकिकभावेन भगवन्तमात्मसात्कृत्वा ततस्तृप्ताः सन्तः क्लेश-नाशे ज्ञानोदये विदितभगवदैश्वर्याः 'नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितम्' इति शास्त्रानुसारेण कर्तव्यान्तराभावात् स्नेहपूर्वकं नमस्कारं कृतवन्त इत्याह **प्रणेमुरिति ।** प्रशब्देन स्नेहं बोधयति । नमो नम इति वीप्सया स एवाभिप्रेत इति । नन्वेतादृशी बुद्धिः कथमेतेषां संजाता, तादृशा एवेति न मन्तव्यं निरुद्धत्वादित्याशङ्क्याह **हत-पाप्मान** इति । दर्शनेन भोगस्मरणाभ्यां च त्रिविधमपि पापं नष्टं ततः शुद्धाः सन्तः स्वस्य ज्ञानरूपमात्मानं परब्रह्मण्यक्षरे भगवच्चरणार-विन्दे योजयन्त इवान्तर्याम्यवतारभेदेनोभय-त्राप्यन्तर्बहिःसायुज्यार्थं पादयोः मूर्धभिरित्युक्तम् । **नृपा** इति विचक्षणाः । ग्रनेनैव राज्यभोगार्था-भावः सूचितः ॥६॥

व्याख्यार्थ—जैसे नेत्रों से लावण्यामृत पान किया वैसे नासिकाग्रो से गन्ध का ग्रहण किया, भुजाग्रों से ग्रालिङ्गन कर भगवान् के श्री ग्रङ्ग के ग्रवयव गत जो ग्रानन्द है उसको ग्रनेक प्रकार के स्पर्श करते हुए ग्रहण किया ग्रथवा ग्रालिङ्गन से सारूप्य दान का ग्रहण किया, यों लौकिक भाव से भगवान् के ग्रात्मसात् से तृप्त हो गए ग्रतः क्लेश नष्ट हो गया जिससे ज्ञान का उदय हुग्रा । उस ज्ञान से भगवान् के ऐश्वर्य को जान गए । जिससे 'नमो नम' यह इतना उपदेश सीख गए यों शास्त्र के ग्रनुसार दूसरा कर्त्तव्य न होने से स्नेह पूर्वक नमस्कार करने लगे, 'प्रणेमु' पद मे 'प्र' शब्द स्नेह बोधक है 'नमो नम' यों वीप्सा से वह ही ग्रभिप्रेत है, इनकी ऐसी बुद्धि कैसे हो गई ? वे ऐसे ही थे यों तो माना नहीं जा सकता है क्योंकि वे कैद में थे, इस शङ्का का निवारण करते है कि 'हतपाप्मान' भगवान् के दर्शन ग्रौर भोग से तथा स्मरण से तीन प्रकार के सब पाप नष्ट हो गये, उससे शुद्ध हुवे ग्रपने ज्ञान रूप ग्रात्मा को परब्रह्म के ग्रक्षर स्वरूप चरणारविन्द में मानो जोडते हुए, ग्रन्तर्यामी ग्रौर ग्रवतार के भेद से दोनों में भी भीतर बाहर सायुज्य के लिए चरणों में मस्तकों से प्रणाम करने लगे । 'नृपाः' ! संबोधन से बताया कि विचक्षण थे, इससे राज्य भोग ग्रर्थ का ग्रभाव दिखाया है ॥६॥

ग्राभास—नन्न क्लेशाभावार्थं कथं न नमस्कृत इत्याशङ्क्याह **कृष्णसंदर्शनाह्लाद-ध्वस्तसंरोधनक्लमाः** इति

ग्राभासार्थ—क्लेश के ग्रभाव के लिए क्यों नमस्कार नहीं की ? इस शङ्का निवारण के लिए **'कृष्ण संदर्शनाह्लाद'** श्लोक कहते हैं—

श्लोक—**कृष्णसंदर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।**
प्रशशंसुर्हृषीकेशं गीर्भिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री कृष्णचन्द्र भगवान् के दर्शन से उत्पन्न ग्रानन्द से जिनके कैद होने के क्लेश नष्ट हो गये हैं; ऐसे राजा लोग हाथ जोड़कर वचनों से स्तुति करने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—सदानन्दस्यान्तःप्रवेशरूपेण दर्शनेन जातानन्देन सूर्योदये तम इव **ध्वस्तः संरोधनक्लमः** ग्लानिर्येषां एवं सर्वभावेन सिद्धसमस्तपुरुषार्थाः एतादृशस्थितिदार्ढ्यार्थं भगवत्प्रेरणयैव भगवत्संतोषार्थं भगवत्स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह **प्रशशंसुरिति**। भगवत्प्रेरिता वाक् यथासुखं तं स्तौति तेषां न कापि चिन्तेति बोधयति **हृषीकेशमिति**। **प्राञ्जलय** इति चित्तशरीरसावधानता। नीतिज्ञानार्थमाह **नृपा** संबोधनपक्षेऽपि तथोचितत्वं बोधयति ॥७॥

व्याख्यार्थ—राजाओं को जो भगवान् का दर्शन हुआ वह केवल साधारण बाहर दर्शन नहीं हुआ था, किन्तु सदानन्द स्वरूप के भीतर प्रवेश होने से जो दर्शन हुआ उससे आनन्द प्रगट हुआ जिस आनन्द के प्रकट होने से जैसे सूर्योदय से अन्धकार नाश होता है वैसे राजाओं के कैद के क्लेश नष्ट हो गए, इस प्रकार सर्व भाव से समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो गए, इस प्रकार की स्थिति को दृढ़ करने के लिए, भगवत्प्रेरणा से ही भगवान् के सन्तोषार्थ भगवान् की स्तुति करने लगे। इस लिए कहा है कि 'प्रशशंसु': भगवान् से प्रेरित की हुई वाणी जैसे सुख की प्राप्ति हो वैसे भगवान् की स्तुति करती है, इसलिए उन राजाओं को कुछ भी चिन्ता नहीं, इसलिए समझाते हैं कि भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं अतः उनकी प्रेरित इन्द्रियाँ उनके सुखानुकूल ही कार्य करेगी, 'प्राञ्जलयः' पद से यह बताया है कि हाथ जोड़ने से सावधान शरीर वाले हो गए, नृप कहने से बताया है कि इनको नीति का ज्ञान है यदि 'नृपा' संबोधन माना जाय तो भी जो किया है वह उचित ही है ॥७॥

कारिका—**सगुणास्ते महात्मानो गुणातीतं हरिं मुदा।**
नवभिः श्लोकयामासुर्निर्गुणत्याय सर्वशः॥
प्रार्थना मत्सराभावो गतराज्यानुमोदनम्।
युक्तिस्तत्र स्वदोषोक्तिः स्वभाग्यस्याभिनन्दनम्॥
वैराग्यमुपदेशस्य प्रार्थना स्वाधिकारिता।
क्रमान्निरूपिता ह्यर्था यतस्तान् सुष्ठुबोधयत्॥

कारिकार्थ—वे राजा लोग सगुण हैं, अतः निर्गुण होने के लिए गुणातीत हरि की नव श्लोकों से स्तुति करते हैं ॥१॥

पहले श्लोक में-प्रार्थना, दूसरे श्लोक में मत्सर का अभाव, तीसरे में गए हुए राज्य का अनुमोदन, चौथे में युक्ति, पाँचवे में अपने दोष की प्रसिद्धि, छटे में अपने भाग्य का अभिनन्दन, साँतवे में उपदेश की प्रार्थना, आठवे में अपना अधिकारपन दिखाना, नवम से भगवान् के उपदेश का प्रारम्भ, उपदेश द्वारा उनको सुन्दर ज्ञान दिया।

आभास— आदौ प्रार्थयितुं नमस्यन्ति **नमस्त** इति।

आभासार्थ—पहले प्रार्थना करने के लिए 'नमस्ते श्लोक में प्रणाम करते हैं—

श्लोक—राजान ऊचुः—**नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नार्तिहराव्यय ।**
प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निर्विण्णान् घोरसंसृतेः ॥८॥

श्लोकार्थ—राजाओं ने कहा, हे देवों के देवों के ईश! शरणागतों के दुःखों का हरण करने वाले हे अविकारी ! घोर संसार से व्याकुल होकर आपकी शरण ली है, अतः हे कृष्ण ! शरणागतों की रक्षा करो ॥८॥

सुबोधिनी—तुभ्यं नमः । प्राथितदानसामर्थ्यमाह **देवदेवेश** इति । देवानामपि देवाः कालादयस्तेषामपि नियन्तेति । विद्यमानेऽपि सामर्थ्ये परदुःखप्रहाणेच्छा मृग्यत इति तामाह **प्रपन्नार्तिहरेति** अनुभवसिद्धश्चायमर्थः । भक्तार्थं व्यावृतावपि भगवतो न काचित् क्षतिरित्याह **अव्ययेति** । **प्रपन्नानामेवार्तिं** हरतीति । तस्य स्वाभावमुक्त्वा स्वस्य प्रपत्तिमाहुः **प्रपन्नान् पाहि नः कृष्णेति** । रक्षणस्थानं निर्दिशन्त इवाहुः **निर्विण्णान् घोरसंसृतेरिति** । घोरत्वमनुभूतमेव । जन्ममरणपरंपरा संसृतिः ॥८॥

व्याख्यार्थ—आपको नमस्कार है आप देवों के देव जो कालादि हैं उनके भी स्वामी है अतः हमारी प्रार्थनानुकूल दान देने मे समर्थ हैं, सामर्थ्य होने पर भी दूसरों के दुःखों के नाश की इच्छा है या नही ? इस पर कहते हैं कि शरणागतों की आर्ति को आप हरने वाले हैं, यह अर्थ अनुभव से सिद्ध है, भक्त के लिए कुछ भी करने में व्यावृत होने पर भी आप (भगवान्) की किसी प्रकार हानि नहीं हैं क्योंकि 'अव्यय' अर्थात् अविकारी हो, शरणागतों के दुखों को हरण करना यह प्रभु का स्वभाव ही है यह कहकर अनन्तर कहते हैं कि हम शरण पड़े हैं अत हम शरणागतों की रक्षा कीजिये, घोर जो जन्म मरण का दुःख है उससे हम व्याकुल हो गए हैं इस प्रकार इस प्रथम श्लोक में प्रार्थना की है ॥८॥

आभास—एवं पालनं प्रार्थयित्वा पूर्वं भगवता कृतं मोचनं लौकिकं चेत्फलत्वेन मन्यते तदा दुःखहानिवत्सुखमपि भगवान् लौकिकमेव दास्यतीति तन्निषेधार्थं दुःखदातरि मात्सर्याभावमाहुः **नैनं नाथान्वसूयाम** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पालन की प्रार्थना की, भगवान् ने जो आपको छुड़ाया यह लौकिक फल मानते हो तो दुःख नाश की तरह भगवान् सुख भी लौकिक ही देंगे, भगवान् यों कभी न करेंगे, क्योंकि उस दुःख दाता में असूया नहीं है यह 'नैनं नाथान्वसूयामो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**नैनं नाथान्वसूयामो मागधं मधुसूदन ।**
अनुग्रहो यद्भवतो राज्ञां राज्यच्युतिर्विभो ॥९॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ! हे मधुसूदन ! हम मगध से असूया नहीं करते है, हे सर्व समर्थ ! राजाओं का राज्य से भ्रष्ट होने को हम आपका अनुग्रह ही समझते है ॥९॥

सुबोधिनी—**एनं** हतं पातितं जरासंधम् । ननु त्वदर्थमेवायं मारितः कथमेवमुच्यत इत्याशङ्कायामाह हे **नाथेति** । नाथत्वादेव कृतं न त्वस्मत्प्रेरणयेत्यर्थः । असूया दोषारोपेण दर्शनं निर्दुष्टानस्मान् दोषयुक्तानकरोदिति दुष्टोऽयमिति । किंच । **मागधो**ऽयं देशदोषादस्याप्येवं बुद्धिः । तव च नायं पराक्रमः यतस्त्वं **मधुसूदनः** । असूयाभावे हेतुं स्पष्टयन्ति **अनुग्रहो यद्भवत** इति । **राज्ञां राज्यच्युतिः** सन्निपातिनामिव सन्निपातनिवृत्ति**र्भवतोऽनुग्रहः** । न ह्यनुग्रहसंपादकः असूयार्हो भवति । नन्विष्टसाधनं राज्यं तस्मिन् गते कथमिष्टं भविष्यतीत्याशङ्कायामाहुः **विभो** इति ॥९॥

व्याख्यार्थ—राज्य से गिराये तथा मारे हुए इस जरासन्ध से हम असूया नहीं करते हैं, आपके लिए ही तो इसको हमने मारा है फिर आप यों कैसे कहते हो? इसका उत्तर देते हैं कि, हे नाथः आप नाथ हैं, नाथ होने से ही किया है, न कि हमारी प्रेरणा से किया है, यह भाव है, यह जरासन्ध दुष्ट है इसलिए हम लोग, जो दोष रहित है, उनको असूया से दोषी बनाया है, और विशेष यह है, कि इसको ऐसी बुद्धि देश दोष से भी हुई है, इसको मारा. इससे कोई आपका पराक्रम प्रकट नहीं होता है, क्योंकि आप तो मधुसूदन हैं, असूया के न होने में हेतु देकर स्पष्ट करते हैं 'अनुग्रहो यद्भवत' राजाओं को राज्य से भ्रष्ट करना तो उन पर अनुग्रह है, जैसे सन्निपात के रोगियों को सन्निपात से छुड़ाना उन पर अनुग्रह है । अनुग्रह करने वाला मात्सर्य के योग्य कभी नहीं होता है अर्थात् वह मात्सर्य वाला नहीं कहा जाता है, वह तो कृपालु है जो उसने रोग से छुड़ाकर नीरोगा बनाया है, इष्ट को सिद्ध करने वाला राज्य जावे तो फिर इष्ट की प्राप्ति कैसे होगी ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप 'विभू' है अर्थात् सर्व समर्थ हैं अतः राज्य विना सच्चा इष्ट सिद्ध करा सकते हैं ॥९॥

आभास—राज्यस्यानर्थहेतुत्वमाहुः **राज्यैश्वर्येति** ।

आभासार्थ—'राज्यैश्वर्य' श्लोक से कहते है । कि राज्य अनर्थ का हेतु है—

श्लोक—**राज्यैश्वर्यमदोनद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।**
त्वन्मायामोहितो नित्या मन्यते संपदोऽचलाः ॥१०॥

श्लोकार्थ—राज्य के ऐश्वर्य से उत्पन्न मद से उन्मत्त बना हुआ राजा अपने कल्याण को समझ नहीं सकता है और आपकी माया से मोहित होकर सम्पदाओं को स्थिर एवं नित्य समझता है ॥१०॥

सुबोधिनी—**राज्ये यदैश्वर्यं** ईश्वरोऽहं यथासुखं करिष्यामीति यो **मदः** तेन **उन्नद्धो** मत्तः यत् स्वस्य **श्रेयो** धर्मादिकं तन्न जानाति कदापि न प्राप्नोति वा । न च तस्य कामदशा सेति धर्मादिकं नास्त्येवेति मन्तव्यं यतो नृपः प्रजारक्षाधर्मवान्, तदपि न करोतीति तात्पर्यम् । नन्वर्थोऽपि श्रेयो भवति तत् संपादनं करोतीति कथमेवमुच्यत इत्यत आहुः **त्वन्मायामोहित** इति । सत्यं संपदः श्रेयो भवति परं समूलाश्चेत् तासां मूलं धर्मादिः तदभावे अमूलाः सत्यः क्षणान्निवर्तन्ते एतादृशीः **संपदः** भगवन्**मायामोहितः नित्या** एव **मन्यते अचलाश्च** । अल्पनाशश्चलनं सर्वनाशोऽनित्यता तस्मान्मोहजनकत्वात् निर्मूलाः संपदः न समीचीनाः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—राज्य प्राप्त होने पर जो ऐश्वर्य मिलता है जिससे समझने लगता है कि मैं ईश्वर हूं, सब कुछ सुख पूर्वक करूंगा इस प्रकार का जो मद उससे मत्त हो जाता है जिससे अपना जो श्रेय प्रजारक्षा धर्मादिक उसको नहीं जान सकता है, अथवा कभी भी श्रेय को प्राप्त नहीं होता है, उसकी वह कामदशा नहीं है, किन्तु धर्मादिक उसमें नहीं है यों समझना चाहिए क्योंकि राजा का धर्म है प्रजा की रक्षा करना, वह भी अभिमान में आकर नहीं करता है, कहने का यही तात्पर्य है। अर्थ भी श्रेय होता है उसका सम्पादन करता है तो फिर इस प्रकार आप कैसे कहते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपकी माया से मोहित हो सत्य सम्पदाएँ जो श्रेय हैं यदि वे समूल हो जिसका मूल धर्मादि है उस धर्मादि के अभाव में वे श्रेय सम्पदाएं निर्मूल होने से क्षण में नष्ट हो जाती है, ऐसी क्षणिक सम्पदाओं को भगवान् की माया से मोहित नित्य तथा स्थिर मानता हैं, अल्प नाश को चलन कहते हैं, सर्वनाश को अनित्यता कहते हैं इस कारण से मोह पैदा करने वाली संपदाएं निर्मूल होने से अच्छी नहीं है ।।१०।।

आभास—किंच । संपदां सर्वथा दुष्टत्वं नास्ति किंतु निर्मूलानामेवेति निरूप्य सर्वथा दुष्टत्वं दृष्टान्तेनाहुः **मृगतृष्णामिति** ।

आभासार्थ—सम्पदाऐं सर्वथा दुष्ट नहीं हैं किन्तु जो निर्मूल सम्पदाऐं हैं वे दुष्ट हैं यों निरूपण कर अब संपदाओं की दुष्टता सर्वथा है यह दृष्टान्त देकर 'मृगतृष्णा' श्लोक में समझाते हैं—

श्लोक—**मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।**
एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ।।११।।

श्लोकार्थ—यद्यपि ये सम्पदाऐं अनित्य हैं तो भी ये सदा स्थिर रहेगी यों वे मानते हैं जैसे बालक मृगतृष्णा के जल को जलाशय समझते हैं वैसे जो आपका भजन करते हैं वे विकार वाली माया को सत्य वस्तु समझते है ।।११।।

सुबोधिनी—दृष्टिमात्रेण संपदात्वं वस्तुतस्त्वर्थशून्यत्वादात्वमेव यथा मरुमरीचिकायां जलबुद्धिः। प्रत्युत ग्रीष्मे धावनं कारयन्ती अनर्थहेतुरेव । तथापि बाला विवेकशून्याः युक्त्या बाधितजलदेशेपि तां जलाशयमेव । **मन्यते एवमयुक्ता**स्त्वच्चरणारविन्दयोग रहिताः **वैकारिकीं** नाना विकाररूपां बाधितार्थामपि **मायां वस्तु चक्षते** । न ह्यात्मनि विकल्पो नानाविधत्वं वा भवति तथापि विकारजातं वस्तुत्वेन मन्यमानः मायामोहित एव भवति । ।।११।।

व्याख्यार्थ—केवल देखने में तो सम्पदा आवे वास्तव में कोई पदार्थ उसमें नहीं जिससे आपदा ही प्राप्त होती है, जैसे मरूमरीचिका (वालु रेत) में जल की बुद्धि, जो ग्रीष्म ऋतु में उस तरफ दौड़ती है किन्तु अन्त में जल न मिलने से अनर्थ हेतु ही होती है, जैसे बालक अर्थात् मूर्ख, युक्ति से वह प्रदेश जल हीन है तो भी उसको बड़ा नद ही मानते हैं इस प्रकार जिनका आपके चरणारविन्द से योग नहीं हुआ अर्थात् जो आपका भजन नहीं करते हैं वे इस विकार वाली और जो कुछ पदार्थ है ही नहीं उसको पदार्थ समझते हैं, आत्मा में विकल्प वा नाना प्रकार नहीं होता है तोभी विकार जात की माया से मोहित हो वस्तुपन से मानते है ।।११।।

आभास—ननु भ्रान्तानामेव संपदोनर्थहेतव न युष्माकमित्याशङ्कायामाहुः **वयं पुरेति** ।

आभासार्थ—जो भ्रान्त हैं उनके लिए ही सम्पदाऐं अनर्थ हेतु हैं न कि तुम्हारे लिए, इस शङ्का का उत्तर 'वयं पुरा' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**वयं पुरा श्रीमदनष्टबुद्धयो जिगीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।**
घ्नन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्घृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वावगणय्य दुर्मदाः ॥१२॥

श्लोकार्थ—हमारी भी पहले लक्ष्मी के मद से बुद्धि नष्ट हो गई थी, जिससे हम इस पृथ्वी को जीतने की इच्छा से आपस में ईर्ष्या करते थे, हे प्रभु! हम दुर्मद हो, सामने स्थित मृत्यु को ध्यान में न लाकर अति निर्दयी बन अपनी प्रजाओं का हनन करते थे ॥१२॥

सुबोधिनी—श्रीमदेन नष्टा बुद्धिर्येषां वयं तु सुतरामेव पुरैव नष्टाः । यतः**अस्याः** पृथिव्याः **जिगीषया इतरेतरस्पृधो** जाताः । स्पर्धा ह्यात्मनो मुख्यो नाशहेतुः । न केवलं समानशीलेषु स्पर्धैव दोषः किंतु तदीयाः **प्रजाः अतिनिर्घृणाः** सन्तः जाताः । **स्वा** अपि प्रजा वृथादण्डादिभिः । **प्रभो** इति संबोधनं तेषामप्रभुत्वं सूचयति । ननु राज्यदानसमय एव भगवता राज्यस्थिताः सर्व एव तेभ्यो दत्ता इति स्वकीया यथा सुखं कुर्वन्तु को दोष इति चेत् तत्राहुः **त्वां मृत्युं पुरः** स्थितम**वगणय्येति** । स हि मृत्युर्भगवान् किमयं करिष्यतीत्यग्रे निलीय तिष्ठति अन्यथाकृते मारयिष्यतीति ज्ञात्वपि तमवगणय्य स्थिताः । एवं मतिविभ्रमे हेतुः **दुर्मदा** इति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—लक्ष्मी के मद से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, हम तो पहले ही इसलिए ही नष्ट हो चुके थे, क्योंकि इस पृथ्वी को जीतने की इच्छा से परस्पर ईर्ष्या वाले हो गए थे। ईर्ष्या ही अपने नाश का मुख्य कारण है, समान शील वालों में ही केवल स्पर्धा हो यह दोष नहीं था, किन्तु अपनी जो प्रजाऐं थी उनको भी अति निर्दयी हो व्यर्थ दण्ड आदिकों से दुःख देते थे, प्रभो! इस सम्बोधन से अपना अ प्रभुत्व सूचित करते हैं, भगवान् ने राज्य देने के समय ही राज्य में स्थित सर्व द्रव्यादि इनको दे दिया क्योंकि अपने हैं अतः जैसे सुख मिले वैसे भले करें इसमें कौनसा दोष है? यदि यों कहो तो कहते हैं कि आप जो मृत्यु रूप सामने खड़े हो उसका भी तिरस्कार कर रहे हैं यह भगवान् मृत्यु है किन्तु क्या करेगा? छुप कर रहता है अन्यथा करने पर मारेंगे यह जान कर भी उसका तिरस्कार करते रहते हैं क्योंकि मति का विभ्रम हो गया है जिसमें कारण है कि 'दुर्मदा' दुष्ट जो मद उससे हम युक्त हैं अर्थात् हम मद में आ गए हैं ॥१२॥

आभास—तर्हि भगवान् किमुपेक्षां कृतवान् मारितवान् वेत्याशङ्कायामाहुः **त एवेति** ।

आभासार्थ—तो भगवान ने क्या उपेक्षा की अथवा मारा? इस शङ्का का उत्तर 'त एव' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।
कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ।।१३।।**

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! वे ही हम आज आपकी कृपा से, गंभीर वेग वाले, आपके शरीर रूप, अपार बल वाले काल ने लक्ष्मी छीनली जिससे गर्वहीन हो आपके चरणों का स्मरण करते हैं ।।१३।।

सुबोधिनी—**कृष्णे**ति स्नेहात् संवादेन जातधाष्ट्र्यानां संबोधनम् । **अद्ये**ति नैतत्परोक्षम् । किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **गभीररंहसा** गभीरवेगेण **कालेन श्रियः** सकाशाद्विचालिता । कालस्य सामर्थ्ये तत्र द्वेषाभावे च हेतुः भवतस्तन्वेति । काल वञ्चयितुं देशान्तरगमनं वारयति **गभीररंहसे**ति । प्रतीकारं वारयति **दुरन्तवीर्ये**णेति । ननु मम तत्वेनि कथं निश्चितं तत्राहुः यतो राज्य भ्रंशानन्तरं **भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाः** । गतदोषाः सन्तः चरणौ **स्मरात ते** । महान्तं गुणं प्राप्ता यदि भगवानेव तथा न कुर्यात्तदा राज्यभ्रंशे सुतरामेव सद्बुद्धिर्न स्यात् भगवांस्त्वतिकृपालुः अनर्थात्त्याजयित्वा परमार्थे योजित वानिति कार्यानुरोधात् कालस्य तव शरीरत्वमध्यवसीयते ।।१३।।

व्याख्यार्थ—कृष्ण! यह संबोधन राजाओं ने तब दिया है जब उनमें स्नेह से भगवान् से संवाद करते हुए धृष्टता उत्पन्न हो गई । 'अद्य' पद से यह बताया कि यह परोक्ष नही किन्तु सामने ही है अर्थात् आज क्या हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि गभीर वेग वाले काल से हम लक्ष्मी से दूर हो गए, काल मे इतनी सामर्थ्य कहाँ से आई? द्वेश के भी अभाव में हेतु देते हैं 'भवतःतन्वा आप का ही शरीर है, अतः आपके शरीर में दूसरे से तो सामर्थ्य आने की नहीं है, स्वयं शक्तिमय हैं, और आप होने से द्वेष का भी अभाव स्वतः सिद्ध है, काल को ठगने के लिए दूसरे देश में चला जाना था जिसके उत्तर में कहते है 'गभीर रंहसा' वह काल जबर्दस्त वेग वाला है वहाँ भी पहुंच जाने में जिसको देरी नहीं लगती है, यों नहीं कर सकते तो प्रतीकार करना था, जिसका उत्तर देते हैं कि उसमें इतना वीर्य है जिसका अन्त लेना कठिन है, काल मेरा शरीर है यह कैसे जाना, तो कहते हैं कि आप की कृपा से अभिमान नष्ट हो गया, अभिमान नाश होने से सब दोष निकल गए, जिससे आपके चरणों का स्मरण करता हूँ, अतः महान् गुण को प्राप्त हुए यदि भगवान् ही वैसा न करे तो राज्य भ्रंश होने पर भी आपही सद्बुद्धि नहीं आती है भगवान् ने तो, बहुत कृपालु होने से, अनर्थ से छुड़ा कर परमार्थ में लगा दिया, यों कार्य के अनुरोध से 'काल' आपका शरीर समझा जाता है ।।१३।।

आभास—ननु दोषसहितानामेव राज्यमनर्थहेतुः यथा ज्वरसहितानामन्नम् । अतः सांप्रतं दोषस्य निवृत्तत्वात् राज्यं गृह्णन्त्वित्याशङ्क्यामाहुः **अथो न राज्यं मृ तृष्णि**रूपितमिति ।

आभासार्थ—दोष वालों के लिए ही राज्य अनर्थ का हेतु है जैसे ज्वर वालों को अन्न अनर्थ का हेतु है, अतः अब दोष निवृत्त हो गए हैं राज्य ग्रहण करे, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अथो न राज्यं'—

श्लोक—अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत्पतता रुजां भुवा ।
उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचकम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—रोग के गृह और निरन्तर नाश होने वाली देह से मृगतृष्णा समान राज्य को भोगना हम नहीं चाहते हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु परलोक में कर्णप्रिय फल वाले स्वर्ग को भी नहीं चाहते हैं ।

सुबोधिनी—अनेन इहामुत्र दोषप्रदर्शनपूर्वकं वैराग्यं निरूप्यते । **अथो दोषगमनान्तरं राज्यं न स्पृहयामहे** । राज्यस्य स्वरूपतो दोषमाह **मृगतृष्णिरूपितमिति** । अर्थशून्यमिति यावत् । अस्य करणं त्वतिदुष्टमित्याह **देहेनोपासितव्यमिति** । न हि राज्यमात्मना सेव्यं किंतु देहेनैव देहस्तु विद्यमानदशायाम् । अग्रे च दुष्टमिति दोषद्वयमाह **शश्वत्पतता** सर्वदा मृत्युग्रस्तेन **रुजां भुवा** रोगोत्पत्तिस्थानेन अतः स्वतः परिकरतश्च दुष्टत्वात् वयं न **स्पृहयामे** । एवमैहिकफले दोष उक्तः । पारलौकिकेप्याह **क्रियाफलं** च **प्रेत्य** न स्पृहयामाह इति । क्रिया यागादिस्तस्य फलं स्वर्गादिः तदपि प्रेत्यैव मृत्वैव प्राप्तव्यं लोका जातिभ्रंशप्राप्यमपि न मन्यन्ते कथं मृत्युप्राप्यं बुधो मन्यते । तत्रापि कर्णमात्ररोचकं दूरात् समीचीनमिति श्रूयते न तु समीचीनं स्पर्धासूयाभयादीनां तत्रैवाधिक्यात् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—इससे इस लोक और परलोक में दोष दिखाकर उनसे अपना वैराग्य निरूपण करते हैं, 'अथो' का अर्थ है दोषों के जाने के अनन्तर अर्थात् हमारे दोष नष्ट हो गए हैं तो भी, हम राज्य को नहीं चाहते है, राज्य के स्वरूप से दोष बताते हैं, मृगतृष्णा के समान अर्थ, शून्य है फिर इसका साधन, अर्थात् जिस देह से राज्य भोग किया जायगा वह देह भी बहुत दोषों वाली है, राज्य आत्मा से भोगा नही जाता है देह से ही भोगा जाता है, देह तो वर्तमान (मौजूद) दशा में सदा नहीं रहती है, आगे दोष युक्त हो जाती है, जैसे कि सर्वदा मृत्यु से ग्रस्त है और रोगों की उत्पत्ति का क्षेत्र है, अतः स्वयं और परिकर दोनों से राज्य दुष्ट होने से हम अब नहीं चाहते हैं, इस प्रकार इस लोक के फल में दोष बताया, अब परलोक में भी दोष कहते हैं, । यज्ञ आदि क्रियाओं के फलस्वरूप स्वर्ग आदि जो मरने के अनन्तर मिलता है वह भी नहीं चाहिए, क्योंकि लोक जाति भ्रंश होने से जो मिलता है वह भी लेना नहीं मानते हैं तो मृत्यु से प्राप्य समझदार लेना कैसे पसंद करेगा ? फिर उसमें भी वहां का सुख केवल कर्ण प्रिय है, दूर से ही अच्छा लगता है, वास्तव में अच्छा नहीं है क्योंकि वहाँ स्पर्धा, असूया और भय यहां से विशेष है ॥१४॥

आभास—एवमैहिकामुष्मिकफलवैराग्यं निरूप्य ज्ञानोपदेशे स्वयमधिकारी इति ज्ञापयित्वा प्रार्थयन्ते तन्नः समादिशोपायमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार इस लोक और परलोक से अपना वैराग्य निरूपण कर दिखाया कि हम अब ज्ञानोपदेश के अधिकारी हैं इसलिए 'तन्नः समादिशोपायं' श्लोक से प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—**तन्नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः।**
मतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥

श्लोकार्थ—इस संसार में भ्रमण करने वाले हमको ऐसा उपाय बतलाईए कि जिससे हम आपके चरणारविन्द को भूल न जावें ॥१५॥

सुबोधिनी—चरणस्मरणेनैवैतावद्दूरे समागतमिति निरन्तरस्मरणहेतुमेव प्रार्थयन्ते, उपाय श्चेत् ज्ञायते तदैव साध्यं स्वाधीनं भवत्यतो **यथा येनो**पायेन ते चरणाब्जविषयिका **मतिर्न विरमेत्**। स्वतो मतिस्थापनमशक्यमिति वक्तुं तद्विघातकं निर्दिशति **अपि संसरतामिह** इति। संसृतिरेव जननमरणरूपा भगवच्चरणविस्मारिका। तर्हि तदभाव एव प्रार्थनीयः स्यात् कथं स्मरणोपायप्रार्थना तत्राहुः **अपीति**। संसरणं त्वभीष्टं भगवदीयमार्गोपयोगित्वादिति भावः ॥१५॥

व्याख्यार्थ— चरणों के स्मरण करने से ही इतने दूर पहुँच गए हैं, इसलिए सदैव स्मरण रहे जिसके वास्ते प्रार्थना करते हैं, यदि उपाय का ज्ञान हो जाय तब ही साध्य अपने आधीन होता है, अतः जैसे जिस उपाय से आपके चरण कमल के विषय वाली मति हो जावे वहाँ से कभी भी विराम न पावे वह उपाय कृपया कहिये, स्वयं स्वतः आपके चरणों में मति स्थापित करनी अशक्य है, क्योंकि हम जन्म मरण रूप संसार चक्र में भ्रमण कर रहे हैं, वह भ्रमण भगवान् के चरणों को विस्मरण कराने वाला है, वह ही विघातक है, यदि यों है तो उसके अभाव की प्रार्थना कीजिए, स्मरण के उपाय की प्रार्थना क्यों करते हो, "अपि" शब्द से इसका उत्तर दिया है कि यह संसार तो अभीष्ट है क्योंकि भगवद्भक्तों के मार्ग के लिए उपयोगी है यों भाव है अतः चरण स्मरण रहे उसका उपाय ही हम चाहते हैं वह बताईए ॥१५॥

आभास—एवं प्रार्थयित्वा भगवतः षड्गुणख्यपकानि नामान्यनूद्य नमस्यन्ति कृष्णायेति।

आभासार्थ— इस प्रकार प्रार्थना कर भगवान् के छः गुणों के प्रसिद्ध करने वाले नाम कहकर नमन करते हैं 'कृष्णाय' श्लोक से।

श्लोक—**कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।**
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥

श्लोकार्थ—कृष्ण, वासुदेव, हरि, परमात्मा, प्रणत लोगों के क्लेश मिटाने वाले गोविन्द भगवान् आपको हम नमस्कार करते हैं ॥१६॥

सुबोधिनी— सदात्मकत्वात्कालरूपत्वाद्वा वैराग्यहेतुः । **वासुदेवो** ज्ञानहेतुः, शुद्धसत्त्वं वसुदेव इति । **हरिः** श्रीहेतुः बाह्यं दुःखं श्रियैव गच्छतीति । **परमात्मा** यशोहेतुः, सर्वोत्कर्ष एव यशःकारणम् **प्रणतानां क्लेशनाशो** हेतुः वीर्यकार्यम्, **गोविन्द** इन्द्रत्वादीश्वरः, आदरे वीप्सा । आदरेण नमनं सर्वकार्यसाधकमिति सूचितम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ— श्रीकृष्ण सदात्मकपन से अथवा कालरूप पन से वैराग्य के हेतु हैं, 'वासुदेव' होने से ज्ञान के कारण है क्योंकि वसुदेव शुद्ध सत्त्व है अतः सत्व से उत्पन्न वासुदेव ज्ञान के कारण है, 'हरि' होने से श्री के कारण हैं क्योंकि बाहर का दुःख श्री से ही नाश होता है, 'परमात्मा' होने से यश के कारण है क्योंकि सर्वोत्कर्ष ही यश का कारण है, परमात्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु सर्वोत्कर्ष वाली नहीं है, शरणागतों के क्लेशनाश के कारण है यह कार्य वीर्य गुण का है, गोविन्द नाम से इन्द्र का सत्वन कर ऐश्वर्य गुण दिखाया है, यह आदर में वीप्सा, है आदर से नमन करने से सर्व कार्यों की सिद्धि होती है क्योंकि आदर से प्रणाम करना सर्व कार्यों की सिद्धी का कारण है यो सूचित किया है ।।१६।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **संस्तूयमानो भगवानिति** ।

आभासार्थ— पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन शुकदेवजी 'संस्तूयमानो' श्लोक में करते है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच —**संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः।**
तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्ष्णया गिरा ।।१७।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि बन्धन से मुक्त हुए राजाओं ने इस प्रकार जब स्तुति की, तब दयालु और शरणागत वत्सल भगवान् मधुर वाणी से हे तात ! संबोधन देकर कहने लगे ।।१७।।

सुबोधिनी—महान् स्तुतिप्रियो भवत्येव । अत उक्तं **भगवानिति** । महद्भिः स्तुतस्तुष्यतीति ज्ञापयितुं **राजभिरिति** । मोचनेन गतार्थतां वारयति **मुक्तबन्धनैरिति** सकृत्प्राप्तफलैर्वा । धाष्ट्र्ये क्रोधमकृत्वा वरदाने हेतुः **करुण** इति । **तातेति** परीक्षित्संबोधनमप्रतारणाय । **शरण्य** इति स तस्य सहजो धर्म इति । **श्लक्ष्णा** वाणी श्रवणमात्रेण सुखदात्रीति । शब्दोऽपि पञ्चमो विषयो निरूपितः ।।१७।।

व्याख्यार्थ— जो महान् होता है वह स्तुति प्रिय होता ही है इसलिए कहा 'भगवान्' अर्थात् षड्गुण सम्पन्न होने से महान् है फिर 'राजभिः' पद से दिखाया है कि स्तुति करने वाले भी राजा होने से महान् है अतः महान् पुरुषों से स्तुत होने से आप प्रसन्न होते हैं, बन्धन से छूटने का आशय है कि एक ही कार्य से फल की प्राप्ति हो गई है । राजाओं ने धृष्टता की है, तो भी, क्रोध न कर वरदान दिया, जिसका कारण यह है, कि आप दयालु है 'तात' यह संबोधन देकर बताया है कि

हम आपको ठगते नहीं, सत्य भाव कहते हैं 'शरण्य' पद से दिखाया है कि आप में शरणागतों पर दया कर उनकी रक्षा करने का सहज गुण है, सुन्दर मधुर वाणी सुनते ही आनन्द देनेवाली है 'शब्द' भी पाँचवाँ विषय निरूपण किया है (पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां श्लोक में 'रूप', 'रस', 'गन्ध' और 'स्पर्श' ये चार कहे हैं यहां 'शब्द' पाँचवाँ विषय भी कह दिया है) ।

कारिका—**जिज्ञासार्तो तदधिकारे द्वयमस्तीति वै हरिः ।**
सात्त्विकेभ्यो मुख्यशास्त्रं सगुणं प्राह योग्यतः ।।
स्वकीयान् षड् गुणान्प्राह षड्भिः सर्वत्र दुर्लभान् ।
भक्तिदानं बुद्धिशंसा राज्यदोषः कृपाकृतिः ।।
ऋणत्रयं निराकृत्य तत्र चिन्ता विरागता ।
एवं स्वधर्मैर्हरिप्राप्तिरिति वाक्यार्थसङ्ग्रहः ।।

कारिकार्थ—भगवान् ने राजाओं में 'जिज्ञासा' और आर्ति, ये दो धर्म उनमें उपदेश योग्य अधिकार के देखे, अतः उन सात्विकों को सगुण मुख्यशास्त्र सुनाने लगे, आपके छ गुण जो सर्वत्र दुर्लभ हैं उनको निम्न प्रकार क्रम से कहा १-भक्ति का दान २-बुद्धि की प्रशंसा ३-राज्य का दोष ४-उन पर कृपा की ५-तीन ऋणों से मुक्ति ६-वैराग्य ये छ गुण छ श्लोकों से कहे हैं जिनसे भक्त को भगवान् की प्राप्ति होती है ।

आभास—जरासंधवधेन तेषां शरीराणि मोचयित्वा स्तुत्या तुष्ट आत्मनो मोचयति **अद्यप्रभृतीति** षड्भिः ।

आभासार्थ— जरासन्ध के वध से इन राजाओं के शरीरों को बन्धन से छुड़ाया, अब स्तुति से प्रसन्न होकर इनके आत्माओं को संसार रूप कैद से छुड़ाने के लिए भगवान् 'अद्य प्रभृति' श्लोक से ६ श्लोकों में राजाओं को उपदेश देते हैं ।

श्लोक—श्री भगवानुवाच—**अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ।**
सुदृढा जायतां भक्तिर्बाढमाशंसितं तथा ।।१८।।

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे भूपतिओं ! सब का ईश्वर और आत्मा जो मैं हूँ, उसमें जैसी भक्ति तुम चाहते हो वैसी ही आज से लेकर दृढ भक्ति होवे ।।१८।।

सुबोधिनी—आदौ तैर्यत्प्रार्थितं स्मृतिविच्छेदो मा भवत्विति तत्रोत्तरमाह **अद्यप्रभृति** वो युष्माकं **मयि सुदृढा भक्तिर्जायतामिति** । अत्यन्तस्नेह एव नित्यं स्मरणमिति सिद्धान्तः प्रयोजनसाधकत्वं

त्वौपाधिकं संस्मरणहेतुः, तदप्याह **मयि आत्मनि अखिलेश्वर** इति । अन्तर्बहिरावश्यकसेव्य इति । **भूपा** इति संबोधनं तारतम्यज्ञानार्थम् । **बाढं यथेष्टं इदं यथावदाशंसितमेव दत्तं न त्वपूर्वम्** ॥१८॥

व्याख्यार्थ— पहले जो इन राजाओं ने मांगा था कि आपका स्मरण सदा बना रहे कभी भी आपको भूल न जाए, इसका उत्तर कहते है, आज से लेकर तुम्हारी मुझ मे सुदृढ़ भक्ति होवे नित्य स्मरण ही अत्यन्त स्नेह है यह सिद्धान्त है, प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्मरण तो औपाधिक है, वह भी कहते हैं । मैं जो सबकी आत्मा और सब का ईश्वर हूं वह मै अन्दर और बाहर अवश्य ही सर्वदा सेवा के योग्य हूं, 'भूपा' यह संबोधन, तारतम्य के ज्ञान के लिये है, जो आपको इष्ट है और जो आपने चाहा है वह ही दिया है न कि अपूर्व दिया है ॥१८॥

आभास--तर्हि आशंसायां दोषो भविष्यतीत्याशङ्क्य साध्वाशंसितमित्याह **दिष्ट्या व्यवसितं भूपा** इति ।

आभासार्थ— तो प्रार्थना में दोष होगा ? इस शङ्का का उत्तर देते है कि नहीं प्रार्थना तो अच्छी की है यह 'दिष्ट्या' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ।**
श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे भूपतिओं ! तुम्हारा उद्यम श्रेष्ठ है, आप सत्य बोलने वाले हैं, श्री के साथ जो ऐश्वर्य है उससे मनुष्यों में उत्पन्न सर्वदा मद की जो स्थिति है उसको देखने से मालूम होता है कि मद की स्थिति भ्रम को जगाती है ॥१९॥

सुबोधिनी-एतादृशो व्यवसायो न साधारणानां भवति । निरन्तरस्मरणोपायप्रार्थनाविषयः । किंच । **भवन्त ऋतभाषिणः** राज्यस्यानर्थहेतुत्वभाषणं भवतामन्तःकरणपूर्वकं सत्यमेव यतः अहमपि **श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं नृणामुन्मादकमेव पश्ये** । श्री सहितं यदैश्वर्यं तेन यो **मदोन्नाहः** मदबन्धनं सर्वदा मदस्थितिः तत् नृणामुन्मादकं भ्रान्तिं जनयतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणम**हं पश्य** इति ॥१९॥

व्याख्यार्थ— ऐसा व्यवसाव साधारण पुरुषों को नहीं होता है निरन्तर स्मरण होता रहे जिसके उपाय बताने के लिए प्रार्थना है, तुम, सत्य बोलने वाले हो यों कैसे कहते हो, तो उसका उत्तर देते हैं कि राज्य अनर्थकारो है, यों हमारे सामने तुम अभी कह चुके हो, अतः तुम्हारा अन्तः करण सत्य ही है क्योंकि मैं भी मनुष्यों को लक्ष्मी के मद से भ्रमित और अभिमानी देख रहा हूं जिस मद की अधिकता से भ्रान्ति होती है, मेरा इस प्रकार देखना ही इसमें प्रमाण है ॥१९॥

आभास—अत एव बहवो मया तस्माष्मदात्त्याजिता इत्याह **हैहय** इति ।

आभासार्थ— मैंने उस मद से वहुतों को छुड़ाया है 'हैहय' श्लोक में वह बताते हैं—

श्लोक—**हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ।**
श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥२०॥

श्लोकार्थ—सहस्रार्जुन, नहुष, वेन, रावण, नरकासुर, और दूसरे भी देव, दैत्य तथा राजा लोग 'श्री' के मद होने से अपने स्थान से गिरे हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—यद्यद्यैव एव एव त्याजिताः स्युः तदा अविवेकदशायां मात्सर्यमपि भवेत् पूर्वमप्येवंभावे तु 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इतिवन्न दोषः संभवति सुतरां ते चेन्महान्तः अतस्तेषां महत्त्वसिद्ध्यर्थं नामानि गृह्णाति । **हैहयः** सहस्रार्जुनः । **नहुषः** ययातिपिता । परशुरामेण इन्द्राण्या च भ्रंशितौ । **वेनो** ब्राह्मणैः । **रावणो** रामेण । **नरको** मयैव । **अपरे** चैवंभूताः हिरण्यकशिपुप्रभृतयः शतशः सन्ति **श्रीमदात् स्थानाच्च** च्याविता- राज्यं शरीरं च दूरी कृतमिति । **देवा** नहुषादयः **दैत्या** हिरण्यकशिपुप्रभृतयः **नरेश्वरा** अर्जुनादयश्चेति त्रिगुणा अपि स्थानभ्रष्टाः क्रियन्ते ॥२०॥

व्याख्यार्थ— यदि आज ही केवल ये ही गिराए जावें तो अविवेक दशा में इनको मात्सर्य भी हो जाय, किन्तु आगे भी यों हुवा है, अतः 'न दुःखं पन्चभिः सह' इस उक्ति के अनुसार वहुतों से जो कुछ दुःख हुवा है यदि वैसा अपने को भी हो जाय तो उसमें दोष नहीं है, यदि वे वहुत कर महान् पुरुष होवे तो, इसलिए उनके नाम कहते हैं।

१- सहस्रार्जुन, नहुष इनको परशुराम और इन्द्राणी ने गिराया है। वेन को ब्राह्मणों ने गिराया, रावण को रामने गिराया है, नरकासुर को मैंने गिराया है और दूसरे भी ऐसे लक्ष्मीमदान्ध हिरण्यकशिपु प्रभृति सैकड़ों 'श्री' मद के कारण स्थान से गिरे, राज्य और शरीर दोनों गए, नहुष आदि देव थे हिरण्यकशिपु आदि और अर्जुन आदि नरेश्वर भी गिरे, तीन गुण वाले स्थान भी भ्रष्ट किए जाते हैं ॥२०॥

आभास—अतो मदे सति स्थानभ्रंशो भविष्यतीति निश्चित्य मदं परित्यज्य मदुक्तं कुरुतेत्याह **भवन्त** इति ।

आभासार्थ— अतः मद होने पर स्थान भ्रष्ट होगा यह मन में निश्चय से समझ कर मद का त्याग कर मेरा कहा करो, यह 'भवन्त' श्लोक में कहते है।

श्लोक—**भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।**
मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥२१॥

श्लोकार्थ—ऊपर दिए हुए दृष्टान्तों से तुम समझ लो कि देह, राज्य आदि सब अन्त वाले हैं अतः यज्ञ आदि से मेरा यजन करो तथा धर्म से प्रजा की रक्षा करो ॥२१॥

सुबोधिनी—**एतत्** पूर्वोक्तं भ्रंशरूपमनुभवयुक्तिभ्यां विशेषतो ज्ञात्वा । देहादौ वैराग्यं कर्तव्यमिति वदन् प्रथमं देहदोषमाह **देहादि** देहराज्यादिकम् । **उत्पाद्यं** केनचिदुत्पाद्यते न तु नित्यं सहजम् । अत एव **अन्तवत** नश्वरं **एतत्** ज्ञात्वा देहरक्षायां शिथिलप्रयत्नाः सन्तः तेन स्वत एव दैववशात् विद्यमानेना**ध्वरैर्यागैर्मा यजन्तः धर्मेण प्रजा रक्षथ** । राज्ञः प्रजापालनं यज्ञाश्च धर्माः ॥२१॥

व्याख्यार्थ— यह पहले कहा हुआ राजाओं के गिरने का कारण अनुभव और युक्ति से विशेष जानकर देह आदि में वैराग्य करना चाहिए, यों कहते हुए प्रथम देह दोष कहते हैं, देह राज्य आदि यह सब किसी प्रकार से भी पैदा होते है, अतः ये नित्य स्वभाव सिद्ध नहीं है, इसलिए इनको अन्तवाला अर्थात् नाशवाला समझकर देह (राज्य) की रक्षा में स्वल्प प्रयत्न करो स्वतः ही दैव वश से जो विद्यमान हो उससे यज्ञ द्वारा मेरा पूजन करो और धर्म से प्रजा कि रक्षा करो, प्रजा की रक्षा करना और यज्ञ करना राजा के धर्म हैं ॥२१॥

आभास—साधारणं धर्ममाह **वितन्वन्तेः प्रजातन्तू**निति ।

आभासार्थ— 'वितन्वन्तः प्रजातन्तून्' श्लोक में साधारण धर्म कहते है ।

श्लोक—**वितन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ ।**
प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मच्चित्ता विचरिष्यथ ॥

श्लोकार्थ—पुत्र आदि सन्तति उत्पन्न करते हुए और सुख दुःख लाभ और अलाभ जो आ जाय, उसका सेवन करते हुए मुझमें चित्त लगाकर विचरते रहो ॥२२॥

सुबोधिनी—गृहस्थस्यैवैष धर्मः सर्वत्रैव पुरुसार्थसिद्धिरिति वक्तुं नाश्रमान्तरमुपदिशति **प्रजातन्तून्** सन्ततिपरंपराम्, **वितन्वन्तः** विशेषेण संपादयन्तः, तदनन्तरं **सुखं दुःखं भव** उद्भवः, **अभवो** हानिः । एतच्चतुष्टयं साध्यसाधनरूपं दैववशात् **प्राप्तं प्राप्तं** सकृत् क्लेशं प्राप्य निवृत्तो रोगे पुनरागते पूर्वानुभूतदुःखभयात्तन्निराकरणार्थं यत्नो न कर्तव्य इति सूचयितुं वीप्सा । चकारादन्यान्यपि सुखदुःखसाधनानि प्राप्तानि । सहने साधनं **मच्चित्ता** इति कृष्णोऽस्ति मम, किमनेन समीचीनेनासमीचीनेन वेति निश्चित्य यथाप्राप्तार्थानुभवः कर्तव्य इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ— सर्वत्र ही पुरुषार्थ सिद्ध करना यह गृहस्थ का ही धर्म है, यों कहने के लिए दूसरे आश्रमों का उपदेश नहीं करते हैं, अतः कहते हैं कि पुत्रादि सन्तति का विस्तार करते हुए, सुख, दुःख, लाभ और हानि ये चार साध्य और साधन रूप प्रारब्ध वश प्राप्त होवे तो उससे प्राप्त क्लेश का एक बार अनुभव कर लेना चाहिए । रोग निवृत्त हो जाकर पुनः आजावे तो पहले अनुभव किए हुए दुःख के भय से उसके निराकरणार्थ यत्न नहीं करना चाहिए, ऐसी शिक्षा देने के लिए दो बार 'प्राप्तं प्राप्तं' कहा है, 'च' पद से यह सूचित किया है कि दुःख के मिटाने के अन्य साधन प्राप्त भी हो एवं सुख प्राप्त्यर्थ दूसरे साधन होवें तो भी उनका उपयोग नहीं करना चाहिए, दुःखादि के सहन में उनका साधन यही है कि उनका चित्त मुझमें है, वे यों ही रटते हैं कि जो कुछ

है वह मेरे तो कृष्ण ही हैं, (अशक्ये वा सुशक्ये सा सर्वथा शरणं हरिः) इस अच्छे सुख अथवा बुरे दुःख से क्या ? यों निश्चय कर जैसा भी अर्थ प्राप्त हो उसका अनुभव करते रहना चाहिए यों तात्पर्य है ॥२२॥

आभास— एवं कृते यद्भविष्यति फलं तत्साधनसहितं निर्दिशति **उदासीना** इति ।

आभासार्थ— यो करने से जो फल होगा वह साधन सहित 'उदासीना' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ।**
मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥२३॥

श्लोकार्थ—जो तुम देह आदि सब पदार्थों से उदासीन एवं आत्माराम होकर नियम पूर्वक रहोगे और मुझमें मन अच्छी तरह लगाओगे तो अन्त में परब्रह्म रूप मुझको प्राप्त करोगे ॥२३॥

सुबोधिनी—स्वेषु धनबन्ध्वादिषु देहधर्मादिषु च उदासीना भवन्तु मा भवन्त्विति रागद्वेषरहिताः । न केवलं वहिर्मुखताभाव एव जयोजकः किन्त्वात्मरमणमपि एतदुभयसिद्धयर्थं धृतभगवद्व्रताः । एवं साधनैर्यावज्जीवं **मयि सम्यङ् मन आवेश्य** अन्ते मरणसमये ब्रह्मस्वरूपं **मां यास्यथ** गमिष्यथ । मध्ये देहनाशार्थं प्रयत्ने देहे बीजं तिष्ठेत, अतो देहान्तस्यैव प्रतीक्षा कर्तव्या । मत्स्मरणमेव कर्तुं शक्यं कार्यसाधकं च ततश्च मत्प्राप्तिरेव भविष्यति । मम ब्रह्मत्वात्तत्फलं मोक्ष एवेति फलं तत्स्तुतिश्चोक्ता ॥२३॥

व्याख्यार्थ— अपने धन बन्धु आदि में तथा देह के धर्मादि में राग द्वेष रहित होकर रहो अर्थात् इनमें न प्रेम रखो और न द्वेष रखो, ऐसी, वृत्ति को उदासीन वृति कहते हैं । आप वैसे बन के रहो, केवल वहिर्मुखता का अभाव नहीं होना चाहिए किन्तु आत्मा में रमणभी चाहिए । इन दोनों की सिद्धि के लिए साधन बताते हैं कि 'धृतव्रता' अर्थात् भगवान् का ही व्रत धारण करिए, इस प्रकार साधनों से जब तक जीवन है तब मुझ में मन को पूर्णरीति से प्रवेश कराके, अन्त में अर्थात् मरण समय में ब्रह्म स्वरूप मुझको पाओगे, मध्य में देह नाशार्थ प्रयत्न होने पर भी देह में बीज रहे अतः देहान्त की ही प्रतीक्षा करनी चाहिए, कार्य की सिद्धि करने वाला मेरा स्मरण ही करना शक्य है उससे मेरी ही प्राप्ति होगी, मैं ब्रह्म हूँ जिसका फल मोक्ष ही है इस प्रकार फल और उसकी स्तुति दोनों कही है ॥२३॥

आभास—एवं निरभिमानस्थितिं प्रेमभक्तिं निरन्तरस्मरणमन्ते मोक्षं च तेभ्यो दत्त्वा कृतार्थानपि लोकपुरस्कारार्थं लौकिक्य परिचर्यया संस्कृतान् कृतवानित्याह **इत्यादिश्येति** त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार अभिमान रहित स्थिति, प्रेमभक्ति, निरन्तर स्मरण और अन्त में मोक्ष देकर कृतार्थ किया, कृतार्थ हुए उनको लौकिक पुरस्कार के लिए लौकिक परिचर्या से संस्कृत करने लगे, यों 'इत्तादिश्य' से तीन श्लोकों में कहते है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच - इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः ।
तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियोमज्जनकर्मणि ।।२४।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्ण ने राजाओं को इस प्रकार आज्ञा कर उन्हें स्नान आदि कराने के लिए कितनेक पुरुष व स्त्रियों को आज्ञा दी ।

सुबोधिनी—यतः **कृष्णः** सदानन्दः भक्तपुखार्थ मेव गृहीतावतारः । साधनसंपत्त्यर्थमाह **भुवनानामीश्वर** इति । **तेषां** प्रथमं **मज्जनकर्मणि** स्नान कर्मणि **पुरुषान् स्त्रियश्च न्ययुङ्क्त** । श्रमापनोद पुरुषैः सौष्ठवं **स्त्री**भिरित्युभयविनियोगः । अमज्जनकर्मणि मज्जनकर्मणि वा येषु **कर्मसु कृतेषु** मज्जनममज्जनं वा प्राप्नोतीति श्मश्रु कर्मोन्मर्दनादिषु मज्जनं तिलकादिष्वमज्जनमिति ।।२४।।

व्याख्यार्थ— क्योंकि श्रीकृष्ण सदानन्द ने भक्तों को सुखदान देने के लिए अवतार धारण किया है, साधन सम्पत्ति के लिए कहते है कि लोकों के ईश्वर हैं, पहले उन राजाओं के स्नान आदि कर्म कराने के वास्ते पुरुष और स्त्रियों को लगाया अर्थात् आज्ञा दी, उनका श्रम अर्थात् थकावट दूर करना आदि कार्य पुरुष करा सकेंगे, सुख से स्नान आदि स्त्रियों करा सकेगी इसलिए दोनों को इस कार्य में लगाया, दो प्रकार के कार्य हैं एक प्रकार वह जिसके करने से स्नान आदि करना पड़े वह मज्जन कर्म, जिस कर्म करने से स्नानदि न करना पड़े वह अमज्जन कर्म है, जैसे कि बाल बनवाना, तेल की मालिश आदि कर्म के अनन्तर स्नान करना पड़ता है अतः वह मज्जन कर्म है, तिलक आदि कर्म करने पर स्नान नहीं करना पड़ता है अतः वह अमज्जन कर्म हैं ।।२४।।

श्लोक—सपर्यां कारयामास सहदेवेन भारत ।
नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्त्रग्विलेपनैः ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! राजाओं के योग्य वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दन लेपन आदि से पूजन सहदेव से कराया ।।२५।।

सुबोधिनी—ततस्तो राजानो गृहे समागता इति **सहदेवेन** जरासंधपुत्रेण कृत्वा तेषां **सपर्यां** पूजां विधिवत्**कारयामास** । **भारते**ति धर्मकर्मणि विश्वासार्थम् । पूजायां प्रकारमाह **नरदेवोचितै**रिति । उत्कृष्टैः कञ्चुकोष्णीषादिभि**र्भूषणैः** कुण्डलादिभिः **स्त्रग्भिश्चन्दना**दिभिः ।।२५।।

व्याख्यार्थ— पश्चात् वे राजा घर आए, तब जरासन्ध के पुत्र सहदेव से उनकी विधिवत् पूजा करवाई, 'हे भारत !' सम्बोधन से बताया कि धर्म कर्म में आपका विश्वास है पूजा का प्रकार कहते हैं कि, राजाओं के योग्य जैसी पूजा होनी चाहिए वैसी करवाई, उत्कृष्ट कञ्चुक, पगडी (पाग) आदि वस्त्रों से और कुण्डल आदि आभूषणों से माला और चन्दन के लेप आदि से पूजा की ।।२५।।

श्लोक—**भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान् ।**
भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥२६॥

श्लोकार्थ—अच्छी तरह स्नान किए हुए और सुन्दर आभूषण वस्त्रादि पहने हुए, माला चन्दन आदि से सुशोभित राजाओं को सुन्दर अन्न का भोजन कराया, अनन्तर राजाओं के योग्य ताम्बूल आदि दिये यों सत्कार किया ॥ २६ ॥

सुबोधिनी—ततो **वरान्नेन** पक्वेन **भोजयित्वा** पुनः सायं **सुस्नातान् समलङ्कृतान् विविधैर्भोगै**-र्नृत्यगीतादिभिर्युक्तान् चकार । नृपभोगे प्रथमं ताम्बूलमिति अन्नवस्त्राणा सर्वसाधारणत्वाद् अवान्तरभेद एव भवति । तत्रापि **नृपोचितैः** ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् सुन्दर पक्वान्न आदि पदार्थों से भोजन कराया फिर शाम को स्नान कराके वस्त्र आभूषणों से समलङ्कृत किया और अनेक प्रकार के भोग नृत्य आदि से उनको प्रसन्न किया. राजाओं के भोग में पहिले ताम्बूल का आदर है, उनके यहां अन्न वस्त्रदि तो साधारण है वह अवान्तर है, उसमें भी यह सर्व राजाओं के योग्य किया गया ॥२६॥

आभास—भगवत्संस्कृतांस्तान् वर्णयति **ते पूजिता** इति ।

आभासार्थ—भगवान् से संस्कृत उन राजाओं का दर्णन करते है । 'ते पुजिता' श्लोक में ।

श्लोक—**ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।**
विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥२७॥

श्लोकार्थ—मुक्तिदाता भगवान् ने उनका सत्कार किया, तब वे उज्वल कुण्डल धारण किए, क्लेश से मुक्त हो वैसे शोभा देने लगे जैसे वर्षा ऋतु के अन्त में ग्रह शोभा देते हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—पूर्वमन्यद्वारा संस्कृता अपि वाक्यैरुत्तमपदार्थदानैश्च **मुकुन्देन** पुनः **पूजिताः** सर्व एव **राजानः मृष्टकुण्डलाः** रत्नोज्ज्वलकुण्डलाः सन्तः राज्यलक्षणं प्राप्य विशेषेण **रजुः** पूर्वावस्थापेक्षायापि । तत्र हेतुः **क्लेशाद्विमोचिता** इति । क्लेशभोगानन्तरं पुनः संस्कारे अधिका कान्तिर्भवति । अत्र दृष्टान्तमाह **प्रावडन्ते यथा गृहा** इति पूर्वापेक्षयापि मेघापगमे ग्रहाः शुक्रादयः सोज्ज्वला भवन्ति वृष्ट्या मेघगत्या च मध्ये स्थिताः भूरेणवः अपगच्छन्तीति मलिनानां व्यवधायकत्वाभावात् ग्रहा उज्ज्वला भवन्ति । एवं पुरुषा अति भोगेन पापनाशात् संस्कारेण बहिर्मालिन्याभावाच्च भूषणैरत्युज्ज्वला भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ—पहले अन्य द्वारा पुजित थे. तो भी वचनो और उत्तम पदार्थो के दानों से मुकुन्द ने फिर उनका पूजन किया, तब रत्नों से उज्वल कुण्डलो को धारण करने से राज्य के

लक्षण को प्राप्त किया अर्थात् राजा देखने में आए जिससे आगे से भी विशेष शोभा देने लगे, उसमें भी कारण यह है, कि क्लेश से छूट गए। क्लेश भोगने के अनन्तर फिर संस्कार होने से विशेष कान्ति अर्थात् शोभा होती है जिसमें दृष्टान्त देते हैं, वर्षा के अनन्तर जैसे शुक्र आदि ग्रह विशेष चमकने लगते हैं, वृष्टि से और बादलों की गति से मध्य में स्थित जो भू रेणु थे वे चले जाते हैं, इसलिए मलीन करने वाले पदार्थों का अभाव हो जाने से ग्रह चमकने लगते हैं, इस प्रकार पुरुष भी भोग से पापों का नाश हो जाने पर संस्कार से बाहर मलीनता का अभाव होने से और आभूषणों से बहुत उज्वल होते हैं ।२७।।

आभास—ततो भगवान् स्वसङ्गे समानेष्यतीति शङ्कां वारयितुमाह **रथान् सदश्वानिति ।**

आभासार्थ— राजा लोग मन में यों विचार रहे थे कि कदाचित् भगवान् हमको अपने साथ ले चलेंगे, इस शङ्का का 'रथान्' श्लोक से निवारण करते हैं ।

श्लोक—**रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।**
प्रीणय्य सूनृतैर्वाक्यैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् ।।२८।।

श्लोकार्थ—श्रेष्ठ घोड़ों वाले, रत्न व सुवर्ण से शोभित रथों पर बैठकर मधुर बचनों से प्रसन्न कर राजाओं की अपने देश को रवानगी की ।।२८।।

सुबोधिनी—सर्वे रथारूढाः कृताः । उत्तमा अश्वा रथेषु योजिताः तें च **रथाः** मणिकाञ्चनादिभिर्भूषिताः । ततः **सूनतैरपि वाक्यैः** तान् नृपान् **प्रीणय्य** । एवं कायवाङ्मनोभिः तान्सर्वात्मना सुखिनः कृत्वा **स्वदेशान्** तत्तद्देशान् **प्रत्ययापयत्** प्रस्थापितवान् । प्रत्यापत्तिः निरोधे आवश्यकी सा च गृहस्थितिपर्यन्ता अन्यथा सामिकृता स्यात् ।।२८।।

व्याख्यार्थ— सबको रथों में बैठाया, रथों में उत्तम घोड़े जोड़े और रथों को मणि तथा सुवर्ण आदि से सुशोभित किया था, पश्चात् मधुर वाक्यों से उन राजाओं को प्रसन्न कर, इसी प्रकार काया, वाणी, और मन से उनको सब तरह सुखी कर जिनके जो देश थे उन उन देशों में उन उन को भेजा, निरोध में प्रत्यापति आवश्यकी है किन्तु वह जब तक अपने घर में रहे अन्यथा आधी की हुई मानी जायगी ।।२८।।

आभास—एवं भगवत्पुरस्कृतानां स्वदेशगमनमाह **त एवमिति ।**

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् से आदर पाए हुवे राजाओं का स्वदेश गमन का वर्णन 'त एवं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**त एवं मोक्षिताः कृच्छ्रात्कृष्णेन सुमहात्मना ।**
ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः।।२९।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार जगत् के पति महात्मा श्रीकृष्ण के छुड़ाऐ हुवे कष्ट से मुक्त राजा लोग उनको और उनके चरित्रों का ध्यान करते हुए अपने अपने देशों को गए ॥२६॥

सुबोधिनी—लोके ये मोक्ष्यन्ते तेभ्यः प्रत्युत किंचिद्गृहीत्वा अगृहीत्वा वा शृङ्खलादिभ्यः केवलं पृथक् क्रियन्ते न त्वेवं सर्वसुखसाधनैः संयुज्यन्ते एते त्वेवं मोक्षिताः तत्रापि कृच्छ्रात्किंचिद्विलम्बे प्रमथनाथाय छिन्ना भवेयुरिति । यतः कृष्णेन सदानन्देन मोक्षे मोचकधर्मानुप्रवेशादेव मित्यर्थः । महात्मा परं स्वोपकार- व्यतिरेकेणैव परं मुञ्चति अयं तु अयं तु सुमहात्मेति स्वतः सर्वदानं युक्तं अतस्तमेव ध्यायन्तो ययुः भगवत्कृतानि च संमाननादीनि । एतच्च स्मरणं तेषां युक्तमेव भगवान् भर्तेत्यावश्यकत्वात् न त्वनेनापि कृतनिष्क्रिया इति ज्ञापयन्नाह जगत्पतेरिति ॥२६॥

व्याख्यार्थ— लोक में यह परिपाटी है कि जो छोड़े जाते है, उनसे कुछ लेकर अथवा न लेकर केवल अलग किए जाते है, न कि इसी भाँति सर्व प्रकार के सुख के साधन उनको देते है, ये तो भगवान् ने इस प्रकार छुड़ाये अर्थात् छुड़ाने के बाद सर्व प्रकार के सुख के साधन भी दिए, उसमें भी, बड़े क्लेश में पड़े हुए थे वहाँ से छुड़ाए, यदि थोड़ा विलम्ब हो जाता तो प्रमथनाथ के लिए नष्ट किए जाते थे जिससे सदानन्द कृष्ण द्वारा मोक्ष कराने (मुक्त किए हुए राजाओं) में मोचक के धर्म के प्रवेश से, यों हुवा है यह तात्पर्य है, जो महात्मा होता है वह ही जब अपना लाभ सामने वाले से होगा ऐसा विचार त्याग, शत्रु को छोड़ देते है तो ये तो 'सुमहात्मा' हैं अर्थात् बड़े सच्चे महात्मा हैं, इसलिए ऐसे महान् सुन्दर आत्मा तो स्वतः सर्व दे दे यह उचित है अतः उनका और भगवान् के किये हुए सम्मान आदि का ही ध्यान करते हुए गए, यों यह स्मरण करना इनको उचित ही है, क्योंकि भगवान् ही भरण करने वाले हैं, इसलिए आवश्यक है, न कि इससे भी निष्क्रिय किए हैं यों जताने के लिए कहा है कि 'जगत् पति' है जगत् के पति सबके हितैषी होने से किसी को भी अक्रिय नहीं बताते है'॥२६॥

आभास—स्वगृहं गताः आश्चर्याभिनिविष्टेभ्यः स्वगृहस्थेभ्यो जगुरित्याह जगदुः प्रकृतिभ्यस्त' इति ।

आभासार्थ— अपने घर गए तो घर वाले इन को देख, आश्चर्य करने लगे ऐसे अपने घर वालों को 'जगदुः' श्लोक में सारा हाल बताते है ।

श्लोक—**जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते मयापुरुषचेष्टितम् ।**
यथान्वशासद्भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥३०॥

श्लोकार्थ—वहां जाकर अपनी प्रजा से भगवान् का सर्व चरित्र कहा और भगवान् ने जो आज्ञा की थी वह आज्ञा आलस त्याग पालन की ॥३०॥

सुबोधिनी—एवमेव हि महापुरुषचेष्टितं भवतीति महापुरुषस्य भगवतश्चेष्टितम् । ततो निरभिमानतयैव पालनं कृतवन्त इत्याह यथान्वशासदिति ॥३०॥

व्याख्यार्थ— इस प्रकार ही महापुरुषों का इच्छित होता है, इस कारण से वे राजा निरभिमान होकर पालन करने लगे ।।३०।।

आभास—एवं तेषां जीवन्मुक्तावस्थां निरूप्य जरासंधवधस्य मुक्त्युपयोगित्वमुक्त्वा भक्तिधर्मोपयोगित्वं वक्तुमिन्द्रप्रस्थं प्रत्यागमनमुच्यते **जरासंधं घातयित्वेत्यादिपञ्चभिः** ।

आभासार्थ— इस प्रकार उन राजाओं की जीवन्मुक्त अवस्था का निरूपण कर, जरासन्ध के वध का मुक्ति के उपयोगिपन कह कर, भक्ति और धर्म का उपयोगिपन कहने के लिए इन्द्रप्रस्थ लौट कर आने का वर्णन 'जरासंधं घातयित्वा' श्लोक से पांच श्लोको में कहते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**जरासंधं घातयित्वा भीमसेनेन केशवः ।**
पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पुजितः ।।३१।।

श्लोकार्थ—भीमसेन द्वारा जरासन्ध का नाश कराके, सहदेव से पूजित भीम और अर्जुन के साथ केशव जाने लगे ।।३१।।

सुबोधिनी—**भीमसेनेन** करणेन जरासंधहननम् । ब्रह्ममहादेवयोः तद्रक्षाभावे हेतुः **केशव** इति । कश्च ईशश्च तयोर्मोक्षदातृत्वादुपजीव्य इति । ततः अक्षताभ्यां **पार्थाभ्यां संयुतः** सन् पितृवधमस्मृत्वापि **सहदेवेन** देवांसेन **पुजितः प्रायात्** । पूर्ववत् द्वेषं परित्यज्य प्रकर्षेण निर्गत इत्यर्थः ।।३१।।

व्याख्यार्थ— भीमसेन को साधन बना कर उस साधन से जरासन्ध को मरवाया, ब्रह्मा और महादेव, दोनों में से एक ने भी क्यों नहीं बचाया? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'केशव' स्वयं केशव हैं ब्रह्मा और शिव दोनों को मोक्ष देने वाले होने से उपजीव्य हैं, पश्चात् किसी प्रकार का घाव जिनको नहीं हुआ है वैसे दोनों भ्राताओं, (भीम और अर्जुन) के साथ और पिता के वध को स्मरण न कर सहदेव द्वारा पूजित केशव ने इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान किया, पूर्व की तरह द्वेष छोड़ कर प्रसन्नता से रवाना हुए यों अर्थ है ।।३१।।

आभास—एवं समागत्य दूरादेव स्वागमनं ख्यापितवन्त इत्याह **गत्वा ते खाण्डवप्रस्थमिति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार अच्छी तरह आकर दूर से ही अपने आने की प्रसिद्धि करने लगे वह 'गत्वा ते' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान् दध्मुर्जितारयः ।**
हर्षयन्तः स्वसुहृदो दुहृदां चासुखावहाः ।।३२।।

श्लोकार्थ—वहां से खाण्डवप्रस्थ जाकर शत्रु को जीत कर आए हैं उसके सूचक शङ्ख की ध्वनि की, जिससे शत्रुओं को दुःख दिया और मित्रों को आनन्दित किया ।।३२।।

सुबोधिनी—इन्द्रप्रस्थनिकटे खाण्डवदाहानान्तरं तत्र नगरं निर्मितमस्ति भगवता कौतुकातिशययुक्तं तत्र गत्वा । इन्द्रप्रस्थस्थज्ञापनार्थं शङ्खान् दध्मुः 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' इति श्लोकोक्तान् । यतोऽजितारयः उत्साहेन वादितवन्तः । तस्य वादनस्य स्वसुहृदां हर्षजननं प्रयोजनं दुर्हृदां दुःखजननं च । प्रायेण रात्रौ समागताः ।।३२।।

व्याख्यार्थ— इन्द्रप्रस्थ के समीप, खाण्डव के दाह होने के बाद वहां नगर बसाया है, भगवान् अतिशय कौतुक युक्त हो वहाँ जाकर इन्द्रप्रस्थ में मालूम हो जाए कि हम आए हैं इसलिए शङ्खों को बजाये । 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' इस श्लोक में कहे अनुसार बजाए उत्साह से बजाए क्योंकि शत्रुओं को जीत कर आए थे जिससे उत्साह था, उनको बजाने का प्रयोजन यह था कि अपने मित्रों को इस ध्वनि से हर्ष होगा और शत्रुओं को दुःख उत्पन्न करेंगे, बहुत कर रात्रि को आए थे ।।३२।।

आभास—यदर्थं वादितवन्तः तज्जातमित्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आभासार्थ— जिसके लिए बजाए वह हुआ, यह 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।
मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ।।३३।।

श्लोकार्थ—इन्द्रप्रस्थ के रहने वालों ने यह शङ्खनाद सुनकर जान लिया कि जरासन्ध मर गया, उनका चित्त प्रसन्न हुआ और राजाओं के मनोरथ भी पूर्ण हुए ।।३३।।

सुबोधिनी—इन्द्रप्रस्थनिवासिनः सर्वे प्रीतमनसो जाताः । शब्दं श्रुत्वैव मागधं शान्तं मेनिरे । राजा च प्राप्तमनोरथो जातः ।।३३।।

व्याख्यार्थ— सब इन्द्रप्रस्थवासी प्रसन्न चित्त वाले हो गए शङ्ख का शब्द सुनते ही समझ गए कि जरासन्ध शान्त हो गया अर्थात् मर गया और राजा युधिष्ठिर का मनोरथ पूर्ण हो गया ।।३३।।

आभास—एवमानन्दयुक्तेषु पुरवासिषु पश्चान्नयनानन्दं दातुं समागता इत्याह अभिवन्द्याथराजानमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार आनन्दित नगर वासियों को नयनानन्द देने के लिए आ गए यह 'अभिवन्द्याथ' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—अभिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।
सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ।।३४।।

श्लोकार्थ—भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण ने आकर युधिष्ठर को प्रणाम कर आपने जो कुछ किया वह सब राजा को सुनाया ।।३४।।

सुबोधिनी—त्रयोऽपि क्रमेण प्रस्तावनानुसारेण वृत्तान्तमाश्रावयाञ्चक्रुः । आत्मनाः भगवता स्वेन वा । यद्यप्यर्जुनेन कृतं न स्पष्ट शास्त्रयुद्धादिसंप्राप्तौ रक्षा तेनैव कृतेति ज्ञातव्यम् । तथापि अनुष्ठितस्य साधारण्येन निरूपणात् ।।३४।।

व्याख्यार्थ— तीनों ने क्रम से (प्रारम्भ से) लेकर सर्व वृत्तान्त सुनाया, भगवान् स्वयं ने स्पष्ट कर सुनाया, यद्यपि अर्जुन ने जो किया वह स्पष्ट नहीं था तो भी शास्त्र युद्ध आदि आ पड़ने पर अर्जुन ने ही रक्षा की थी यों जान लेना चाहिए, किये हुवे कार्य का साधारण रीति से निरूपण होने से ।।३४।।

आभास—एवं श्रावणे युधिष्ठरस्य भगवति मतिर्जातेत्याह **निशम्येति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार सुनने से युधिष्ठिर की भगवान् में बुद्धि हुई ।

श्लोक—**निशम्य धर्मराजस्तत्केशवेनानुकम्पितम् ।**
आनन्दाश्रुकणान् मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किंचन ।।३५।।

श्लोकार्थ—भगवान् की कृपा से सब कुछ हुवा यह सुनकर धर्मराज के नेत्रों से आसुओं की धारा बहती रही अतः प्रेम के कारण राजा कुछ कह न सके ।।३५।।

सुबोधिनी—यतो धर्मराजः अधिकारी । एतत्सर्वं **केशवेनानुकम्पितं** कृपया कृतमिति ज्ञातवान् न तु स्वभ्रातृपौरुषमिति । ततः प्रेमातिशयादानन्दाश्रुकणान्मुञ्चन् वाक्स्तम्भे जाते प्रशंसाभिनन्दनादिकं किमपि नोक्तवानित्यर्थः । ।।३५।।

व्याख्यार्थ— ऐसा क्यों हुआ ? धर्मराज अधिकारी हैं इसलिए हुआ । यह सब भगवान् ने कृपा कर किया है, यों समझा, मेरे भ्राताओं को यह पौरुष नहीं है विशेष प्रेम के कारण नेत्रों से आँसू बहने लगे जिससे वाणी रुक गई अतः प्रशंसा अभिनन्द आदि कुछ भी न कर सके ।।३५।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
त्र्यविंशाध्यायविवरणे उत्तरार्धे चतुर्विंशाध्यायविवरणम्।।२२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७०वें अध्याय (उत्तरार्ध २४वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन अवान्तर प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७४वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७१वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २५वाँ अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—४"

भगवान् की अग्र पूजा और शिशुपाल का उद्धार

कारिका—**पञ्चविंशे निरुद्धस्य राज्ञो धर्मो निरूप्यते ।**
प्रतिबन्धविहीनस्य प्रेमगद्गदचेतसः ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस पच्चीसवें अध्याय में, निरोध किए हुए, निरोध रहित और प्रेम से गद्गद् चित्त वाले राजा का धर्म निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**आधिदैविकयज्ञोऽपि धर्मेऽत्र विनिरूप्यते ।**
तत्रापि बाधकं कृष्णो न्यवारयदितीर्यते ॥२॥

कारिकार्थ—इस धर्म (यज्ञ रूप कर्म) में आधिदैविक यज्ञ (श्रीकृष्ण की पूजा) का भी निरूपण किया जाता है, उस आधिदैविक यज्ञ में अर्थात् श्रीकृष्ण की पूजा में भी विघ्न करने वाले शिशुपाल को श्रीकृष्ण ने दूर कर दिया अर्थात् नाश किया यह निरूपण है ॥२॥

कारिका - **मोचनादेव राज्ञां हि तत्सेवाऽत्र निरूपिता ।**
ब्रह्मण्यत्वान्मागधस्य ब्राह्मणेष्वत्र संशयः ॥३॥

कारिकार्थ--जिन राजाओं को जरासन्ध के बन्धन से मुक्त किया था उन्होंने जो सेवा की, उसका भी वर्णन यहाँ कहा है । जरासन्ध ब्राह्मणों का भक्त था जिससे ब्राह्मणों में यहाँ संशय होगा ॥३॥

कारिका—**अतः सर्वेऽत्र ऋषयो निरूप्यन्ते स्वनामतः ।**
आधिदैविकयज्ञस्य सर्वोऽप्युत्कर्ष उच्यते ॥४॥

कारिकार्थ--इस संशय निवृत्ति के लिये समस्त ऋषियों का नाम ले लेकर वर्णन किया है और यहां आधिदैविक यज्ञ (श्रीकृष्ण की पूजा) की सर्व प्रकार से उत्कृष्टता कही जाती है ॥४॥

कारिका—**आध्यात्मिकस्तु तच्छेषः प्रधानार्थो यतः परः ।**

कारिकार्थ--आध्यात्मिक यज्ञ तो उसका शेष भाग है, कारण कि मुख्य प्रयोजन-वाला दूसरा यज्ञ तो आधिदैविक यज्ञ ही है ॥५॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भक्त्यानन्दपूर्णो जात इति निरूपितम् । इदानीं तादृशस्य मनोरथसिद्धिर्निरूप्यते । आदौ स भक्तो जात इति वक्तुं पूर्वमाज्ञापनेन भक्तविरुद्धकारी भूत्वा सांप्रतं तत्परिहारं कृतवानिति निरूप्यते पञ्चभिः । तत्र दोषपरिहारार्थं प्रथम-मुद्यममाह **एवं युधिष्ठिर** इति ।

आभासार्थ— पूर्व अध्याय के अन्त में कहा है, कि युधिष्ठिर भक्ति से उत्पन्न आनन्द में मग्न हो गया, अब वैसे राजा के मनोरथ की सिद्धि का वर्णन किया जाता है, प्रारम्भ में वह भक्त था, इसलिए प्रथम आज्ञापालन करने से, भक्त विरुद्ध कार्य करने वाला हुआ था, अब उसका त्याग किया है जिसका पांच श्लोकों में वर्णन किया है, वहां दोष के परिहार करने के लिए 'एवं युधिष्ठिरो' श्लोक में श्री शुकदेवजी प्रथम उद्यम का वर्णन करते हैं ।

श्लोक--श्री शुक उवाच--**एवं युधिष्ठिरो राजा जरासंधवधं विभोः ।**
कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥१॥

श्लोकार्थ--इस प्रकार, युधिष्ठिर राजा, जरासंध का वध और सर्व समर्थ प्रभु

श्रीकृष्ण का वह प्रभाव सुनकर प्रसन्न हुआ जिससे श्रीकृष्ण को निम्न प्रकार कहने लगा ॥१॥

सुबोधिनी—स्व धर्मनिष्ठो महान् भगवदुपकारं **श्रुत्वा** ज्ञातभगवन्माहात्म्यः । **विभोः** स्वामिनः **कृष्णस्य** भक्तिरूपं स्वस्मि**न्ननुभावं** ज्ञात्वा नारदादिमुखतस्तन्निर्धारं च **श्रुत्वा** कृतार्थता जातेति: **प्रीतः** सन् पूर्वकृतस्वापराधनिवृत्त्यर्थं तं भगवन्तं प्रति किंचित् **अब्रवीदि**त्यर्थः ॥१॥

व्याख्यार्थ— अपने धर्म में विश्वास वाले, बड़े युधिष्ठिर ने भगवान् का अपने ऊपर किया हुआ उपकार सुन कर, भगवान् का माहात्मय जाना स्वामी श्रीकृष्ण का अपने ऊपर भक्ति रूप प्रभाव जानकर, एवं नारद के मुख से उनका निर्णय सुनकर अपनी कृतार्थता समझ गया, इससे प्रसन्न होकर, प्रथम किए हुए अपराध की निवृत्ति के लिए उन भगवान् के आगे कुछ कहने लगा ॥१॥

आभास—आदौ भगवन्माहात्म्यमाह **ये स्युरि**ति ।

आभासार्थ—प्रथम 'ये स्यु' इस श्लोक से भगवान् का माहत्मय युधिष्ठिर कहता है ।

श्लोक—युधिष्ठिर उवाच—**ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकाः सहेश्वराः ।**
वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ॥२॥

श्लोकार्थ—जो तीन लोक में गुरु हैं और जो ईश्वर सहित सकल लोक हैं, वे सर्व जिनकी आज्ञा को मस्तक पर धारण करते हैं ॥२॥

सुबोधिनी—**त्रैलोक्यगुरवः** त्रैलोक्ये उपदेष्टारः आज्ञापकाः ब्रह्मादयः वेदोक्तऋषयो वा । **सर्वे** च **लोकाः** प्राणिनो भूराद्यभिमानिदेवा वा । **सहेश्वरा** इन्द्रादिसहिताः । एवं वेदलोकपराः भगवतः **अनुशासनं** स्वस्यानधिकारित्वेन **दुर्लभं लब्ध्वा शिरसा वहन्ति** अत्यादरेण कुर्वन्तीत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—तीन लोक में गुरु, अर्थात् उपदेश देने वाले एवं आज्ञा करने वाले ब्रह्मादि देव अथवा वेदोक्त ऋषि और सर्व प्राणी मात्र अथवा भू आदि के अभिमानी देवता लोग इन्द्र आदि समेत, इस प्रकार वेद और लोक के परायण ये सर्व अधिकारी न होने से दुर्लभ जो भगवदाज्ञा उसको प्राप्त कर उसका आदर सहित पालन करते हैं ॥२॥

आभास—किमतो यद्येवं तदाह **स भवानरविन्दाक्ष** इति ।

आभासार्थ—यदि यों होवे तो भी क्या ? इसके उत्तर में 'स भवानरविन्दाक्षो' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—**स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ।
धत्तेऽनुशासनं भूमंस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३॥**

श्लोकार्थ—वे आप, कमल नयन पुरुषोत्तम, दीन होकर भी, अपने को ईश मानने वालों की आज्ञा का पालन करते हो, यह केवल अत्यन्त अनुकरण मात्र ही है ॥३॥

सुबोधिनी—**स** एव सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमो **भवान्** भक्तानुकम्पार्थमरविन्दाक्षः दृष्ट्यैवाप्यायनकर्ता जातः । एतादृशः दीनानां शोच्यानां तत्रापि **ईशमानिनां** दोषयुक्तानामनु**शासनं** स्वयं **धत्ते** । तत्कपटमानुषलीलाप्रदर्शनापेक्षयापि अत्यन्तविडम्बनमनुकरणम् ॥३॥

व्याख्यार्थ—वे ही सर्वेश्वर पुरुषोत्तम आप है भक्तों पर दया करने के लिये कमल नेत्र बन दृष्टि से ही भक्तों को आनन्द रस देकर तृप्त करते हैं । वैसे आप जो दीन अर्थात् शोक करने योग्य हैं, उनमें भी अपने को ईश मानने का दोष भरा पड़ा है ऐसों की आज्ञा का पालन करते हो ? यह कार्य तो कपट रूप मानुषी लीला प्रदर्शित करने से भी विशेष अनुकरण है ॥३॥

आभास—हीनानुशासनकरणस्य युक्तत्वं स्थापयित्वा अयुक्तं करोतीत्यप्ययुक्तमिति भूम्नोपि तद्युक्तमिति निरूपयति **न ह्येकस्येति** ।

आभासार्थ—हीनों की आज्ञानुसार आचरण करना अनुचित है यों सिद्ध कर भगवान् यों करते है वह भी अयोग्य है वैसे कहना भी अनुचित है इसलिए 'न ह्येकस्य' श्लोक में कहता है कि यों करना भूमा के लिए उचित ही है ।

श्लोक—**नह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ॥४॥**

श्लोकार्थ—एक अद्वितीय, ब्रह्म परमात्मा का तेज कर्मों से कम वा विशेष नहीं होता है, जैसे सूर्य का तेज न कम होता है और न बढ़ता है ॥४॥

सुबोधिनी—यदि बहवो भवन्त्यात्मानः तदा गौणप्रधानभावे अन्यधर्माश्रयणं निषिद्धं भवति, एकत्वे तु जघन्यस्याप्यधमाङ्गस्य उत्तमाङ्गं सेवां करोतीति यथा पादप्रक्षालनं हस्तेन क्रियते तदा न विरोध इति भगवत एव जगत्येकस्य सत्त्वान्न विरोधः । युक्तिस्तु हिशब्दवाच्या निरूपिता । किंच यत्र द्वैतामिव भवति तत्रान्योन्यस्य हीनभावं मन्यते । अद्वितीयो भगवानेव सर्वत्र जगति वर्तत इति न भगवति किंचिद्दूषणमित्याह **अद्वितीयस्येति** । किंच । जीवानामयं धर्मः यत्कार्यप्रेरणं कार्यकारणं चेति न तु ब्रह्मणः शुद्धस्य । लीलयान्यधर्मस्वीकारे तु क उत्कर्षापकर्ष इत्याह **ब्रह्मण इति** । किंच । सर्वेषां नियन्ता भगवान् परमात्मा प्रेरकः सर्वानेव यथासुखं सर्वत्र प्रेरयति तत्र किमुत्कृष्टमपकृष्टं वा सर्वत्रापि भगवदधिष्ठितत्वाविशेषात् अन्यधर्मसंबन्धेऽपि न काचित् क्षतिः । यथा

आकाशे अभ्रतम:प्रकाशा: तद्वद्भगवतीत्याशयेनाह **परमात्मन** इति । अत एव **कर्मभि: स्वकीयै** कर्म रूपस्य परमकाष्ठापन्नस्य निर्लेपस्य **तेजो** न वा **वर्धते न वा ह्रसते** अलौकिकत्वाद्दृष्टान्तमाह **यथा रवेरिति** । उच्चनीचस्थाने किरणानां संबन्धेऽपि न काचिन्न्यूनता सर्वग्रहसंबन्धे वा न क्वाप्युदयास्तमयौ ॥४॥

व्याख्यार्थ—जो आत्माएं बहुत हों तो गौण और मुख्य धर्मों के आश्रय का शास्त्रों में निषेध हो, एक होने पर तो हलके की सेवा महान् करे तो भी उसमें दोष वा विरोध नहीं है। जैसे शरीर एक होने से हस्त उच्च होते हुए भी अधम अंग पाद की प्रक्षालन (धोने) से सेवा करता है जिसमें न दोष हे और न कोई शास्त्र विरोध है इस प्रकार जगत् में भगवान् के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है, सब एक भगवान् ही है अतः यों करने में किसी प्रकार विरोध नहीं है 'हि' शब्द से युक्ति का निरूपण किया है पुनः यदि जहां द्वैत जैसा हो वहाँ एक दूसरे में हीन भाव उत्पन्न होता है, अद्वितीय भगवान् ही सब ठिकाने जगत् में विराजते हैं इसलिए भगवान् में कोई दूषण नहीं हैं, इस कारण से भगवान् के लिये 'अद्वितीयस्य' पद दिया है।

कार्य करने की प्रेरणा करनी और कार्य कराना यह जीवों का धर्म है न कि शुद्ध ब्रह्म का, लीला से दूसरे के धर्म स्वीकार करने में कौनसा उत्कर्ष वा अपकर्ष है? यह भाव श्रीकृष्ण को ब्रह्म कह कर प्रकट किया है।

सर्व को नियम में रखने वाला भगवान् परमात्मा प्रेरक है अतः सबको ही जैसे सुख प्राप्त हो वैसे ही प्रेरणा करते है, उसमें उत्कृष्ट (उत्तम) अथवा अपकृष्ट (हीन) क्या है? सब में भगवान् ही अधिष्ठित हैं, इसलिए अन्य धर्म का सम्बन्ध होते हुए भी किसी प्रकार हानि नहीं है।

जैसे आकाश में बादलों के कारण अन्धकार और प्रकाश देखने में आता है वास्तव में आकाश में अन्धकार वा प्रकाश आदि धर्म नहीं हैं वैसे ही भगवान् में अनेक धर्म मात्र देखने में आते है इस आशय को प्रकट करने के लिये 'परमात्मा' कहा है इसलिए अपने कर्मों से कर्मरूप परम स्थिति को प्राप्त एवं निर्लेप परमात्मा का तेज न बढता है और न घटता है, अलौकिक होने से दृष्टाप्त देते हैं कि जैसे सूर्य का उच्च वा नीच स्थान में किरणों का सम्बन्ध होने पर भी सूर्य की हानि नहीं होती है और सूर्य की किरणों का सर्व ग्रहों से सम्बन्ध हो जाने पर भी उसका उदय अथवा अस्त नहीं होता है ॥४॥

आभास—नन्वेवं सति कथं भगवान् सर्वेश्वरत्वमेव मन्यते न हीनभावं तथा सति जीवानामपकर्षबुद्धया नाशो भविष्यतीति चेत्तर्हि प्रकृतेऽपि तथेत्याशङ्कायामाह **न वै तेऽजित** इति।

आभासार्थ—यदि यों है, तो भगवान् अपने को केवल सर्वेश्वर ही क्यों मानते हैं? हीन भाव वाले क्यों नहीं मानते हैं? यदि यों करें तो जीवों की भगवान् में हीन भावना होने से उनका नाश होगा यदि यों कहो तो चालू प्रसंग में भी वैसा होगा इस शंका के होने पर उसको मिटाने के लिए 'न वै तेऽजित' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—न वै तेऽजितभक्तानां ममाहमिति माधव ।
त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ।।५।।

श्लोकार्थ—हे अजित ! हे माधवः ! मेरा और मैं, तू और तेरी ऐसी पशु समान विकार वाली भेद बुद्धि आपके भक्तों की नहीं होती हैं ।।५।।

सुबोधिनी—हे **अजित** कस्याप्यवश । ते भक्तानां ममाहमिति स्वाभिमानः कदाचिदपि स्वोत्कर्षख्यापको न भवति, उत्कर्षस्तु जीवानां पाञ्चभौतिकदेहयुक्तानां लक्ष्मीकृत एव भवति तस्यास्तु त्वमेव **धवः** । अतस्त्वयि को वाभिमानो भविष्यतीति भावः । किंच त्वद्भक्तानां न कस्मिश्चिदपि त्रिविधाद्वैतयुक्तानाम् । द्रव्यादिभेदार्थ **त्वं तवेति च** बुद्धिर्न भवति । 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति शास्त्रार्थानुसारेण त्वद्रूपा एव भवन्तीति तेषां सर्वात्मकता नित्यं स्फुरतीति न **नानाधीर्भेद**-बुद्धिर्भवति । ननु सर्वेषामेव बुद्धिरयुक्ता को विशेषो भक्तानामिति चेत् तत्राऽह **पशूनामिवेति** । अयुक्तापि बहिर्मुखानां भवतीति नानाबुद्धे र्भगवद्विषयत्वे न कोऽपि विशेष इत्याशङ्क्याह **वैकृतेति** । विकारविषयिणी सा, न हि वस्तुतो नानात्वमिति भावः ।।५।।

व्याख्यार्थ—हे अजित ! अर्थात् किसी ने भी आपको जीत कर वश में नहीं किया है, आपके भक्तों को मेरा और मैं इस प्रकार का स्वाभिमान, कभी भी अपने उत्कर्ष को दिखाने वाला नहीं होता है, पांच भौतिक देह वाले जीवो की बड़ाई तों लक्ष्मी की, की हुई होती है, उस लक्ष्मी के स्वामी तो आप हैं, जिससे आप में अभिमान किसका होगा कहने का यही भाव है ।

आपके भक्तों में तीन प्रकार[1] का अद्वैत स्थिर रहता है जिससे उनको किसी पदार्थ में भेद के लिए स्वत्व वा परत्व बुद्धि अथवा तू और तेरा इस प्रकार की बुद्धि नही होती है, गीता में कहे हुए 'यो'यच्छ्रद्धःस एवस' इस वाक्यानुसार जो जिसमें श्रद्धा वाला होता है वह वैसा ही हो जाता है अतः आपके भक्त आपके ही रूप हो जाते हैं जिससे उनको सदैव सर्वात्म भाव का स्फूरण होता रहता है न कि अनेकता वाली भेद बुद्धि जागृत होती है ।

सकल जीवों की बुद्धि दोष युक्त है, भक्तों में क्या विशेषता है ? जिसका उत्तर देते हैं कि अन्य जीवों की बुद्धि पशुओं के समान विकार वाली होने से भगवद्विमुख होती है वास्तव में नानापन (प्रकारपन) है ही नहीं ।।५।।

आभास—एवं स्वपराधं भगवतः सर्वात्मकत्वादिधर्मेणानुसंधानतः परिहृत्य निष्प्रत्यूहः सन् अभिप्रेतं राजसूयमारब्धवानित्याह इत्युक्त्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के सर्वात्मपन धर्म के अनुसन्धान से अपना अपराध मिटा कर, निर्विघ्न होके, अपने अभीष्ट राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ किया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं ।

१—भावाद्वैत २—क्रियाद्वैत, और ३—द्रव्याद्वैत

श्लोक—श्री शुक उवाच—**इत्युक्त्वा याज्ञिये काले वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः ।**
कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि, युधिष्ठिर ने यों कहकर यज्ञ करने के काल में श्रीकृष्ण का अनुमोदन प्राप्त कर ब्रह्मवादी ब्राह्मणों का ऋत्विज रूप से वरण किया ॥६॥

सुबोधिनी—कालस्य प्राधान्यात् **याज्ञिये काल** इत्युक्तम । राजसूयस्यापि द्वादशाहप्रकृतित्वात् माघे मास्येवारम्भः सांवत्सरिकाणामपि स एव कालः । **युक्तान् ऋत्विजः** परंपरया प्राप्तान् अनिषिद्धान्वा प्रायेण सर्वानेव स्थविरान् विद्यातपोवृद्धान् अध्वर्य्वादिभावेन वव्रे । विघ्नशङ्कां वारयति । **कृष्णानुमोदित** इति । **पार्थ** इति भगवतः साहाय्यं निश्चितं सूचितम् । **ब्राह्मणा**निति ब्राह्मणानामेवार्त्विज्यं सर्वक्रतुष्विति विद्यातपोवृद्धक्षत्रियव्युदासः । **ब्रह्मवादिन** इति ब्राह्मणानामयमुत्कर्षः ॥६॥

व्याख्यार्थ—काल की प्रधानता है इसलिए कहा है, जिस समय यज्ञ करना चाहिए वह काल जब हुआ तब उस समय में यज्ञ प्रारम्भ किया, राजसूय यज्ञ १२ दिन में होता है, उसका काल माघ मास है अतः माघ मास में ही प्रारम्भ किया, एक वर्ष में जो यज्ञ पूर्ण होते हैं उनके प्रारम्भ का भी यही समय है, योग्य ऋत्विजों का वरण किया, वे कैसे योग्य थे उनका विश्लेषण करते हैं कि ये परम्परा से यज्ञ कर्म कराते आये है, उनमें ऐसा कोई दोष नहीं है जिससे वे यज्ञ में ऋत्विज न बन सकें और वृद्ध तथा विद्या और तप से समृद्ध थे। यज्ञ में विघ्न भी नहीं होगा क्योंकि श्रीकृष्ण ने यज्ञ प्रारम्भ करने का अनुमोदन किया है। 'पार्थ' कहने से यह सूचित किया है कि भगवान् की पूर्णरूपेण निश्चित सहायता प्राप्त है 'ब्राह्मणान्' पद देकर यह बताया है कि सर्व यज्ञों में ब्राह्मण ही ऋत्वज हो सकते हैं। चाहे क्षत्रिय विद्या और तपस्या से बड़े ही, तो भी यज्ञों में ऋत्वज नहीं हो सकते हैं, 'ब्रह्मवादी' पद से यज्ञ में बैठे हुए ऋत्विजों का उत्कर्ष बताया है ॥६॥

आभास—तान् गणयति **द्वैपायन** इत्यादिना ।

आभासार्थ—'द्वैपायन' श्लोक से तीन श्लोकों से, उन ब्राह्मणों के नाम कहते हैं—

श्लोक—**द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः ।**
वसिष्ठश्च्यवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥७॥
विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जैमिनिः क्रतुः ।
पैलःपराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥८॥
अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।
वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीर सेनोऽकृतव्रणः ॥९॥

श्लोकार्थ १ द्वैपायन, २ भरद्वाज, ३ सुमन्तु, ४ गौतम, ५ असित, ६ वसिष्ठ, ७ च्यवन, ८ कण्व, ९ मैत्रेय, १० कवष, ११ त्रित ।।७।।

१२ विश्वामित्र, १३ वामदेव, १४ सुमति, १५ जैमिनी, १६ ऋतु, १७ पैल, १८ पराशर, १९ गर्ग और २० वैशम्पायन ।।८।।

२१ अथर्वा, २२ कश्यप, २३ धौम्य, २४ राम, २५ भार्गव, २६ आसुरि, २७ वीति होत्र, २८ मधुच्छन्दा, २९ वीरसेन, ३० अकृतव्रण ।।९।।

सुबोधिनी—त्रिंशदृषयोऽत्र गणिताः **अकृतव्रणान्ताः** । यद्यप्यत्र बहवो ब्राह्मणा मृग्यन्ते तथापि उत्तमा एतावन्त एवेति । सप्तदश ऋत्विजः, दश चमसिनः, एकधनिनस्त्रय इति दश दश उत्कर्षादिभावापन्ना वा उपलक्षणविधया गणिताः । एकादश प्रथमश्लोकोक्ताः ब्राह्मणा एव ब्रह्मविदः, विश्वामित्रादयो नव मध्यमा, अथर्वादयो दश नव वा । **रामो भार्गव** एक इति । एते सर्वे महोपाख्यानाः ।।७।।८।।९।।

व्याख्यार्थ—इस यज्ञ में द्वैपायन से अकृत व्रण तक तीस ऋषि ही गिने हैं । जब कि यहां बहुत ब्राह्मणों की आवश्यकता है किन्तु उत्तम इतने ही मिले हैं जिनके नाम कहे है, उनमें से सत्रह ऋत्विज है । दश चमस[1] रखने वाले हैं और तीन 'एकधन'[2] वाले हैं । इस प्रकार उत्कर्ष आदि भाव को प्राप्त, दश, दश अन्य भी उपलक्षण विधि से अपने समान कहे है प्रथम (७) श्लोक में कहे हुए एकादश (११) ब्राह्मण ही ब्रह्मवेता थे । विश्वामित्र से लेकर नव ब्राह्मण मध्यम थे, अथर्व से लेकर अकृतव्रण तक नव वा दश सामान्य थे, राम और भार्गव को एक गिना जाय तो नव होते है, पृथक् गिनने से दश होते ये सब महान् उपाख्यान वाले हैं ।।७-८-९।।

आभास—अन्येऽपि राजानः ब्राह्मणाश्च समाहूता इत्याहुः **उपहूतास्था चान्ये** इति ।

आभासार्थ—केवल इतने का ही यज्ञ में आव्हान नहीं किया था किन्तु दूसरे राजाओं तथा ब्राह्मणों को भी बुलाया था वह 'उपहूत' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—उपहूतास्था चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।
धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ।।१०।।

श्लोकार्थ—वैसे ही दूसरे द्रोण, भीष्म, कृप आदि पुत्रों के साथ धृतराष्ट्र और महान् बुद्धिमान विदुरजी को भी आमन्त्रण देकर बुलाया था ।।१०।।

१—यज्ञ में सोमपान करने के 'चमच' को चमस कहते हैं ।
२—यज्ञ में जलभर रखने का जो कलश होता है उसको 'एकधन' कहते है ।

सुबोधिनी—भीष्मादयो बन्धुश्रेष्ठाः, द्रोणादयो] गुरवः, कृपादयोऽपि मान्याः । सर्वमैत्री कृतेति ज्ञापनथा धृतराष्ट्रादीनामाकारणमाह धृतराष्ट्रः सहसुत इति दुर्योधनादिसहितः । विदुर श्चापि शूद्रयोनिरपि महामतिरिति बीजप्राधान्येन स्मार्तज्ञानपूर्णत्वात्समाकारणमुचितम् ।।१०।।

व्याख्यार्थ—बान्धवों में श्रेष्ठ भीष्म आदि द्रोण आदि गुरु, कृप आदि माननीयों को भी आव्हान किया था तथा सबसे मित्रता की है यह जताने के लिये धृतराष्ट्र आदि को भी आमन्त्रित किया है दुर्योधन आदि पुत्रों के साथ धृतराष्ट्र को आमन्त्रण भेजा है चूंकि विदुर शुद्र योनि है तो भी महान् बुद्धिमान है कारण कि बीज का ही प्राधान्य होने से स्मार्त ज्ञान पूर्ण होने से उसका आव्हान करना उचित ही है ।।१०।।

आभास—किं बहुना चत्वारो वर्णा जगति विद्यमाना. समाहूता इत्याह **ब्राह्मणा** इति ।

आभासार्थ—बहुत कहने से क्या ? जगत् में चार वर्ण है अतः चारों वर्णों को बुलाया है यह 'ब्राह्मण' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।
तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ।।११।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों तथा अपनी स्त्रियों समेत सब राजा यज्ञ के दर्शन की इच्छा से वहां आए ।।११।।

सुबोधिनी—**यज्ञदिदृक्षायुक्ताः** श्रद्धया अत्राधिकारो निरूपितः । न केवलमाकारणमात्रं किंतु सर्वे समागता इत्याह **तत्रेयुरिति** । अन्येषां स्त्रियः समायास्यन्त्येव । राज्ञां नायास्यन्तीति तासां **राज्ञां प्रकृतय** इति । नृपेति संबोधनं सादरम् ।।११।।

व्याख्यार्थ—यहां जो भी आए उनको यज्ञ के दर्शन की लालसा थी इस श्रद्धा के कारण वे सब अधिकारी हैं यह बताया है, केवल आव्हान वाले ही नहीं आए किन्तु अन्य सर्व भी श्रद्धा से आए, दूसरों की स्त्रियाँ तो आएँगी किन्तु राजाओं की नहीं आएँगी इसलिए कहा है कि उनकी स्त्रियाँ भी आई हैं, नृप ! यह संबोधन आदर सूचक है ।।१२।।

श्लोक—ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्नायं दीक्षयांचक्रिरे नृपम् ।।१२।।

श्लोकार्थ—पश्चात् ब्राह्मणों ने यज्ञ भूमि को सुवर्ण के हल से शुद्ध कर, वहाँ वैदिक रीति से राजा को यज्ञ में दीक्षित किया ।।१२।।

सुबोधिनी—राजसूयः साग्निचित्यो भवतीति 'इयं वा अग्नेरतिदाहादबिभेत्' इत्युपाख्यानेन कर्षणं विहितम्। ततो देवयजनं देवा इज्यन्ते अस्मिन् स्थान इति तत्स्थानम्। ब्राह्मणाः स्वयं स्वर्णलाङ्गलैः षड्भिर्द्वादशगवैर्वा कृष्ट्वा उप्त्वा च तत्रैव यथाम्नायं आम्नातानुसारेण दीक्षयाञ्चक्रिरे दीक्षां चक्रुरित्यर्थः। अभ्युत्सादयामित्यादिवत् अस्यापि 'आम्' प्रत्ययश्छान्दसः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—राजसूय यज्ञ की इच्छा अग्नि वाला ही कर सकता है यह भूमि अग्नि के विशेष दाह होने से भयभीत हुई, अतः वहां कहा है कि भूमि को जोत कर शुद्ध करना अनन्तर यज्ञ प्रारम्भ करना चाहिये जहाँ देवों का पूजन किया जावे, इसलिए ही ब्राह्मणों ने सोने के हल में छ अथवा द्वादश बैलों से भूमि को जोतकर शुद्ध किया और उसमें बीजों को बोया, वहाँ ही वेदानुसार राजा को दीक्षा दी 'दीक्षयाञ्च क्रिरे' इस पद में 'आम्' प्रत्यय वैदिक है ॥२२॥

आभास—यज्ञे पदार्थसमृद्धिमाह **हैमा** इति।

आभासार्थ—नीचे के तीन श्लोकों में यज्ञ की समृद्धि आदि बताते है।

श्लोक—**हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा।**
इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिशिवसंयुताः ॥१३॥

श्लोकार्थ—पूर्व, जैसे वरुण के यज्ञ में सब उपकरण (पात्रादि सामान) सोने के थे वैसे ही यहां भी थे, ब्रह्मा ओर शिव सहित इन्द्र आदि लोकपाल भी बुलाये गये थे। ॥१३॥

सुबोधिनी—किलेति, लोकोत्र प्रमाणम्। वरुणो निधिपतिरिति सोऽत्र दृष्टान्तीक्रियते। पुरेति तस्यापीदानीं दुर्लभ इति सर्वोत्कर्षः। देवादयो लोकपालाः द्वीपान्तरस्था राजानश्च नागता भविष्यन्तीति तेषामाकारणमागमनं चाह इन्द्रादय इति। **विरिञ्चिशिवाभ्यां संयुताः** ॥१३॥

व्याख्यार्थ—किल पद का आशय है कि, यहां सर्व सामग्री निश्चय से वरुण के यज्ञ जैसी सोने की थी जिसमें प्रमाण लोक ही है, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष देखी थी, वरुण का दृष्टान्त इसलिए दिया है कि वह निधि का स्वामी है, किन्तु 'पुरा' पद कह कर यह भाव प्रकट किया हैं कि उसको (वरुण को) भी अब ऐसी सामग्री मिलनी दुर्लभ है, इसलिए युधिष्ठिर के यज्ञ का सबसे उत्कर्ष है, अन्य तो आए होंगे किन्तु इन्द्र आदि लोकपाल और अन्य द्वीपों में रहने वाले राजा लोग आदि तो नहीं आए होंगे ? इस शंका के मिटाने के लिए कहते हैं कि ब्रह्मा और शिव समेत उनको भी निमन्त्रित किया गया है ॥१३॥

श्लोक—**सगणाः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः।**
मुनयो यक्षरक्षांसि खगाः किन्नरचारणाः ॥१४॥

श्लोकार्थ—गणों के साथ सिद्ध और गन्धर्व, विद्याधर, बड़े सर्प, मुनिगण, यक्ष तथा राक्षस, पक्षी किन्नर एवं चारण भी बुलाए हैं । ॥१४॥

सुबोधिनी—सगणाः सेवकसहिताः आदित्यविश्वादयो वा गणदेवाः **सिद्धगन्धर्वादयश्च** । **मुनयो**ऽधिकारिणः सप्तर्षिरूपाः । **यक्षरक्षांसि** कुबेरपुलस्तिविभीषणादयः । **खगा** गरुडादयः । **किन्नराश्चारणाश्च** ॥१४॥

व्याख्यार्थ—'सगणा' पद का अर्थ सेवकों सहित देवगण अथवा आदित्य विश्वादि गणदेव और सिद्ध, गन्धर्व आदि, अधिकारी सप्तर्षिरूप मुनि, यक्ष राक्षस कह कर यह बताया है कि, कुबेर पुलस्ति एवं विभीषण आदि पक्षियों से गरुड़ आदि पक्षी कहे है, किन्नर और चारण भी आमन्त्रित किये थे ॥१४॥

श्लोक—**राजनश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ।**
राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥१५॥

श्लोकार्थ—रानियों सहित राजाओं को भी बुलाया गया था, इस प्रकार आमन्त्रित सब पाण्डु के पुत्र राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आए थे ॥१५॥

सुबोधिनी—ततो द्वीपान्तरस्था **राजानश्च समाहूताः** चकाराद्ब्राह्मणा वैश्यादयश्च । **राजपत्न्यश्च सर्वश** इति । अगम्यस्थानेभ्योपि यतो **राजसूयं समीयुः** । स्मेति प्रमाणम् । **राज्ञः पाण्डुसुतस्येति** । महता क्रियत इति तत्रागमनं न लज्जायै ॥१५॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर अन्य द्वीपों में रहने वाले राजाओं को बुलाया था 'च' पद से ब्राह्मण और वैश्यों का भी आव्हान किया था, न केवल राजाओं को, किन्तु जितनी भी राज महिषियाँ थीं उनको भी बुलाया था । जिस स्थान का मार्ग आने जाने में कठिन था वहाँ से भी राजसूय यज्ञ में आ गए । 'स्म' यह पद प्रमाण रूप में दिया है । राजा युधिष्ठिर पाण्डु के पुत्र थे इसलिए वे महान् है वे यज्ञ कर रहे हैं वहाँ चलने में किसी प्रकार की लज्जा नहीं है ॥१५॥

आभास—ननु सर्वेषां निःशङ्कमागमने को हेतुरित्याशङ्क्य तमाह **मेनिरे कृष्णभक्तस्येति** ।

आभासार्थ—सब बिना शंशय के आ गए जिसका क्या कारण था ? इस पर 'मेनिरे' श्लोक में कहते हैं कि वह कृष्ण भक्त हैं इसलिए निःसंशय आने लगे थे ।

श्लोक—**मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।**
अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः ।
राजसूयेन विधिमत् प्राचेतसमिवामराः ॥१६॥

श्लोकार्थ—उन्होंने यों माना कि महाराजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्र का भक्त है,

इसलिए इसका यह यज्ञ निर्विघ्न सरलता से हो जायगा, अतः इनको किसी प्रकार का विस्मय न हुवा। जिस प्रकार देवों ने वरुण को यज्ञ कराया था उसी प्रकार देवों जैसे तेजस्वी ब्राह्मणों ने विधि अनुसार यह यज्ञ युधिष्ठिर द्वारा ही करवाया ॥१६॥

सुबोधिनी—अन्यस्य देशादिशुद्धिर्न भवतीति सूपपन्नत्वम्। अत एवातिसमृद्धिमपि। दृष्ट्वा अविस्मिताः। ततो **याजका** ऋत्विजः **राजसूयेन** महाराजमयाजयन्। **देववर्चसः** इति तेषां यज्ञाभिव्यक्तिसामर्थ्यं सूचितम्। **विधिवदिति** नानुकल्पः कस्मिन्नप्यंशे। पूर्ववदेव दृष्टान्तः **प्राचेतसमिवामरा इति** ॥१६॥

व्याख्यार्थ—दूसरों को यज्ञ करने के लिये देश आदि की शुद्धि चाहिए वह उनके लिए कठिन है किन्तु युधिष्ठिर को तो इस शुद्धि के लिए किसी प्रकार श्रम नहीं हुआ, इस कारण विशेष समृद्धि देख कर किसी को अचम्भा न हुआ, पश्चात् यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों ने महाराज युधिष्ठिर से राजसूय यज्ञ कराया, ऋत्विजों को 'देववर्चसः' विशेषण देकर यह बताया है कि इनमें यज्ञ के स्वरूप को प्रकट करने का सामर्थ्य है 'विधिवत्' विधि के अनुसार, कहने का यह आशय है कि इस यज्ञ में वही वस्तु लाई गई थी जो शास्त्र में लिखी थी, उसके बदले में अन्य वस्तु लाकर कार्य नहीं चलाया था, पूर्व की तरह ही यहाँ भी दृष्टान्त वरुण का दिया गया है जैसे देवों ने वरुण को यज्ञ कराया वैसे देव जैसे तेजस्वी ऋत्विजों ने महाराजा युधिष्ठिर को कराया है ॥१६॥

श्लोक—सुत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन्।
अपूजयन् महाभागान् यथावत् सुसमाहितः ॥१७॥

श्लोकार्थ—यज्ञ में जिस दिन सोम निकाला जाता है वह मुख्य दिन होता है अतः उस दिन राजा ने सावधान हो, यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों का तथा अन्य आए हुए ब्राह्मणों का दक्षिणा आदि से पूजनादि सत्कार किया ॥१७॥

सुबोधिनी—ततो मुख्ये **सुत्येऽहनि** 'माध्यंदिनसवने दक्षिणा नीयन्ते' इति 'यावन्तो वै सदस्यास्ते सर्वे दक्षिण्याः' इति च दक्षिणादानप्रस्तावे सुत्येऽहनि राजा **याजकान्** ऋत्विजः, **सदसस्पतीन्** सभ्यान्, अन्यानपि **महाभागान्** **अपूजयत्**। **यथावदा**त्रेयादिपूजाप्रकारेण। **सुसमाहित इति** क्रोधलोभादिरहितः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—सोम निकालने के मुख्य दिन में जब दक्षिणा देने का समय आया, तब महाराजा ने यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों की, सभासदों की और अन्य भी वहाँ जो भाग्यवान् थे उन सब की जैसे आत्रेय पूजा की विधि कही है वैसे ही क्रोध, लोभ आदि त्याग कर पूजा की, इस प्रकार महाराजा ने जो पूजा की वह [1]''माध्यंदिनसवने दक्षिणा नीयन्ते' इति [2]''यावन्तो वै सजस्यास्ते सर्वे दक्षिण्याः' इस शास्त्र के वचनानुसार किया।

१—मध्यान्ह समय में साम निकालने के समय ऋत्विज दक्षिणा लेकर जाते हैं।
२—जितने सभासद हो वे सब दक्षिणा देने के योग्य है।

आभास—अत्राधिदैविकपूजार्थं मुख्योऽयमेव याग इति विचार आरभ्यते । **सदस्ये**-त्यादि ऋत्विग्भ्य इत्यन्तेन ।

आभासार्थ—आधिदैविक की पूजा ही मुख्य यज्ञ है इसलिए अब 'सदस्याग्र्याहर्णार्हं' १८ से श्लोक से 'ऋत्विग्भ्य' ४७ श्लोक तक के श्लोकों में यही विचार किया जाता है कि कौन पूजा रूप करने के योग्य है जिससे आधिदैविक यज्ञ की सिद्धि हो सके । आप

श्लोक—सदस्याग्र्याहर्णार्हं वै विमृशन्तः सभासदः ।
नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत् ॥१८॥

श्लोकार्थ—इस सभासदों में से कौन अग्र पूजा के योग्य हैं ? यह निर्णय करने के लिए सभासद विचार करने लगे, किन्तु इसका अन्तिम निर्णय जब न कर सके तब सहदेव कहने लगा ॥१८॥

सुबोधिनी—सदस्याग्र्यार्हा बहुदक्षिणे यागे सुप्रसिद्धाः । यथा याज्ञवल्क्याय गोसहस्ररूपा दत्ता । ब्राह्मणेषु ब्रह्मविदेव तदर्हतीति । यद्यत्र परब्रह्म न भवति मूर्तिं धृत्वा तत्र जीवानां मध्ये तदभिज्ञोऽपि महान् भवति यत्र पुनर्भगवानेवा-विलुप्तमहिमा मूर्तीः परिगृह्य तिष्ठति तत्र किं पूर्वन्यायेन अनुकल्प एव कर्तव्यः आहोस्विद्भगवते देयमिति अनुकल्पेनापि समारम्भे तेनैव समाप्तिः कर्तव्येति । सर्वयागेषु ऋषिभिरनुकल्प एव समा-रब्धः तस्मादत्रापि ब्रह्मविदां मध्ये केनाप्यतिश-येन यो महान् भवति स एव पूजामर्हतीति केचित् । तथा सति व्यासो वसिष्ठो वा भवति यज्ञानां सर्वत्र संस्थितेः उक्तत्वात् । प्रक्रियान्तरे मुख्ये संभ-वति गौणकल्पनाया अन्याय्यत्वात् भगवानेवार्ह-तीत्यन्ये । एवमपि व्यासस्योभयरूपत्वात् कुल-वृद्धत्वात् पितामहत्वाच्च स एवार्हतीत्यपरे । सर्व-धर्माभिज्ञः भीष्मस्ततोऽपि ज्येष्ठ इति स[...]तीति केचित् । तस्यापि गुरुः परशुराम इ[...] सर्वत्र च नानाविधा युक्तयः प्रसरन्ति तत्र स[...] हेतुः कोऽप्यव्यभिचारी नास्ति । ब्रह्मवित्त्वं [...]वत्वं मान्यत्वं श्रेष्ठत्वमन्यद्वा साक्षात्परब्रह्मत्वं सर्वकलापूर्णत्वं सच्चिदानन्दविग्रहत्व कृष्णस्य भगवतः कश्चिदेव जानाति । अतोऽशत्वमेव साधारणमिति न सर्वेषां प्रथमतः संमतिः । ततः श्रेष्ठत्वं **विमृशन्तः** सर्वं एव **सभासदः** कमपि सर्वोत्कृष्टं **नाध्यगच्छन्** । तत्र हेतुः हेतोर**नैकान्त्या**-दिति । तत्र **सहदेवः** साक्षात्पूर्णपरब्रह्मत्वं सर्व-दोषरहितं हेतुं मन्यमानः कृष्णे भगवति तत्सा-धयितु**मब्रवीत्** । स हि ज्ञानकलावतारः सर्वज्ञो द्वादशवार्षिकमेष्यं जानाति तथाप्यपृष्टो न वदति । अत्र तु जिज्ञासायां सर्व एव पृष्टा भवन्तीति भग-वत्प्रेरणया **अब्रवीत्** ॥१८॥

व्याख्यार्थ—बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ में, सभासदों में अग्र पूजा के योग्य अनेक प्रसिद्ध हैं, जैसे कि ब्राह्मणों में उत्तम वह है, जो ब्रह्म को पहचानता है, इसलिए ब्रह्मज्ञ याज्ञवल्क्य को जनक के यज्ञ में एक सहस्र गौ दक्षिणा मे दी गई थी । ब्राह्मणों में वही पूजन के योग्य होता है जो ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला हो, यों है, यदि यहाँ स्वरूप को धारण कर 'प्रकट परब्रह्म विद्यमान (मौजूद) न हो तो वैसी स्थिति मे, जीवों के बीच में से उस परब्रह्म को जानने वाला महान् माना जाता है जहा फिर जिनकी महिमा प्रकट ही हैं वैसे भगवान् स्वरूप धारण कर

विराजते हैं वहां पूर्व न्याय के अनुसार क्या [1]अनुकल्प ही किया जाय ? अथवा भगवान् की अग्र पूजा की जाय ? यदि अनुकल्प से ही प्रारम्भ किया है तो अनुकल्प से ही समाप्ति करनी चाहिए।

इस विषय पर सभासदों के विचार पृथक् थे जिससे निर्णय न हो सका।

१- मत यह था कि प्रायः यज्ञों में ऋषिगण जब अनुकल्प से ही कार्य पूर्ण करते हैं, तब यहाँ भी ब्रह्मज्ञों में जो किसी प्रकार श्रेष्ठ हो उसकी अनुकल्प विधि अनुसार पूजा कर लेनी चाहिए, इसलिए व्यास और वसिष्ठ ही पूजा योग्य हैं क्योंकि यज्ञों में सर्वत्र ये स्थित (मौजूद) रहते हैं।

२- दूसरों का मत था कि जब मुख्य वस्तु विद्यमान हो तब अनुकल्प से कार्य पूर्ण करना अन्याय है अतः भगवान् ही पूजा के योग्य हैं।

३- तीसरों का मत था कि व्यासजी में दोनों प्रकार मुख्यता है भगवान् का ज्ञानावतार होने से ब्रह्म भी है और ब्रह्मज्ञ भी हैं तथा कुलवृद्ध एवं पितामह होने से यह ही पूजा योग्य हैं।

४- चौथों का मत था कि सर्व धर्म को जानने वाले भीष्म उससे भी बड़े हैं अतः वह ही पूजा के योग्य है।

५- पांचवों का मत था कि भीष्म के भी गुरु परसुराम है उनका पूजन होना चाहिए।

इस प्रकार सर्वत्र अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जा सकती है। वहां विषय की पूर्ण रीति से सिद्ध करने वाला अव्यभिचारी हेतु कोई नही है। ब्रह्मज्ञता, भगवत्व, मान्यत्व, श्रेष्ठत्व अथवा अन्य गुण और साक्षात्-परब्रह्मत्व, सर्व कलाओं से पूर्णता सच्चिदानन्द विग्रहपन भगवान् कृष्ण के इत्यादि गुण कोई ही जानता हैं, अतः अंशपन सबमें समान होने से किसी की भी, पहले श्रीकृष्ण के पूजन में सम्मति न हुई। सर्व सभासद विचार विमर्श करते हुए किसी को भी सर्वोत्कृष्ट (सब से उत्तम) न जान सके, उसमें कारण यह था कि उनको कोई हेतु निर्णय कारक नही मिला।

वहाँ भगवान् कृष्ण में ही साक्षात् पूर्ण परब्रह्मपन एवं सर्वदोष रहितपन पूजा का हेतु है यों मानने वाला सहदेव उस हेतु को सिद्ध करने के लिये बोलने लगा, कारण कि वह ज्ञानकलावतार एवं सर्वज्ञ था, उसकी आयु १२ वर्ष की ही थी, यों होते हुए भी बिना पूछने के बोलने की इच्छा नहीं थी, इस विषय पर जिज्ञासा के कारण, सर्व ही पूछे हुए समझने चाहिये, तो भी भगवान् की प्रेरणा से कहने लगा ॥१८॥

आभास—आदौ साध्यं निर्दिशति **अर्हति** ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यमिति।

आभासार्थ—पहिले जिसको सिद्ध करना है वह विषय हेतु देकर 'अर्हति' श्लोक में सिद्ध करता है।

१—अनुकल्प का तात्पर्य है कि यदि मुख्य वस्तु न मिले तो उसके बदले मे जिसमें वैसे स्वल्प भी गुण हों उस वस्तु से कार्य किया जाय।

श्लोकार्थ—अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः ।
एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥१६॥

श्लोकार्थ—सहदेव ने कहा कि वैष्णवों के पति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अग्र पूजा के योग्य हैं क्योंकि देवता, देश, काल और धन आदि सर्व ये ही हैं और अच्युत हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—तत्र हेतुर्भगवानिति । भगवत्त्वं व्यासादिष्वप्यस्तीत्याशङ्क्याह **सात्वतां पतिरिति** । अन्ये हि कार्यार्थं भगवदंशपुरुषनिर्मितप्रपञ्चैकदेशार्थसिद्धचर्थं केनचिदंशेनावतीर्णाः कृष्णस्तु वैष्णवानां पतिरिति कालगृहे समागतान् कालं वञ्चयित्वानेतुमागत इति मर्यादारक्षार्थं पतित्वात् समागतः । अतो भगवदिच्छयैव कालसंबन्धिनो न तं जानन्ति । तस्मादयमव्यभिचारी हेतुः पूर्णभगवत्त्वमिति । ननु तथापि प्रकरणानुरोधेन पदार्थनिर्णयः कर्तव्यः प्रकरणमत्र देवानां प्रीतिः 'यक्ष्ये विभूतीः' इतिवाक्यात् न हि यत् सेवकेभ्यो देयं तत् स्वामिने दातुं शक्यते । लोकाः स्वामिदर्शनेऽपि न सेवकेभ्यः प्रयच्छन्तीत्याशङ्कायामाह **एष वै देवताः सर्वा** इति । यदि सर्वे देवाः प्रीणनीयाः तदा स्थानापेक्षया स्वरूपमुत्तममिति 'यावतीर्वै देवताः' यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना' इति वाक्यानुरोधं परित्यज्य साक्षात्सर्वदेवतारूपं भगवन्तमेव पूजयन्त्वित्यर्थः । वै निश्चयेनेति उपचारव्यावृत्तिरुक्ता । यथा 'अग्निः सर्वा देवताः' 'आपो वै सर्वा देवताः' इति तत्र तत्रोपाख्याने सर्वदेवत्वं तेषां गौणभावत्वेन निरूपितम् । यथा 'देवासुराः संयत्ता आसन् ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता' इति तथाग्निरपि अपः प्राविशत् । 'स निलायत सोऽपः प्राविशत्' इति । एवं केनचिन्निमित्तेनैव सर्वेषां सर्वदेवतारूपत्वं गौणमेव स्वभावत एव भगवान् सर्वदेवतारूपः 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवति' इति पक्षे त एव देवा अत्र पूज्याः 'इन्द्रादयो बाहवः' इत्यादिवाक्याद्वा अधिदैविका एव यज्ञभाज इति । ननु तथापि योग्ये कस्मिंश्चिद्देशे कस्मिंश्चित्काले तत्र प्रवर्तमानस्य यागस्य ऋषीणा तदधीनत्वात् तद्देशतत्कालाभिमानिना देवतैव प्रकरणवशात् पूजामर्हतीत्याशङ्क्याह **देशकालेति** । ननु तथापि योग्यं योग्येन सबध्यत इति प्राकृता धनादयः पदार्थाः कथं साक्षाद्भगवते दातुं शक्याः । लोकेपि विप्राय गुरवे स्वामिने नहि शूद्रः स्वकन्यां प्रयच्छति किंतु शूद्रायैवाधमायापि दातुं वाञ्छतीत्याशङ्क्याह **धनादय** इति । **आदिशब्देन वस्त्राभरणानि गवादयश्चोच्यन्ते** ॥१६॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण की पूजा में कारण देता है कि वे **'भगवान्'** हैं यदि कोई कहे कि **भगवान्पन तो व्यासादि में भी है तो** उसके उत्तर में कहते हैं कि **वैष्णवों के पति हैं** व्यासादि **वैष्णवों के पति नहीं है,** दूसरे जिनमें भगवत्पन हैं वे **कार्य के लिये भगवान् के अंश पुरुष के** रचे हुए प्रपञ्च में किसी एक देश के कार्य को सिद्ध करने के लिए किसी अंश से अवतार लिए हुए हैं, **श्रीकृष्ण तो वैष्णवों के पति हैं अतः जो जीव इस कालगृह** संसार में आए हैं उनको लेने के लिए आए हैं । काल की भी वञ्चना कर **कालगृह** से **निकाल ले जायेंगे, क्योंकि आप पति हैं अतः** पतिपन की मर्यादा रखने के लिये स्वयं पधारे है, काल से जिनका सम्बन्ध है वे भगवान् की इच्छा से उनको नहीं पहचान सकते हैं । इसी कारण से ही श्रीकृष्ण का पूर्ण भगवत्व ही पूजा के लिए अव्यभिचारी कारण है ।

यों हो, तो भी प्रकरणानुसार ही विषय का निर्णय करना चाहिए यहाँ प्रकरण है, देवों की प्रीति अर्थात् देवों को प्रसन्न करना, क्योंकि पहिले ही महाराजा ने कहा है कि 'यक्ष्ये विभूतीः' आपकी विभूतियों का पूजन करूंगा, जो वस्तु सेवकों को देनी है, वह स्वामी को नहीं दी जाती है। यदि कहो कि लोग स्वामी के दर्शन (मौजुद) होते हुए भी सेवकों को देते हैं, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'एष वै देवताः सर्वा' यह निश्चय सर्व देव रूप हैं, यदि सकल देवों को प्रसन्न करने की इच्छा होवे तो देवताओं के वास के स्थान से देवताओं का स्वरूप उत्तम है अतः जितने देवता हैं वे ब्रह्म जानने वाले ब्राह्मण में रहते हैं, जिनकी भगवान् में निष्प्रोयजन भक्ति है उनमें सर्व देव रहते हैं। इन वाक्यों में आदर त्याग कर साक्षात् सर्वदेव स्वरूप भगवान् की ही पूजा करिए।

'अग्नि सर्वदेव रूप है' 'जल सर्वदेव रूप है' ऐसा जो उपाख्यानों में इनको सर्वदेव रूप कहा है वह गौणता से कहा है, इसलिए इस प्रकार का उपचार नहीं हुआ है, यह जताने के लिए 'एष वै देवताः सर्वा' इस मन्त्र में 'वै' निश्चयवाचक पद दिया है। जैसा कि कहा है–देव असुरों के युद्ध में, देवता डर कर अग्नि में प्रविष्ट हुए इसलिए ही कहते हैं कि अग्नि सर्वदेव रूप है वैसे ही अग्नि देव भी जल में प्रविष्ट हुआ, इस प्रकार किसी निमित्त से ही सबका सर्वदेव रूपपन जो कहा है वह गौण ही है। स्वभाव से तो भगवान् ही सर्व रूप हैं। 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवति' किसी समय आत्मा ही सब होता है, इस मतानुसार वे देव भी श्रीकृष्ण स्वरूप में ही पूज्य हैं। 'इन्द्रादयो बाहवः' इन्द्र आदि देव भुजाऐ है, इत्यादि प्रमाण से आधिदैविक ही यज्ञ का भाग लेने वाले हैं। यों हैं, तो भी किस देश में, किस काल में, वहां प्रारम्भ किया हुआ यज्ञ ऋषियों के आधीन होने से उस देश और काल के अभिमानी देव ही प्रकरण वश पूजा के योग्य होते हैं। इस प्रकार की शंका का उत्तर देते है कि देश, काल, धन भी वही है। शका करते हैं कि योग्य का सम्वन्ध योग्य से ही होना चाहिए, धनादि पदार्थ प्राकृत हैं, वे साक्षात् अप्राकृत भगवान् को कैसे दिए जा सकते हैं? लोक में शुद्र भी अपनी कन्या ब्राह्मण, गुरू वा स्वामी को नहीं देता है, किन्तु अधम शुद्र को ही देना चाहता है, आदि शब्द से वस्त्र आभूषण गौ आदि कही जाती हैं ॥१९॥

आभास—एवं ब्रह्मत्वमङ्गीकृत्य तस्मिन् दानं समर्पितं ब्रह्मत्वं तु साधयति **यदात्मकमिदं** विश्वमिति।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण में ब्रह्मत्व है अर्थात् श्रीकृष्ण ब्रह्म है इसलिए इनकी ही अग्र पूजा करनी चाहिए, इस ब्रह्मत्व को 'यदात्मकमिदं विश्वं' श्लोक में सिद्ध करता है।

श्लोक—यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः।
अग्निराहुतियो मन्त्राः सांख्ये योगश्च यत्परः ॥२०॥

श्लोकार्थ—यह विश्व और यज्ञ जिस श्रीकृष्ण के रूप हैं अग्नि, आहुतियाँ एवं मन्त्र भी जिसके रूप हैं सांख्य तथा योग भी जिसके परायण हैं ॥२०॥

सुबोधिनी— विश्वस्येतदात्मकत्वे यशोदा प्रमाणं न केवल लौकिकात्मत्वे ब्रह्मत्वमिति वेदार्थरूपत्वमप्याह **क्रतवश्च यदात्मका** इति। क्रतूनां तदात्मकत्वे वरहावतार एव प्रमाणम्।

सर्वयज्ञस्वरूपत्वं प्रकटयन् तेन रूपेण प्रादुर्भूतो भगवान्। सर्वमग्नौ हूयत इति अग्निप्रीतिः कर्तव्येति प्रकरणपक्षेऽप्याह **अग्निरिति**। अयमेवाग्निः 'ब्रह्म तर्हि अग्निः' इति श्रुतेः तादृश एव च होमः। योग्यत्वाय आहुतीनां भगवत्त्वमाह **आहुतय** इति। मन्त्राभिमानिनी देवता प्रकरणवशान्मुख्येत्याशङ्क्याह **मन्त्रा** इति। तथापि शास्त्रानुसारेण यो महान् भवति स एव ग्राह्यो न युक्त्या किञ्चित् कर्तव्यमित्याशङ्कायामाह **सांख्यं योगश्चयत्पर** इति। वेदादीनि पञ्चशास्त्राणि तत्र ब्रह्मत्वे यज्ञत्वे च सिद्धे वेदार्थः सिद्धः। सांख्यस्य त्वत्रैव तात्पर्य एतस्यैव सर्वात्मत्वं स्नेहान्निश्चितम्। **योगस्यापि** ध्यानमूर्तिरयमेवेति **आत्मेति** च एतदर्थमेव चित्तवृत्तिरोधोमिति 'आत्मन्येव वशं नयेत्' इति वाक्यात्तात्पर्यम्। चकारात्पशुपतिमतस्याप्यत्रैव। स्कन्दपुराणे महादेवेन स्कन्दं प्रत्युक्तवात् 'परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतम्। शास्त्राणां निर्णयस्त्वेषस्तदन्यन्मोहनाय हि' इति। वैष्णवसिद्धान्ते तु न सन्देह एव। अतः सर्वशास्त्राणामत्रैव तात्पर्यमित्यर्थः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यह विश्व इन (श्रीकृष्ण) का रूप है जिसमे यशोदा प्रमाण है केवल विश्व की आत्मा होने से ही श्रीकृष्ण का ब्रह्मत्व नही है किन्तु वेद के अर्थ जो यज्ञ है इनके भी आत्मा ये ही है अर्थात् यज्ञ भी इनके रूप है, यज्ञ इनके रूप है जिसमे वराह अवतार प्रमाण है। सर्व यज्ञों का स्वरूप प्रकट करते हुए इस (वराह) रूप से भगवान् प्रकट हुए, सब अग्नि में होमा जाता है, इससे अग्नि की प्रीति करनी चाहिए, इस मत के प्रकरणानुसार ही कहा है कि अग्नि भी यह ही है, अग्नि ही ब्रह्म होने से अग्नि पूजा के योग्य है, आहुतियाँ भी इनके ही रूप होने से पूजनीय हैं। प्रकरण दश मन्त्र का अभिमानी देवता पूज्या है इसलिए कहा मन्त्र भी इनके ही रूप है, तो भी शास्त्र के अनुसार जो महान् होवे वह ही महान् समझना चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए, युक्ति से कुछ नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हैं कि 'साङ्ख्यं योगश्च यत्परः' साङ्ख्य और योग का भी इनमें ही तात्पर्य हैं। वेद आदि जो पांच शास्त्र हैं वहां ब्रह्मत्व और यज्ञत्व सिद्ध हो जाने से वेद का अर्थ सिद्ध हो गया। साङ्ख्य का तात्पर्य इनमें इसीलिए है कि स्नेह से सबका आत्मापन सिद्ध हुआ है, सब आत्मा है, इस साङ्ख्य ज्ञान के कारण ही सब प्रिय लगता है योगानुसार ध्यान योग्य मूर्ति भी ये ही हैं इसलिए कि आत्मा हैं, इसके लिए ही इनमें चित्त की वृत्ति का निरोध योग कहा है चित्त को आत्मा के ही अधीन करें, इस प्रकार वाक्य से तात्पर्य है, 'च' पद से पशुपति मत का भी यहां ही (श्रीकृष्ण में ही) तात्पर्य है, जैसा कि स्कन्द पुराण में महादेवजी ने स्कन्द को कहा है कि 'परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतम्। शास्त्राणां निर्णयस्त्वेषस्तदन्यन्मोहनाय हि' एक विष्णु ही बड़ा है, उनका ज्ञान ही परम ज्ञान है शास्त्रों का यह ही निर्णय है, अन्य प्रकार जो कुछ कहा है वह मोहित करने के लिए कहा गया है, वैष्णव सिद्धान्त में तो इस विषय में कोई सन्देह ही नहीं है। अतः सर्व शास्त्रों का इन (श्रीकृष्ण) में ही तात्पर्य है, इस प्रकार अर्थ (तत्व) है ॥२०॥

आभास—ननु तथापि ब्रह्मलक्षणाभावे कथं ब्रह्मत्वमिति चेत्तत्राह **एक एवाद्वितीयोऽसाविति**।

आभासार्थ—तो भी यदि श्रीकृष्ण मे ब्रह्म के लक्षण नही हो तो वे ब्रह्म कैसे? इसका उत्तर 'एक एवाद्वितीयो' श्लोक में देता है।

श्लोक—एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत् ।
आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥२१॥

श्लोकार्थ—ये श्रीकृष्ण ही एक और अद्वितीय हैं तथा इस जगत् के आत्मा भी ये श्रीकृष्ण ही हैं, हे सभासदों ! आप ही अपने आश्रयरूप और अजन्मा ये ही जगत् को बनाते हैं पालते हैं और लीन करते हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—वेदान्तेषु एकं ब्रह्म अद्वितीयं ब्रह्मेति क्वचित् ब्रह्मलक्षणं क्वचिन्निर्णयशास्त्रे विश्वं ब्रह्मेति अत एव विश्वमिति प्रथमनाम । किंच, स आत्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुतेः । 'यो ह्यात्मानं स्वयं करोति स आत्मा ब्रह्मे'ति 'यस्स्वात्माश्रयः स ब्रह्मेति' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिभिः सृष्टिप्रलयकर्ता ब्रह्मैव यस्तु सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरकः स ब्रह्मेति 'अन्तरो यमयति इति श्रुतेः । एवं वहुवाक्यानुरोधेन सर्वमेव धर्मजातं भगवद्गतमित्यनुवदति । एक एवायं महता दृष्टिरत्र प्रमाणं । ते हि सर्वत्र कृष्णमेव पश्यन्ति **अद्वितीयश्च** 'ज्योतीषि विष्णुः' इत्यादिवाक्यात् । तेषामनुभवोऽपि प्रमाणं सोऽन्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **असाविति** । **सर्वेषामेव** भूतानां पिता माता स माधवः । तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः' इति मार्कण्डेयवाक्यात् पर्णपुटे तेनायमेव दृष्ट इत्यभिज्ञानाच्च । किंच । **ऐतदात्म्यमिदं जगत्** दुर्वाससा आरण्यके पर्वणि निर्धारितं अन्यथा **शाकान्नमुष्टिभक्षणेन** कथं ते तृप्ता भवेयुः । किंच । अयमेवात्मनात्माश्रयो भूत्वा जगत् आत्मस्वरूपं **सृजत्यवति हन्ति** स्वयं स्वजः । अत्र प्रमाणं **सभ्या** इति संबोधनं संमत्यर्थम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—वेदान्तो[1] में ब्रह्म एक है एवं अद्वितीय है, इसी प्रकार का लक्षण कहीं कहा गया है, किसी निर्णय करने वाले शास्त्र में कहा है कि 'विश्वं ब्रह्म' विश्व ब्रह्म है इस कारण से ही 'विश्व' यह पहला नाम है फिर अन्यत्र 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इस श्रुति में कहा है कि उन्होंने अपने को आप[2] ही किया । जो अपने को आप ही अनेक रूप विश्व कर सकते है वे ही आत्मा ब्रह्म हैं और जो अपना आश्रय भी आप ही है, वह ब्रह्म है और जिससे ये प्राणी मात्र उत्पन्न होते हैं, इन और अन्य श्रुतियों से सिद्ध है कि सृष्टि और प्रलय करने वाला ही ब्रह्म है, जो कि सर्व के अन्तर्यामी, सर्व के प्रेरक वे ही ब्रह्म है, 'अन्तरो यमयति' इस श्रुति के अनुसार जो अन्दर विराजमान है वे ही वश करते हैं अर्थात् सर्व के अन्तर्यामी भीतर ही बैठ कर जो सबको प्रेरणा कर रहे हैं, वे ही ब्रह्म हैं, इसी भाँति अनेक वाक्यों के आग्रह से सर्व धर्म से उत्पन्न जो कुछ है वह सर्व भगवान् में रहा हुआ है यों कहने लगा ।

ये एक ही हैं, इस विषय में महापुरुषों की दृष्टि ही प्रमाण है, क्योंकि वे ही सर्वत्र सर्व में श्रीकृष्ण का ही दर्शन कर रहे है, और वे ही अद्वितीय हैं, क्योंकि 'ज्योतीषिं विष्णुः' इस श्रुति में तारों को भी विष्णु कहा है, इस तरह उन महापुरुषों का अनुभव भी इस विषय में प्रमाण है । वे अन्य होंगे ? इस शंका के उत्तर में कहता है कि 'असौ' वे ये ही हैं जैसे कि कहा है 'सर्वेषामेव भूतानां' पिता माता स माधव. तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः' यह श्लोक मार्कण्डेय पुराण

१—उपनिषदों में २—आप ही विश्वरूप बने

का है, मार्कण्डेय ऋषि ने दोनों में इनको ही देखा था, अतः कौरवों को इस श्लोक में यह उपदेश दिया है कि सब ही प्राणियों के माता पिता वे 'माधव ही है अतः हे कौरव श्रेष्ठों ! उन शरण्य की शरण लो और फिर 'एतदात्म्यमिदं जगत्' इस जगत् की आत्मा वे ही हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दुर्वासा ने देखकर आरण्यक पर्व में कहा कि ये ही सबकी आत्मा हैं अन्यथा इनके शाक के पत्ते खाने से सब तृप्त कैसे हो जाय ? और विशेष में ये ही अपने आपके ही आश्रय होकर आत्म स्वरूप जगत् को बनाते है, पालते हैं और लीन करते हैं किन्तु आप अजन्मे ही रहते है इसमें प्रमाण आप सभ्य है यह सम्बोधन सम्मति लेने के लिये दिया है ॥२१॥

श्लोक—**विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया ।**
ईहते हृदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—ये ही भगवान् इस जगत् में अनेक प्रकार के कर्म उत्पन्न करते ही रहते हैं, उनकी ही कृपा से सब लोग अनेक प्रकार के शुभ कर्म कर धर्मादि पुरुषार्थ सिद्ध कर कल्याण प्राप्त करते हैं ।

सुबोधिनी—किच । इहैव जगति **विविधानि कर्माणि जनयन्** यो वर्तते । सर्वकर्माण्ययमेवोत्पादयति 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचम्' इति वाक्यानुसारेण । अत्रापि प्रमाण 'सभ्या' इत्येव । किंच । साक्षी चाय यतः सर्वोऽपि लोकोऽस्मदादिः **धर्मादिलक्षणं** श्रेय **ईहते यदवेक्षयैव**, न हि भगवदवेक्षाभावे श्रेयः सिद्ध्यति । अत्र वयमेव प्रमाणम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जो श्रीकृष्ण इस जगत् में अनेक कर्म उत्पन्न करते हुए विराजते है 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचम्' इस वाक्य के अनुसार अन्दर प्रवेश कर, जो मेरी वाणी को प्रेरणा करते हैं ये भगवान् ही सर्व कर्मों को उत्पन्न करते हैं इसमें भी आप सभ्य होने से प्रमाण हैं साक्षी तो ये ही हैं क्योंकि हम सब लोग जिनके सहारे सेवा कृपा दृष्टि से ही धर्म आदि रूप कल्याण प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर सकते है, भगवान् की कृपा दृष्टि के बिना श्रेय की सिद्धि नहीं हो सकती इस विषय में हम ही प्रमाण हैं ॥२२॥

श्लोक—**तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।**
एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—इसलिए महात्मा श्रीकृष्णचन्द्र को ही अग्र पूजा दीजिए यों करने से सब प्राणियों की और अपनी भी पूजा हो जायगी ॥२३॥

सुबोधिनी—**तस्मात्** साक्षात्पूर्ण परब्रह्मत्वात् सर्वानुपपत्त्यभावाच्च । **कृष्णायैव दीयतां परमार्हणम्** । तथाप्यस्मदपेक्षया कनिष्ठः मातुलेयः कथ दानमर्हतीत्याशङ्कायामाह **महत** इति । विश्वरूपप्रदर्शनाद् 'पिता माता' इति वाक्याच्च महत्त्वं सिद्धं मोहार्थमेव च तस्याल्पत्वमिति, परन्त्वल्पार्हणं न देयं किंतु **परमार्हणम्** । नन्वेवं कृते को विशेषः अलौकिकं च भवति अतो व्याजादिरेव

१—स वे का तात्पर्य है जिसका दर्शन मैने पर्णपुट (दोने) में किया है ।

कश्चित्पूजार्हो भवत्वित्याशङ्कायामाह एवं चेदिति । अत्र बहवः एव समानास्तिष्ठन्ति सर्व एवैकदा पूजयितुमशक्याः तत एकपूजायामन्यद्रोहो भवतीति प्रत्यक्षविरोधः । अथ 'योऽन्यां देवतामुपास्ते' इति श्रुतिविरोधश्च । अतस्तादृशाय देयं यस्मिन् दाने सर्व एव तृप्ता भवन्ति सोयमेवेत्याह एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेदिति ।।२३।।

व्याख्यार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण परब्रह्म हैं जिस में किसी प्रकार अयोग्यपन नहीं हैं सब प्रकार की उपपत्तियाँ विद्यमान (मौजूद) हैं इसलिए इनकी ही अग्रपूजा कीजिए ।

यों है तो भी हमारी अपेक्षा वे छोटे है, मामा के बेटे हैं वे दान कैसे लेंगे ? इस शंका को मिटाते हैं कि ये 'महान्' हैं क्योंकि उन्होंने अपने में विश्वरूप का दर्शन कराया है तथा 'माता पिता' है यों पहले कह आए हैं, इस वाक्य से भी उनका महान्पन सिद्ध है, उनका अल्पत्व मोह के कारण ही हम लोग समझते हैं, अथवा हमको मोह में फंसाने के लिए अल्पत्व प्रकट करते हैं, अतः इनका पूजन साधारण नहीं करना किन्तु महान् पूजन करना चाहिये ।

यों करने पर क्या विशेषता अथवा अलौकिक होगा ? अतः जैसे व्यासादि ही कोई ऋषि पूजा के योग्य हो वैसे ही करना चाहिए इसके उत्तर में कहता है कि यदि यों किया जावेगा तो असमञ्जसता[1] होगी, क्योंकि यहां बहुत एक समान बैठे हैं सबकी साथ में पूजन करना अशक्य हैं तो एक की पूजा से दूसरे का द्रोह[2] होगा, इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोध है और 'योऽन्यां देवतामुपास्ते'[3] इस श्रुति का भी विरोध होगा, अतः उसका यह अग्रपूजन किया जाय जिसके करने से सब प्रसन्न एवं तृप्त हों ऐसे तो ये श्रीकृष्ण ही हैं इस प्रकार यदि पूजा दान करने में आवे तो सर्वभूतों का, अपना भी पूजन हो जाएगा ।।२३।।

आभास—तत्र हेतुः **सर्वभूतात्मभूतायेति** ।

आभासार्थ—'सर्वभूतात्मभूताय' श्लोक से इसमें कारण बताता है ।

श्लोक—सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने ।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता ।।२४।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य दान का अनन्त फल चाहता हो उसको चाहिए कि सर्व प्राणी रूप और आत्म रूप हुवे अन्य कुछ भी न देखने वाले, शान्त और पूर्ण स्वरूप इन श्रीकृष्ण को ही पूजा दान देवें ।

सुबोधिनी—**सर्वभूतभूतः आत्मभूतश्च** । वेदव्यासव्यावृत्त्यर्थं **कृष्णायेत्येकवचनकथनम्** । ननु तथापि गृहीतावतारः कदाचिदपि आत्मानं परिच्छिन्नं मन्यते तदा दोषाद्दानमनुचितं स्यादित्या-

---

१—दुविधा, २—अपमान, ३—दुसरे देव की पूजा करते है ।

शङ्कयाह । अनन्यदर्शिन इति । न तस्य क्वचिदप्यन्यदर्शनमस्ति किंतु सर्वमात्मत्वेनैव पश्यतीत्यर्थः प्रसङ्गाद्दोषान्तरमपि वारयति शान्ताय पूर्णायेति । शान्तो दानपात्रं पूर्णश्च, लोलुपता क्रोधश्च, दोषौ । एवं निर्दोषपूर्णगुणपात्रे दाने अनन्तं फलं भवति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सर्व प्राणिरूप और आत्मरूप बने हुए को ही दान करना चाहिए, वेद व्यास को दान नहीं करना चाहिए इसलिए 'कृष्णाय' एक वचन देकर स्पष्ट कर दिया है कि कृष्ण के सिवाय अन्य किसी को भी पूजा दान नहीं देना चाहिए।

यों होते हुए भी यदि अवतार धारण कर श्रीकृष्ण किसी समय अपने को अवच्छिन्न मानले तो इस दोष के कारण, दान लेने के योग्य न होंगे, इस प्रकार की शंका होने पर यह दूसरा विशेषण 'अन्य कुछ भी नही देखते हैं' दिया है, अर्थात् सब मैं ही हूं, यों ही देखते हैं, प्रसंग के कारण दूसरा कोई भी दोष उनमें नहीं है क्योंकि शान्त और पूर्ण दो विशेषण दूसरे भी दिये हैं जिसका तात्पर्य है कि शान्त होने से दान के पात्र है पूर्ण होने से लोभीपन, और क्रोध ये दोष भी नहीं हैं। इस प्रकार जो निर्दोष और पूर्ण गुण वाले हैं उनमें दान अत्यन्त फलदायी होता है ॥२४॥

श्लोक—इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।
तच्छ्रुत्वा तुष्टुवुः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानने वाले सहदेव ने इतने वचन कहकर मौन धारण किया, ये वचन सुनकर सब प्रसन्न हुए और धन्य धन्य कह कर प्रशंसा करने लगे ॥२५॥

सुबोधिनी—एवं युधिष्ठिरमुक्त्वा स्वयमुद्यममकृत्वा तूष्णीभूतः अन्यथा पूजार्थं स्वयमेव बलात्सामग्रीं संपादयेत् । तत्र हेतुः कृष्णानुभावविदिति । स्वयमेव भगवदनुभावः सर्वेषां हृदय प्रेरयिष्यति यद्यभिप्रेतोर्थो भविष्यति । अत्र भगवद्धर्माः प्रकटा भवन्तीति भगवदिच्छायां संदेहात् तूष्णींभावः । ततो भगवदिच्छया तद्वाक्यं सर्वसंमतं जातमित्याह तच्छ्रुत्वेति । सर्व एव सोऽर्थः सर्वयुक्तिसह इति साधुसाध्वित्युक्त्वा भगवन्तं सहदेवं तुष्टुवुः । दैत्यांशानां स्तोत्र तेषां नाशप्रतिबन्धकमिति तत्र भगवदिच्छाभावात् सत्तमा एव तथोक्तवन्तः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार युधिष्ठिर को कह कर, स्वयं कुछ उद्यम न कर चुप रह गये, नहीं तो स्वयं (खुद) पूजा के लिए बलपूर्वक पूजा की सामग्री सिद्ध करते, जिसमें (सामग्री सिद्ध न करने में) कारण कि श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानने वाले थे, भगवान् स्वयं यदि अग्रपूजा चाहते होंगे तो सबके हृदय में वैसी ही प्रेरणा करेंगे, जिससे इच्छित कार्य सिद्ध हो जायगा, यहाँ भगवान् के धर्म प्रकट होते हैं, भगवान् की इच्छा क्या है ? इसका निश्चय न जानने से मौन धारण की। पश्चात् भगवान् की इच्छा से उसके वाक्य सबको योग्य लगे (पसन्द आए)। इसलिए कहते हैं कि वे वचन सुनकर सब ही कहने लगे कि इसके कहे हुए वचन युक्ति युक्त हैं इसलिए सबने धन्य धन्य कहा जिससे भगवान् एवं सहदेव प्रसन्न हुए, यहाँ दैत्यांशों ने सहदेव के वचनों की स्तुति (प्रशंसा) नहीं की, यदि करते तो उनके नाश में वह स्तुति रुकावट हो जाती अर्थात् वे मरते नहीं, उनके वचने में भगवान् की इच्छा भी नही थी, इसलिए ही जो दैत्यांश न थे, उत्तम ही थे उन्होंने स्तुति की ॥२५॥

आभास—ततः सर्व संमतिः ज्ञात्वा शापादिभयं परित्यज्य भगवत्पूजार्थं प्रवृत्त इत्याह **श्रुत्वा द्विजेरितमिति ।**

आभासार्थ—पश्चात् सबकी सम्मति जान, शाप आदि के भय को त्याग भगवान् की पूजा के लिए युधिष्ठिर प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'श्रुत्वा द्विजेरितं' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्द सभासदाम् ।**
समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणय विह्वलः ॥२६॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों के वचन सुन, सभासदों का अभिप्राय जानकर, प्रसन्न तथा प्रेम से विह्वल राजा ने इन्द्रियों के ईश भगवान् का पूजन किया ॥२६॥

सुबोधिनी—सर्वेरेव **द्विजेरीरितं राजत्वात्तेषां** भावमपि जानाति तदाह **ज्ञात्वा हार्द सभासदा**मिति। अत्र वादिनामविवादं मन्यते सभासदः तत इन्द्रियप्रेरकमन्तर्यामिणं तत्प्रेरितः सन् **सम-र्हयत्** । **प्रीत** इत्यन्तःकरणेन पूजनम् । **प्रणय-विह्वल** इतीन्द्रियैः । शरीरेण तु पूजयत्येव ॥२६॥

व्याख्यार्थ—वहाँ जो भी ब्राह्मण उपस्थित थे सबने सहदेव के वचनों से सम्मति दिखलाते हुए धन्य धन्य कहा, उनके यह वचन सुन, आप राजा हैं अतः उनका आशय भी समझ कर तदनुसार करने लगा, क्योंकि वहां वादियों ने कोई विवाद भी नही किया, जिससे राजा उनकी भी सम्मति जान कर, पश्चात् इन्द्रियों के प्रेरक अन्तर्यामी की, उनकी प्रेरणा से पूजा करने लगा, प्रसन्न हो पूजा करने लगा, इससे यह जताया है कि अन्तःकरण से पूजा करने लगा न कि ढोंग से दिखावा करने लगे, प्रेम से विह्वल का भावार्थ है कि इन्द्रियों से भी पूजा की, शरीर से, तो (जो) कर रहे हैं वह सब देखते ही हैं ॥२६॥

आभास—तत्पूजाप्रकारमाह **तत्पादाववनिज्येति ।**

आभासार्थ—उनकी पूजा का प्रकार 'तत्पादाववनिज्यापः' श्लोक में कहते है।

श्लोक—**तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः ।**
सभार्यः सानुगामात्यः सकुटुम्बोवहन्मुदा ॥२७॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चरण धोकर जगत् को पवित्र करने वाला यह जल, राजा ने स्त्रियों, छोटे भाई, अमात्य और कुटुम्ब के साथ आनन्द पूर्वक शिर पर चढ़ाया ॥२७॥

सुबोधिनी—चरणोदकधारणमतिश्रद्धाबोधकं अन्यथा 'अश्रद्धया' इति दान व्यर्थं स्यात् । अतः **अपः लोकपावनीः शिरसा अवहत्** । **सभार्य** इति सम्पूर्णः **सानुगामात्य** इतिसेवकामात्यसहितः **सकुटुम्बश्च** । अनेन सर्वथा श्रद्धा संमतिश्चोक्ता ॥२७॥

व्याख्यार्थ—चरणों का जल शिर पर धारण करना श्रद्धा का बोधक है, यदि श्रद्धा न होवे तो दिया हुआ दान व्यर्थ है, अतः लोकों को पवित्र करने वाला चरणों का जल स्वयं ने, स्त्रियों छोटे भाई, सेवक, मन्त्री और कुटुम्ब सहित अपने २ शिर पर चढाया, यों करने से सबकी श्रद्धा और सम्मति प्रदर्शित की है ॥२७॥

आभास—ततः पीताम्बरादिभिः पूजनमाह **वासोभिरिति** ।

आभासार्थ—'वासोभिः' श्लोक से पीताम्बर आदि वस्त्रों से पूजन कहते हैं ।

श्लोक—**वासोभिः पीतकौशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः ।**
अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—पीले रेशमी वस्त्र और अमूल्य आभूषणों से जब पूजन किया, तब राजा के नेत्र आँसुओं से भर गये जिस कारण से वे देख भी नहीं सके ॥२८॥

सुबोधिनी—योग्यत्वाय **पीतकौशेयैः** पीतपट्टवस्त्रैर्महाधनैर्भूषणैश्च पूजनम्, हर्षश्चान्तरस्थः । भक्त्या पूजनं नाङ्गविकलं भवतीति ज्ञापयितुमाह **अर्हयित्वेति** । अश्रुभिः पूर्णे अक्षिणी यस्येति भगवद्दर्शनेन चक्षुस्तेजःप्रसवसहितं जातमित्यर्थः । ततो यथाभिलषितमपि न द्रष्टुं शक्त इत्याह **नाशकत्समवेक्षितुमिति** । दर्शनोपभोगेनापि तन्न व्ययितमिति तस्याधिदैविकसमाराधनं पूर्णमेव स्थितमिति सूचितम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण पूजन करने के योग्य थे, इसलिए उनका पीले रेशमी वस्त्रों से और अत्यन्त कीमती अलंकारों से पूजन किया, प्रसन्नता तो भीतर हृदय में ही स्थित थी, भक्ति से जब पूजन किया जाता है, उस समय अंग में विकलता नहीं होती है, इसलिए कहा है कि 'पूजयित्वा' अर्थात् पूजा करने के अनन्तर जो प्रेमानन्द उत्पन्न हुआ उससे नेत्रों में जल भर गया जिस कारण से युधिष्ठिर, अभिलषित के दर्शन भी न कर सका, जिसका अन्तः तात्पर्य यह है कि भगवान् के दर्शन के उपभोग से वह व्यथित नही हुआ अर्थात् उसका आधिदैविक पूजन पूर्ण ही हुआ ॥२८॥

आभास—अयमुत्तमाधिदैविको धर्मो भवतीति ज्ञापयितुं सर्वसभाजनमाह **इत्थं सभाजितमिति** ।

आभासार्थ—यह आधिदैविक धर्म उत्तम है यह बताने के लिए सर्व ने धन्यवाद दिया, यह 'इत्थं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः ।**
नमो जयेति नेमुस्तं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥२९॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मनुष्य, भगवान् का सत्कार हुआ देख हाथ जोड़ 'नमो जय' ऐसा शब्द उच्चारते हुए प्रणाम करने लगे, तब पुष्पों की वर्षा होने लगी ॥२९॥

सुबोधिनी—कायवाङ्मनोभिः स्तोत्रं मात्सर्याभावश्चोच्यते । **प्राञ्जलय** इति कायिको व्यापारः । **नेमु**रिति मानसः । **जये**ति वाचनिको, मात्सर्याभावश्च । न केवल तत्रत्यानां किंतु दिविष्ठानामपीति ज्ञापयितुमाह **निपेतुः पुष्पवृष्टय** इति । अयं धर्मः सर्वोत्तमो जात इति ज्ञापनार्थम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—ईर्ष्या विना काया, वाणी और मन से स्तुति की 'हाथ जोड़े' यह काया की क्रिया की है, 'प्रणाम किया' यह मन की क्रिया की है 'नमो जय' यह वाणी की क्रिया को है अर्थात् लोगों ने इस प्रकार काया, वाणी और मन की क्रिया से विना मत्सर के स्तुति की है न केवल पृथ्वी पर स्थित लोगों ने किन्तु देव लोकों में रहने वालों ने भी पुष्प वृष्टि कर अपने में मात्सर्य का अभाव दिखाया एवं स्तुति करने का भी प्रमाण दिया, यह भगवान् का सत्कार रूप धर्म सबसे उत्तम हुआ है यह भी यों करने से बताया है ।।२६।।

आभास—दैत्यांशस्यानभिनन्दनं प्रद्वेषो निन्दा च भगवतश्चाभिप्रेतोर्थ इति स्वतस्तन्मारणं सर्वात्मकत्वात् तस्यापि भोगार्थं बाधकांशं निराकृत्य सायुज्यमपि निरूप्यते । तत्रादौ तद्दर्शनेन दैत्यक्षोभमाह इत्थं निशम्येति ।

आभासार्थ—दैत्यांशने अभिनन्दन नहीं किया, किन्तु भगवान् की निन्दा कर शत्रुता प्रकट की । यह ही अर्थ (कार्य) भगवान् को इच्छित या, उनके यों करने से स्वयं (खुद) ही अपनी मृत्यु का कारण बना जिससे स्वयं भगवान् ने उसको मारा, भगवान् सर्वात्मा होने से उसकी भी आत्मा हैं, अतः उसके भी भोग के लिए बाधकांश का निराकरण कर दिए हुए सायुज्य का भी निरूपण करते है, वहाँ प्रथम भगवान् की अग्रपूजा देख दैत्य को क्षोभ हुआ, जिसका वर्णन 'इत्थं निशम्य' श्लोक में करते है ।

श्लोक—इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठा दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।
उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ।।३०।।

श्लोकार्थ—दमघोष का पुत्र, शिशुपाल इस प्रकार, श्रीकृष्ण के गुणोत्कर्ष के वचन सुनकर, अपने आसन से उठा, भगवान् के गुण वर्णन से क्रोध में भर गया, भगवान् का महत्त्व न सह सकने से भुजा उठा, निर्भय हो सभा के मध्य में भगवान् को निम्न प्रकार के अपशब्द सुनाने लगा ।।३०।।

सुबोधिनी—सर्वेषामनुमोदनं स्तोत्रं च **निशम्य** विपरीतमदस्य,दुष्टमदस्य यो **घोषः** सर्वलोकेषु बम्बारवः तदात्मको **दमघोषः** तत्सुतः बीजयोनिदोषेण दुष्टः **स्वतो**ऽपि उपविष्टश्चेद्ब्रूयात्तदा सर्वोऽपि न श्रोष्यतीति **स्वपीठादुत्थाय,** भगवता स्वधर्मप्राकट्ये कृते सिंहासने भगवद्धर्मः प्रकटो जात इति स तत उत्थापित इति वस्तुस्थितिः । तस्यानधिकारं सूचयति **कृष्णगुणवर्णनेन जातो मन्यु**र्यस्येति । स एव दैत्यांशो ज्ञेयः यो भगवत्संबन्धिनमर्थं श्रुत्वा न सहते संतप्तश्च भवति, प्रतिकुलं च वदति ततश्च दैत्यसंधानं यज्ञे न युक्तमिति भगवत्प्रेरणयैव तस्यातथावचनम् । अन्यथा वध्यो न भवतिः देवा मनुष्याः पितर एकत्र, असुरा रक्षांसि पिशाचाश्चैकत्र, 'अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिषदः' इति मन्त्रलिङ्गात्सर्वथा निराकार्याः असुरादयः तत्रायं बन्धुवेषेण गुप्त इति अशक्य-

वधो भवति तदर्थमेतावन्निरूप्यते **उत्क्षिप्य बाहुमिति**। क्रियाशक्तिः स्वस्य महती इति सूचयति। इदं वक्ष्यमाणमाह **सदसीति**। तस्यापराधः सर्वजनीनो भवत्विति ज्ञापितम्। **सदसि सर्वानेव भगवने परुषाणि अभीक्ष्णशः श्रावयन्निति** सर्वेषामेव शत्रुरयमिति ज्ञापितम्। **अभीत इति** सर्वेषामशक्यवधः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—सर्व लोगों ने, जो भगवान् की अग्रपूजा का अनुमोदन किया और स्तुति की, उसको सुनकर, दूषित अहंकार की जो लोकों में गर्जना उसका रूप 'दमघोष' था जिसका पुत्र यह शिशुपाल था अतः बीज और योनि के दोषों के कारण वह भी दुष्ट ही हुआ है, अपने आसन से उठ कर खड़े हो बोलने लगा, क्योंकि उसने समझा कि बैठ कर बोलूंगा तो सब नहीं सुनेंगे आसन से उटने का वास्तविक आशय यह था कि 'भगवान् ने अपने गुण जब प्रकट किये तो सिंहासन में भी भगवान् के गुण प्रकट हुए, जिससे वह उस सिंहासन पर बैठ न सका, उससे उसको उठना ही पड़ा क्योंकि वैसे आसन पर ऐसा दुष्ट बैठ नहीं सकता है, वह भगवान् के गुणश्रवण का अधिकारी ही नहीं था, जिससे गुणों के सुनने से आनन्द के स्थान पर उसको क्षोभ (दुःख) हुआ, इससे यह प्रमाणित होता है कि वह दैत्यांश है जो भगवत्सम्बन्धी विषय सुनकर सहन नहीं करता है प्रत्युत सन्तप्त होता है और उसके विरुद्ध बोलने लगता है। यज्ञ में दैत्य का सम्बन्ध योग्य नहीं होने से भगवत्प्रेरणा से ही वह अयोग्य वचन कहने लगा, जो वैसे शब्द न बोले तो मारने के योग्य न होता, देव, मनुष्य और पितर एक तरफ और असुर, राक्षस तथा पिशाच दूसरी तरफ 'अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिषदः' इस मन्त्रलिंग से सर्वदा असुरादि निराकरण के योग्य है, किन्तु यह दैत्यांश होते हुए भी बान्धव वेषधारी होने से प्रकट देखने में नहीं आता था इसलिए इसका वध कठिन था, उसके लिए इतना कहा जाता है। हाथ ऊपर लम्बा कर बताया कि मेरी क्रियाशक्ति बलवान (जबर्दस्त) है अतः सभा में निम्न ढंग से बोलने लगा, सभा में इस तरह कहने लगा कि जिससे वहाँ बैठे हुए लोगों को एवं भगवान् को कहे हुए अपशब्दों का ज्ञान सबको हो जाय, सबको और भगवान् को बार बार कठोर तथा अपशब्द सुनाता हुआ यह सिद्ध कर रहा था कि यह सबका शत्रु है। बोलते हुए डरता ही नहीं था ज्यों आया त्यों अनर्गल बोलने लगा जिससे अपना वध होना सबके लिए अशक्य है यह सूचित करता था ॥३०॥

आभास—तादृशस्य सर्वोपालम्भवाक्यमाह **ईशो दुरत्ययः काल इति**।

आभासार्थ—वैसे ने सबको जो उपालम्भ दिए अर्थात जिस तरह सब की निन्दा की, वे वचन 'ईशो' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः।**
वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥३१॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल कहने लगा कि काल और ईश अलङ्घ्य हैं यह श्रुति सत्य है, क्योंकि समय बल से, वृद्धों की बुद्धि भी बालकों के कहने पर बदल जाती है ॥३१॥

सुबोधिनी—सदसस्पतयो हि सभायां युक्तायुक्तं विचारयन्ति, अतस्तान् प्रत्युपालम्भ उचितः। यद्दैत्यांशः समीपे स्थितोऽपि न निवार्यत इति। यदत्रानुचितं जायते धर्मस्थाने तत्र हेतुः काल एव। स हि कदाचिद्धर्ममङ्गीकरोति कदाचिदधर्ममिति द्विःस्वभावः स च ईशः कस्याप्यनुल्लङ्घ्य इति कालमाहात्म्यवादिनी श्रुतिः सत्यैव। 'स कालो यद्वशे लोक' इति। कः कालस्य त्वया विपरीतो धर्मो दृष्ट इत्याकाङ्क्षायामाह **वृद्धानामपि यद्-बुद्धिरिति** उभयथापि सभासदो वृद्धाः निन्दापक्षे सहदेवो बालः स्तुतिपक्षे शिशुपालः नाम्ना शिशुश्चासौ पालश्चेति। पलसमूहः पालः मांसराशिः न तु कश्चित्तत्र धर्महेतुरिन्द्रियवर्गो जीवो वा तिष्ठतीति पलाशानामेव योग्यः कालस्यैतद्विपरीतं यदेतद्वाक्येनापि वृद्धानामपि बुद्धिः भेदं प्राप्स्यतीति। स्वस्यानुगुणः काल इति एकोपि सभायां तथा विरुद्धं वदामिति ज्ञापितवान्। एतद्द्वितीयं सभासदां दूषणम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—सभासद ही सभा में अच्छे और बुरे को विचारते हैं अतः उनको उपालम्भ (उल्हाना) देना उचित है, यहां जो दैत्यांश समीप में स्थित हैं तो भी उसको नहीं निकालते हैं, यहाँ धर्मस्थान में जो अयोग्य हो रहा है उसका कारण काल ही है, क्योंकि उसका स्वभाव दो प्रकार का है कभी धर्म को अंगीकार करता है अर्थात् कभी धर्म में प्रवृति कराता है और कभी अधर्म को अंगीकार करता है अर्थात् कभी अधर्म में प्रवृत्ति कराता है, कारण कि 'ईश' होने से सर्व समर्थ हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता है, इसलिए काल के माहत्म्य को बोलने वाली श्रुति सच्ची है। 'स कालो यद्वशे लोकः' जिसके वश में लोक है वह 'काल' है, तूने कोई काल का विपरीत धर्म देखा? इसके उत्तर में कहता है कि हाँ, मैंने देखा। कैसे? जो मैंने देखा वह सब आप क्या नहीं देख रहे हैं कि काल ने एक बालक के वचनों से वृद्धों की बुद्धि भी बदला दी है, दोनों प्रकार सभासद वृद्ध है यदि उनकी निन्दा करता है तो सहदेव अभी बालक है उसके कहने से कृष्ण की अग्रपूजा में सम्मति देकर वह कराई है, यदि स्तुति करता है तो यों अर्थ होता है कि शिशुपाल मांस का ढेर है उसमें कोई धर्म का कारण, इन्द्रिय वर्ग वा जीव नहीं है अतः वह राक्षसों के योग्य है, काल का यह विपरीत गुण है जो ऐसे मांस के ढेर के कहने से वृद्धों की बुद्धि फिर जायगी। (तात्पर्य यह है कि शिशुपाल के कहने में यद्यपि सहदेव बाल है इसलिए निन्दा देखने में आती है किन्तु शिशुपाल जो मास का ढेर है यदि उसका कहना वृद्ध मानलें तो सहदेव का कहना योग्य होने से उसकी स्तुति हो जाती है उसका ही कहना योग्य समझ वृद्धों ने माना है परन्तु शिशुपाल का नहीं) शिशुपाल अकेला ही सभा में, जचा त्यों विरुद्ध कहने लगा जिससे जताया है कि काल मेरे अनुकूल है, यह सभासदों का दूसरा दोष है ॥३१॥

आभास—पुनः स्ववाक्यश्रवणार्थं तान् स्तौति **यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा** इति।

आभासार्थ—फिर सभासद मेरे वचन सुने इसलिए उनकी 'यूयं पात्र' श्लोक से स्तुति करता है।

श्लोक—**यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्धवं बालभाषितम्।**
सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्संमतोर्हणे ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे सभासदो! आप सब पात्र के जानने वालों में उत्तम हैं, इस बालक का कहा मत मानों, भला यह कृष्ण अग्र पूजन के योग्य है? नहीं। ॥३२॥

सुबोधिनी—'न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता' इति पात्रस्वरूपं ये जानन्ति ते **पात्रविदः** तेषां **श्रेष्ठाः** पात्रसूक्ष्मविदः अत एव **बालभाषितं** मम सहदेवस्य **माङ्गीकुरुत** बालवाक्येन पात्रनिर्द्धारो न कर्तव्यः । स्वबुद्ध्यैव कर्तव्यः । यतो यूयं **सदसस्पतयः** सभायां निवृत्तिप्रवृत्तिहेतवः तादृशा एव सर्वे भवन्त इत्यपि स्तुतिः । तादृशानामनुचितांशमाह **कृष्ण** इति । कृष्णशब्दो दुष्टमुखान्निर्गतः मालिन्ययोगान्मलिनमेव वक्ति तथैव शिशुपालाभिप्रायश्च । ततो योगात् तादृशः शिशुपाल एव भवति तादृशोयं यद्यस्मात् **अर्हणे समीपे संमतः** तिष्ठतिविति संमतः इदं सभासदामनुचितमित्यर्थः । यतो यज्ञे कालविलम्वो भविष्यति ।।३२।।

व्याख्यार्थ—केवल विद्या वा तपस्या से भी योग्यता प्राप्त नहीं होती है इस प्रकार अधिकारी के स्वरूप को जो जानते हैं उनमें श्रेष्ठ आप अधिकारीपन की सूक्ष्मता को जानने वाले हैं इसलिए बाल का कहा हुआ अथवा मेरा कहा हुआ मत मानो, बालक के कहने से पात्र का निर्णय नहीं करना चाहिए, किन्तु आप अपनी बुद्धि से ही निर्णय करो, क्योंकि आप सब ही ऐसे हैं जो सभा में प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने के हेतु हैं यों कहना भी स्तुति ही है, अब सभासदों ने जो अनुचित कार्य किया, वह भाग कहता है कि 'कृष्ण' कृष्ण की पूजा में समीप रह सम्मति दिखाई यह अनुचित किया, कृष्ण यह नाम दुष्ट के मुख से निकलने के कारण मलीनता के संयोग से मलीन ही निकलता है, यही शिशुपाल के कहने का सार है, अर्थात् शिशुपाल स्वयं काला मलिन है अतः उसने कृष्ण शब्द भी उसी भाव से कहा है, यों अनुचित कार्य सभासद करेंगे तो यज्ञ के कार्य में विलम्ब होगा ।।३२।।

आभास—ननु भवानपि क्षत्रियः सन्निहितवन्धुः ततश्च समीपस्थितौ को दोष इति चेत्तत्राह **तपो विद्याव्रतधरानिति** ।

आभासार्थ—आप भी क्षत्रिय हैं जिससे समीप वाला बान्धव है, इससे समीप रहने से कौनसा दोष है ? इस प्रकार की शंका का उत्तर 'तपो विद्या' श्लोक से देता है ।

श्लोक—**तपोविद्याव्रतधराञ्ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।**
परमर्षीन्ब्रह्मनिष्ठान्लोकपालैश्च पूजितान् ।।३३।।

श्लोकार्थ—तपस्या, विद्या और व्रतधारी, ज्ञान से कल्मषों को नाश किए हुए और लोकपालों से पूजित तथा ब्रह्मनिष्ठ परम ऋषियों का अतिक्रमण कर कुल कलङ्क कैसे पूजा जाता है ? ।।३३।।

सुबोधिनी—निन्दापक्षे लोकप्रसिद्ध एवार्थः तपोविद्ययोः पात्रलक्षण एव साधनं स्पष्टं **व्रत**स्यापि हेतुत्वम् 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' । व्रतशब्दो नियमवाचकः । किंबहुना भगवद्व्रतपर्यन्तं व्रतधारकाः अत्र सन्ति । पात्रगुणानुक्त्वा दोषाभावमाह **ज्ञानविध्वस्तकल्मषानिति** । 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इतिवाक्यात् सर्वापेक्षया ज्ञानं पापनिवर्तकम् । एतावत्साधारणब्राह्मणेष्वपि संभवति यूयं तु **परमर्षयः** मन्त्रद्रष्टारः । अनेन पूर्वकाण्डप्रवर्तकत्वमुक्तम् । तत्रापि **ब्रह्मनिष्ठाः**

उत्तरकाण्डस्य **प्रवर्तकाः** । लोके च तथात्वेन संमता इत्याह **लोकपालैश्च पूजितानिति** । लोकपालानामपि फलं दातुं शक्ताः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण की निन्दा के पक्ष का जब समर्थन किया जाता है तब लोक प्रसिद्ध अर्थ ही लिया जाता है, पूजन के योग्य पात्र में तपस्या और विद्या ये दो लक्षण होने चाहिए, वशिष्ठ स्मृति में कहा है कि 'आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः' आचारों से जो हीन है उसको वेद भी पवित्र नहीं करते हैं, इससे व्रत अर्थात् नियम में रहने वाला ही पूजन के योग्य है यों बताया है, विशेष क्या कहा जाय यहाँ तो भगवान् के व्रत पर्यन्त व्रत धारण करने वाले यहां उपस्थित हैं, पात्र में जो गुण चाहिए वे दिखाकर अब उनमें दोषों का अभाव भी है यों दिखाता है, 'ज्ञानविध्वस्त कल्मषानिति' ज्ञान द्वारा सब दोष जिन्होंने भस्म कर दिए हैं जैसा कि गीता में कहा है 'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणी' ज्ञान रूप अग्नि सर्व कर्मों को नाश कर देती है अर्थात् सर्व की अपेक्षा ज्ञान पाप को मिटाने में समर्थ हैं, इतना तो साधारण ब्राह्मणों में भी होता ही है, आप तो मन्त्रद्रष्टा महान् ऋषि हैं यों कह कर बताया है कि तुम पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) के प्रवर्त्तक हो, फिर विशेषता यह है कि पूर्वकाण्ड के प्रवर्त्तक होते हुए ब्रह्मनिष्ठ भी हो, अर्थात् उत्तर काण्ड के प्रवर्त्तक भी आप ही हैं, इस कारण से लोक में मान पात्र हुए हो, यों बताने के लिए कहता है 'लोक पालैश्च पूजितान्' लोकपालों को भी फल देने में समर्थ हो ॥३३॥

श्लोक—**सदसस्पतीनतिव्रज्य गोपालः कुलपांसनः ।**
यथा काकः पुरोडाशं सपर्यां कथमर्हति ॥३४॥

श्लोकार्थ—ऐसे योग्य लक्षण वाले सभा के स्वामी, वड़े ऋषिरूप सभासदों का उलङ्घन कर, इन्द्रियों के पोषक, कुलाधम जैसे कौआ यज्ञ के चरु के समीप रहने के भी योग्य नहीं है, वैसे यह भी पूजा के योग्य कैसे बन सकता है ? ॥३४॥

सुबोधिनी—एतादृशान् **सदसस्पतीन् अति-व्रज्येति** । अतिक्रमदोषोऽप्युक्तः । तेषामेव समीपे स्थितिरुचिता न ममेति तत्र हेतुत्वेन स्वदूषणा-न्याह **गोपाल इति** । **कुलपांसन इति यथा काक** इति च । पञ्च गुणाः सदसस्पतिषु । त्रयो दोषाः स्वस्य । इन्द्रियपालकः भूपालको वा क्षत्रियाधमः 'दशवेश्यासमो नृपः' इति दोषश्रवणात् । तत्रापि **कुलपांसनः** कुलाधमः येन चैद्यवंशः सर्वोऽपि निन्दितः । ते तु आसहस्रात्पङ्क्तिं पुनन्ति । किंच । **यथा काक पुरोडाशं** यदि कृष्णशकुनिरुपरि अतिपतेदिति सामीप्येऽपि दोषश्रवणात् । स बहिः-स्थितमेव बलिमर्हति न तु वेद्या स्थितं पुरोडाशं तत् सामीप्येऽपि हविषो नाशात्तथा अहं **सपर्यां** पूजां सामीप्येन **कथमर्हामि** । निन्दायां तु बाल्ये ऽन्यायवृत्तित्वं पश्चात्परस्त्रीहरणादिनाऽकीर्तिजन-कत्वम् । यथा वा अकाकः पुरोडाशं नार्हति कं सुखमकं दुःखं उभयरहितः अकाकः शुकादितुल्यः स यथा **पुरोडाशं** कर्ममार्गं नार्हति तथा अहमपि **सपर्यां** नार्हामीत्यर्थः । वेदरक्षकः कुलपान् कुल-पवित्रकरणदक्षान् कुलरक्षकान्वा अंसेन नयतीति सत्परिपालकत्वं निरूपितम् । भौतिककर्माध्यक्ष-त्वं च नार्हतीति भगवत्परत्वेऽपि केचिद्योजयन्ति तच्छब्ददुष्टत्वादुपेक्ष्यम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के सभा के स्वामियों का उल्लंघन करना यह अतिक्रम दोष है,

उनके समीप में मेरी स्थिति योग्य नहीं है, किन्तु सभासदों की ही पूजन के समीप स्थिति योग्य है। जिसमें कारण अपने दूषण कहता है 'गोपालः' 'कुल पांसनः' १–इन्द्रियों का पोषक हूं २–कुल कलंक हूँ ३–कौए जैसा हूँ अर्थात् जैसे कौआ यज्ञ की वलि के पास रहने अथवा लेने योग्य नहीं वैसे मैं भी हूँ. इस प्रकार ये अपने ही दूषण प्रकट करता है, पांच गुण सभासदों के कहे और तीन दोष अपने कहे, आचार्य श्री इसको स्पष्ट कर समझाते है कि पृथ्वी की पालना करने वाला राजा यह दोप शिशुपाल में हैं, क्योंकि 'दश वेश्या समो नृपः' इस वाक्य के अनुसार राजा दश वेश्या के समान है, अतः पृथ्वीपालक क्षत्रियाधम शिशुपाल है, जिससे सारा चैद्यवंश निन्दा का पात्र हुवा है वास्तविक वे राजा लोग तो सहस्रों में पङ्क्ति को पवित्र करने वाले है, फिर जैसे कौआ यज्ञ की बलियों के समीप रहने के योग्य नहीं वैसे मैं भी पूजा के पास रहने के योग्य नहीं हूँ, कारण कि यदि कौआ यज्ञ वलि के ऊपर से उड़े तो भी दोष है क्योंकि ऊपर उड़ने से कौए की समीपता हो जाती है वह उचित नहीं हैं, वह तो दूर रह कर ही वलि के लेने के योग्य है समीप में रहने के योग्य नहीं कारण कि कौए के सामीप्य से वलि का नाश हो जाता है वैसे मैं भी पूजा के समीप रहने योग्य कैसे वन सकता हूं, श्रीकृष्ण की निन्दा के पक्ष में 'गोपालः' 'कुल पांसनः' का भावार्थ यों है कि वचपन में तो अन्यायी व्यवहार पश्चात् पर स्त्रियों का हरण आदि अपकीर्ति के कार्य किये हैं।

अन्य प्रकार से भावार्थ प्रकट करते हैं 'काकः' पद न लेकर 'अकाकः' पद लेते हैं जिसका अर्थ करते है कि 'कम्' सुख 'अकम्' दुःख ये दोनों जिसमें नहीं वह अकाक है, सुख दुःख जिसको नहीं वैसे शुक आदि है वे 'पुरोडाश' अर्थात् कर्म मार्ग के पास नहीं रह सकते हैं, वैसे मैं भी पूजन के समीप नही रह सकता हूं।

'गोपाल' पद का भावार्थ कहते हैं कि जो वेद रक्षक है और कुल पवित्र करने में प्रवीणों को अथवा कुल रक्षकों को कन्धे पर चढा कर ले जाते है वैसे श्रीकृष्ण गोपाल हैं, इस नाम से वास्तव में भगवान् को सत्पुरुषों के रक्षक कहा है अतः वैसे भगवान् भौतिक कर्म के अध्यक्षपन के योग्य नही हो सकते हैं, कितने ही इस प्रकार इन शब्दों को भगवत्परायण लगाते हैं वह भाव दोषयुक्त शब्द 'कुल पांसन' होने से उपेक्षा के योग्य है।।३४।।

आभास—पुनः स्वनिन्दार्थं दूषणान्तरमाह **ययातिनेति** ।

आभासार्थ—फिर अपनी निन्दा हो इसलिए कृष्ण की पूजा करने में दूसरा दूषण 'ययातिन' श्लोक से देता है।

श्लोक—**ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् ।**
वृथापानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ।।३५।।

श्लोकार्थ—इनके कुल को ययाति ने शाप दिया है और इनके कुल का सत्पुरुषों ने बहिष्कार किया है तथा यह कुल निरन्तर मदिरा पीने में लगा रहता है ऐसे कुल में उत्पन्न पूजन के योग्य कैसे हो सकता है।।३५।।

सुबोधिनी—ययातिना हि चत्वारः । पुत्रा निन्दिताः । एकः पूरुः स्तुतः । अथवा । **ययातीना एषां** पाण्डवानां **कुलं शप्तं** यत् पुत्र-वयसा मातुः संभोगः कृतः । **स कथं** परंपरयापि दोषसंबन्धात् कथ पूतो भवेत् । अत एषां गृहे कथं भगवान् **सपर्यामर्हति** सद्भिश्च तेन वा हेत्वन्तरेण वा विगर्हितं **शश्वद्वृथापानरतं च** । एवमेतत्साधारणदूषणम् । तद्ययातिवंशोद्भवः **सपर्यां** समीपं वा **कथमर्हति** ॥३५॥

व्याख्यार्थ—ययति ने ४ पुत्रों की निन्दा की है केवल एक पूरु की प्रशंसा की है, अथवा ययाति ने इन पाण्डवों के कुल को शाप दिया है क्योंकि पुत्र के यौवन से माता के साथ सम्भोग हुआ है । वह जो परम्परा से दोषवान है वह पवित्र कैसे हो सकता है ? अतः इनके गृह मे उत्पन्न श्रीकृष्ण पूजा के योग्य कैसे हो सकता है ? सत्पुरुषों ने इस दोष के कारण अथवा अन्य किसी कारण से इस कुल का बहिष्कार किया है और यह कुल सदैव मदिरा पान में रत होने से निन्दित है, इस प्रकार यह साधारण दूषण है इसी कारण से ययाति वंश में उत्पन्न[1] हुआ कैसे पूजा के समीप आ सकता है ॥३५॥

आभास—कुलनिन्दाँ कृत्वा कुलोद्भवं निन्दति **वर्णाश्रमेति** ।

आभासार्थ—कुल की निन्दा कर अब कुल में उत्पन्न हुए की 'वर्णाश्रम कुलापेतः' श्लोक से निन्दा करता है ।

श्लोक—**वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः**
स्वैरवर्ती गुणैर्हीनः सपर्यां कथमर्हति ॥३६॥

श्लोकार्थ—वर्ण, आश्रम और कुल से भ्रष्ट सर्व धर्मों से बहिष्कृत स्वच्छन्द आचरण करने वाला, गुणों से हीन यह कृष्ण पूजा के योग्य कैसे हो सकता है ? ॥३६॥

सुबोधिनी—वर्णा आश्रमाश्च चत्वारः **कुलं** क्षत्रियत्वजातिः एतत्त्रितयेनाप्यपेत भगवानेव वर्णाश्रमकुलरूप इति तदपेतः शिशुपाल इति तस्य तथात्वम् । **सर्वैरेव धर्मैर्भगवद्वैमुख्याद्बहिष्कृतः** । ततः **स्वैरवर्ती** स्वैर्बन्धुभिः सह वर्तनशीलोऽपि न भवति अन्यथा स्नेहमेव कुर्यात् । अत एव **गुणैः** तपस्यादिभिर्विहीनः **सपर्यां** समीपं वा **कथमर्हतीत्यर्थः** । केचिद्भगवत्पक्षेऽपि गुणातीति इति वर्णाश्रमकुलरहितत्वं देहाभावात्, धर्मराहित्यं इन्द्रियाभावात् स्वैरवर्तित्वं स्वेच्छावर्तित्वं तेनान्तःकरणाभावश्चेति तेन त्रितयरहितः त्रितयसहितयोग्यसपर्यां कथमर्हतीत्याहुः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र' चार वर्ण हैं और 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास चार आश्रम है एवं क्षत्रिय जाति कुल है, इन तीनों से भ्रष्ट (गिरे हुए) हैं, यद्यपि

१-शिशुपाल भी ययाति के पुत्र यदु के वंश में उत्पन्न हुआ है अतः वह पूजा के योग्य या समीप भी आने योग्य नहीं है ।

शिशुपाल ने ये वाक्य श्रीकृष्ण के लिए कहे हैं, किन्तु वाणी सरस्वती उससे सत्य कहलाती है क्योंकि भगवान् स्वयं ही वर्ण, आश्रम और कुलरूप हैं अतः वह भ्रष्ट हो नहीं सकते, किन्तु शिशुपाल स्वयं तीनों से भ्रष्ट है यही वाणी ने सत्य कहा है क्योंकि शिशुपाल ही भगवान् से विमुख होने के कारण सर्व धर्म वहिष्कृत है भगवान् सर्व धर्म रूप होने से भ्रष्ट हो नहीं सकते। शिशुपाल ही स्वच्छन्द आचरण करने वाला है जिससे अपने बान्धवों से व्यवहार ही नहीं रखता है यदि व्यवहार करते तो प्रेम ही करता। इस कारण से ही गुणों से अर्थात् तपस्या आदि से रहित है, जिससे पूजा के योग्य कैसे हो सकता है एवं समीप भी कैसे रह सकता है? कितने ही इस श्लोक का भावार्थ यों भी कहते हैं कि भगवान् को देह नहीं हैं अतः गुणातीतपन एवं वर्णाश्रम कुलपन उनमें है ही नहीं अथवा हो नहीं सकता है। इन्द्रियों के न होने से कोई धर्म भी नहीं रह सकता है, अन्तःकरण के अभाव से स्वेच्छा से ही आचरण होता रहता है अतः तीनों से रहित, तीनों से लेने योग्य पूजा कैसे ग्रहण कर सकते हैं ॥३६॥

आभास—कुलस्वरूपनन्दे निरूप्य व्यवहारतो निन्दामाह **ब्रह्मर्षिसेवितानिति**।

आभासार्थ—कुल और स्वरूप की निन्दा कर 'ब्रह्मर्षि' श्लोक से व्यवहार की निन्दा करता है-

श्लोक—**ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान्हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम्।**
समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—ये यादव ब्रह्मर्षियों से सेवित देशों को छोड़कर ब्रह्म तेज रहित मुद्रा वाले दुर्ग (समुद्र) का आश्रय कर लुटेरे बन प्रजा को पीड़ा देते हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—ननु को दोषो भवत्स्वित्याशङ्कायामाह **एते** वयं **ब्रह्मर्षिसेवितान्** कुरुक्षेत्रादिदेशान् विद्याद्यर्थमनाश्रित्य **अब्रह्मवर्चसं समुद्रं** मुद्रासहितं पाखण्डमाश्रित्य **दस्यवो** भूत्वा **प्रजा बाधत** इति। अथवा। भगवत्सान्निध्यात् तान् स्तौति एते ऋषयः **ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान्** ज्ञानकर्मादिसहितान् **परित्यज्य ब्रह्मणोऽपि** वर्चो दीप्तिर्यस्मात् तादृशं **समुद्रं** मुद्रासहितं भगवन्तं चक्रपाणि **दुर्गमाश्रित्य अदस्यवो** भूत्वा इन्द्रियादिद्वारा कस्यापि विषस्य ग्रहणमकृत्वा **प्रकर्षेण** जाताः इन्द्रियवृत्तीर्वलिष्ठाः **बाधन्त** इति भगवदाश्रयत्वादेव भवन्तः कृतार्था इति तेषां स्तुतिः समुद्रस्याब्रह्मवर्चस्त्व प्रदरत्वात् शप्तत्वात् 'सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम्' इति वाक्यानुसारेण अब्रह्मवर्चस्विस्थितया वा। वस्तुतस्तु भगवन्मोहितः क्रीडार्थं स्वीकृतानिवान्यधर्मान् स्वीकृत्य निन्दतीति स्वकीयस्योपालम्भ इव महत्त्वख्यापका स्तुतिरेव भवति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—आप में कौनसा दोष है? इस शङ्का का उत्तर देता है कि ये हम ब्रह्मर्षियों से सेवित कुरुक्षेत्र आदि देशों का विद्या आदि प्राप्त करने के लिए आश्रय न कर जिसमें ब्रह्मवर्चस आदि नहीं है ऐसे मुद्रा वाले पाखण्ड का आश्रय कर लुटेरे बन प्रजाओं को पीड़ा देते हैं।

दूसरे प्रकार से भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते है कि भगवान् की वहां समीपता है अतः उन देशों की स्तुति करता है, ये ऋषि ब्रह्मर्षियों से सेवित देशों को अर्थात् ज्ञान

कर्म आदि सहित देशों का त्याग कर जिस समुद्र से ब्रह्म का भी तेज बढा है ऐसे समुद्र रूप दुर्ग का आश्रय किया है क्योंकि वहां चक्रपाणि भगवान् विराजते हैं उनका आश्रय प्राप्त हो गया है जिससे इन्द्रियादि द्वारा किसी भी विषय का ग्रहण होना नष्ट हो गया है इससे वे साधु बन गए हैं क्योंकि बलिष्ठ इन्द्रियों की वृत्तियों को बान्ध लिया है, भगवान् के आश्रय लेने से हो आप कृतार्थ हो गए हैं, इस प्रकार उनकी स्तुति की है अन्य प्रकार से समुद्र का अब्रह्मवर्चस् बताते हैं कि वह (समुद्र) एक प्रकार का गड्ढा है और उसको शाप मिला हुआ है अथवा 'सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम्' इस श्रीमद्भागवत के वाक्य अनुसार समुद्र के तट से चन्द्रभागा नदी के तट तक के देश को शुद्र भोगेंगे, अतः वहां ब्रह्मतेजरहितों की स्थिति होने से वह ब्रह्मतेज हीन है, वस्तुतः भगवान् मे मोहित शिशुपाल भगवान् ने जो गुण क्रीड़ा के लिये ग्रहण नहीं किये हैं तोभी दूसरों के गुणों को भगवान् से गुण मान निन्दा करता है, इस प्रकार करने का सार यह निकलता है कि अपने को उलाहना देने की तरह भगवान् की वह निन्दा, महत्ता प्रकट करने वाली स्तुति ही हो जाती है ॥३७॥

आभास—ततो यज्ज्ञातं तदाह **एवमादीनीति** ।

आभासार्थ—पीछे से जो हुआ वह 'एवमादीन्य' श्लोक में कहता है

श्लोक—**एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।**
नोवाच किंचिद्भगवान् यथा सिंहः शिवारुतम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि उस क्षीण पुण्य शिशुपाल ने ऐसे बहुत से बुरे वचन कहे किन्तु जैसे सिंह श्यारिनी का शब्द सुनकर नहीं गर्जता है वैसी ही भगवान् शान्त रहे उनने कुछ नहीं कहा ॥३८॥

सुबोधिनी—अभद्राण्यमङ्गलवाक्यानि अन्तर्मङ्गलस्य नष्टत्वात् 'यद्धि मनसा ध्यायति' इति वाक्याच्च अमङ्गलवाकायान्येवोक्तवान् । तदा **भगवानप्येतच्छ्रुत्वा न किंचिदुवाच** । प्रतीकारार्थं कायिकं वाचिकं वा न संपादितवान् । तूष्णींभावो वधानुकल्प इति केचित् । अवगणनायाः कृतत्वात् । 'वधानुकल्पः स्वद्रोहे' इति वस्तुतस्तु । धर्मे तद्वाक्यानां बाधकत्वाभावात् कुबुद्धिरयमित्युपेक्षितः । ननु वाग्बाणाः बाणापेक्षया परुषाः इति कथमुपेक्षेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **यथा सिंह** इति । न हि शृगालशब्दे सिंहसमीपेऽपि जायमाने सिंहनिन्दारूपोर्थोऽस्ति अभिमानेन कल्पयित्वा तं च सदृशीकृत्यान्य एव शृगालः शब्दं करोति न तु सिंहः सिंहतुल्यो सिंहपदेन मारको निरूप्यते वर्णविपर्ययात् अतो मारयिष्याम्येवैनम् । किं वाचनेनेति तूष्णींस्थितः । नापि तदुक्ता धर्मा भगवति सन्ति येन मर्मभेदः स्यात् । नापि निन्दितानर्थान् भगवान् परिगृह्णाति येन निन्दके क्रोधः स्यात्, अतो भ्रान्तवाक्यादुपेक्ष्यमेव ॥३८॥

व्याख्यार्थ—शिशुपाल के भीतर से पुण्य नष्ट हो गए थे, जिससे अमङ्गल का ही मन में ध्यान कर रहा था, अतः 'यद्धि मनसा ध्यायति' इस वाक्य के अनुसार अमङ्गल ही बोलने लगा, तोभी भगवान् वे वचन सुनकर भी कुछ बोले नहीं उसका बदला लेने के लिए शरीर अथवा वाणी से कोई उपाय नहीं किया, कितने ही यों कहते हैं कि भगवान् ने जो मौन धारण कर कुछ नहीं किया, यह भी एक

प्रकार का वध ही है, क्योंकि यह उसका तिरस्कार किया जो वध के ही समान है 'वधानुकल्पः स्वद्रोहे' अपने द्रोह होने पर वध जैसा कार्य भी वध ही है, वास्तव में तो उसके वाक्य धर्म में बाध करने वाले नहीं थे, भगवान् ने इसको कुबुद्धि जान इसकी उपेक्षा की है, वाणी के बाण जब लोहे के बाणों से भी कठोर होते हैं तब उनकी उपेक्षा कैसे की ? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाता है कि जैसे जहां शृगाली का शब्द होता है वहां सिंह बोलता ही नहीं है, उसकी उपेक्षा ही करता है वैसे ही भगवान् ने भी किया, शृगाल का शब्द समीप भी होता हो तो भी सिंह की निन्दा करने के अर्थ वाला नहीं है। सिंह अपनी शक्ति के अभिमान से यों ही समझता है कि यह शब्द सिंह का तो है ही नही कोई शृगाल शब्द करता है अथवा सिंह जैसा कोई शब्द करता है, सिंह पद से इसका अर्थ मारने वाला वर्ण के बदलने[1] से हो जाता है, इसको मै मारूंगा यों कहने से क्या लाभ ? अतः मौन धारण करना उत्तम है, उसने जो निन्दा के योग्य धर्म भगवान् में आरोपित किए वे तो उनमें है ही नही जिनसे भगवान् को दुःख हो वा उनके मर्म स्थानों को चोट लगे, क्योंकि आपनिन्दित विषयों को ग्रहण भी नही करते हैं, जिससे निन्दा करने वाले पर क्रोध करे, अतः ये वाक्य कहने वाला भ्रान्त[2] है इसलिए उपेक्ष्य ही है ।।३८।।

आभास—अन्ये पुनर्बहिर्मुखाः भगवन्निन्दनमेतदिति मत्वा तच्च स्वस्य निरुद्धत्वान्न श्रोतव्यमिति शापं दत्त्वा गतवन्त इत्याह **भगवन्निन्दनं श्रुत्वेति** ।

आभासार्थ—फिर दूसरे बहिर्मुख सभा छोड़ गये, क्योंकि शिशुपाल के कहे हुए वचनों में भगवान् की निन्दा है, वह अपने विचारों के विरुद्ध हैं इसलिए सुनने योग्य नही, इसलिए शिशुपाल को शाप देकर चले गए यों 'भगवन्निन्दनं' श्लोक में कहता है

श्लोक—**भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत्सभासदः ।**
कर्णौ पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ।।३९।।

श्लोकार्थ—असह्य भगवान् की निन्दा सुनकर, सभासद, कानों को बन्द कर क्रोध से शिशुपाल को शाप देते हुए सभा से बाहर चले गये ।।३९।।

सुबोधिनी—तत्तु दुःसहं कर्णयोरपि कठिनं निन्दासहितसभायां ये स्थिताः **ते कर्णौ** स्वस्य **पिधाय चेदिपं** शिशुपालं **रुषा शपन्तो निर्जग्मुः** ।।३९।।

व्याख्यार्थ—वह (अपकर्ष अर्थात् तिरस्कार के वचन) तो कानों को भी कठोर लगने से सहने योग्य नहीं है, ऐसी निन्दा वाली सभा में जो सभासद बैठे थे वे अपने कान बन्द कर, शिशुपाल को क्रोध से शाप देते हुए चले गए ।।३९।।

१-सिंह=हिंस=हिंसा करने वाला २-भ्रम में पड़ा हुआ है

आभास—एवं करणे धर्म इत्याह **निन्दां भगवतः शृण्वन्निति ।**

आभासार्थ—'**निन्दां भगवतः**' श्लोक में कहते हैं कि यों करना धर्म है—

श्लोक—**निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।**
ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः स्वकृताच्च्युतः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भगवान् की तथा भगवत्परायण मनुष्य की निन्दा सुनता रहता है वहां से बाहर नहीं होता है, वह भी पुण्य से भ्रष्ट हो अधोगति को प्राप्त होता है ॥४०॥

सुबोधिनी—अपकर्षवाक्यं **निन्दा** । येनैव वाक्येन भगवत्यपकर्षप्रतीतिर्भवति तन्न श्रोतव्यं तथा भगवद्भक्तस्य **जनस्य** अपकर्षप्रतीतिर्भवति, **जनस्येति** साधारणस्यापि । ततः **कर्णौ पिधाय नापयति सोऽपि स्वकृताच्च्युतः** सन्नधो याति । भगवदुत्कर्षज्ञानार्थं हि सर्वोऽपि प्रयत्नः तदपकर्षे हृद्यागते विपरीतं जातमिति **स्वकृतस्य धर्मस्य** वृथानाशात्स्वयं विपरीतज्ञानादधो याति । इदमशक्तविषयम् । शक्तानां तु धर्मश्चतुर्थे प्रतिपादितः । 'छिन्द्यात् प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वामसूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः' इति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—तिरस्कार के वचनों को 'निन्दा' कहते हैं, जिस वाक्य से भगवान् में अनादर की प्रतीति होवे वह नहीं सुनना चाहिए, वैसे ही भगवद्भक्त के तिरस्कार की जिस वाक्य से प्रतीति हो वह भी नहीं सुनने चाहिए, चाहे वह मनुष्य साधारण भी हो तो भी जो वहां से कान बन्द कर चला नहीं जाता है वह भी अपने पुण्यों से गिर कर अर्थात् पुण्यों को क्षय कर अधोगति को प्राप्त होता है । प्रत्येक यह ही प्रयत्न करता हैं कि, भगवान् के उत्कर्ष का ज्ञान होवे, यदि भगवान् का तिरस्कार हृदय में आ जाये तो विपरीत गति हो जाती है । इस प्रकार अपने किए हुए धर्म का वृथा नाश हो जाने से तथा विपरीत ज्ञान होने से स्वयं अधोगति प्राप्त करता हैं जो अशक्त हैं उनके विषय में यों कहा है । जो शक्त है उनके लिए भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में प्रतिपादन किया है कि जिसमें शक्ति होवे वह निन्दारूप क्लेश करने वाली दुष्ट जिह्वा को काट डाले, हो सके तो प्राणों को भी त्याग दे, किन्तु भगवान् की निन्दा न सुने, यह धर्म है ॥४०॥

आभास—पाण्डवास्तु मर्तुं मारयितुं च समर्था इति तन्मारणार्थं प्रवृत्ता इति **ततः पाण्डुसुता इति ।**

आभासार्थ—पाण्डव तो मरने और मारने की शक्ति वाले थे, इसलिए वे उसको मारने के लिए प्रवृत्त हुए, यों 'ततः पाण्डुसुताः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः ।**
उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसया ॥४१॥

श्लोकार्थ—फिर पांडु पुत्र मत्स्य, कैकय और सृञ्जय क्रोध कर शस्त्र उठाके

शिशुपाल को मारने की इच्छा से उठ कर खड़े हो गए ।।४१।।

सुबोधिनी—पितृनाम्ना शूरत्वाय व्यपदेशः । आदौ क्रुद्धाः अन्यथा मातृभगिनीपुत्रत्वात्स्नेहः प्रतिबन्धको भवेत् । **मत्स्या** विराटवंशोद्भवाः, **कैकयाश्च** भरतपूर्वजा वैष्णवाः, **सृञ्जयाः** द्रुपदवंशजाः । एते चतुर्विधा अपि **उदायुधाः समुत्तस्थुः** । स्वमरणसंदेहं वारयति **शिशुपालजिघांसयेति** ।।४१।।

व्याख्यार्थ—ये शूरवीर हैं यों जताने के लिए उनके पिता के नाम से बताए है, आरम्भ में ही क्रोध किया, नहीं तो मासी के पुत्र होने से उसके मारने में स्नेह रुकावट होता, विराट वंश में उत्पन्न 'मत्मय' थे भरत के पूर्वज 'कैकय' वैष्णव थे, द्रुपद वंश में उत्पन्न हुवे सृञ्जय थे, ये चारों ही शस्त्र उठा के खड़े हो गए, अपने मर जाने का उनको संशय ही नहीं था, इसलिए कहा है कि शिशुपाल को मारने की इच्छा से शस्त्र ले खड़े हो गए ।।४१।।

श्लोक—**ततश्चेद्यस्त्वसंभ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।**
भर्त्सयन्कृष्णपक्षीयान्राज्ञः सदसि भारत ।।४२।।

श्लोकार्थ—हे भारत ! तब शिशुपाल हाथ में ढाल तलवार लेकर निडर हो श्रीकृष्ण के पक्ष वालों को सभा में भिड़की बताते हुए कहने लगा ।।४२।।

सुबोधिनी—शिशुपालोऽपि क्रियाशक्तौ सर्वाधिक इति 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' इति पाण्डववधार्थम**संभ्रान्तो** भूत्वा **खड्गचर्मणी जगृहे** ततोऽन्यैः अनुचितं क्रियत इत्युक्तः तान् **निर्भर्त्सयन्** **कृष्णपक्षीया** एते इति साक्षाद्वधसाधनं गृहीतवान् । स्वस्य च रक्षासाधनं **राज्ञः सदसि** इति नात्र ब्राह्मणशापशङ्केति सूचितम् । **भारतेति** विश्वासार्थम् ।।४२।।

व्याख्यार्थ—शिशुपाल भी क्रिया शक्ति में सबसे अधिक था, इसलिये "जो मारने आवे उसको मारना ही चाहिए", इस नीति वाक्य के अनुसार उस (शिशुपाल) ने पाण्डवों को मारने के लिए विना भय के अर्थात् निडर हो हाथ में ढाल और तलवार लेली । चेद्यने यों किया तब उसको दूसरों ने कहा कि तू यह कार्य अनुचित करता है, जिसके उत्तर में उसने समझा कि ये भी श्रीकृष्ण के पक्ष वाले हैं अतः उनको भिड़की देते हुए साक्षात् वध के साधन ग्रहण किए और अपनी रक्षा के साधन भी लिए, राजा की सभा में ऐसा बोला और किया । इससे यह बतलाया कि उसको ब्राह्मण के शाप का भय नहीं था, हे भारत ! सम्बोधन परीक्षित को विश्वास कराने के लिए दिया है ।।४२।।

आभास—ततो भगवान् एनं तदपेक्षया बलिष्ठं मत्वा अमोघवीर्यं च स्वार्थं यतन्त इति 'भक्तद्रोहे वधः स्मृतः' इति शास्त्रं पुरस्कृत्य स्वयं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह **तावदुत्थायेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने सोचा कि यह शिशुपाल पाण्डवों से बलवान है और इसका पराक्रम निष्फल होने वाला नहीं है, ये पाण्डव तो मेरे लिए प्रयत्न कर रहे है क्योंकि मेरे भक्त हैं.

यह शिशुपाल मेरे भक्तों का द्रोह करता है, शास्त्रों में कहा है कि जो भक्त का द्रोह करे उसका वध करना चाहिए जैसे कि 'भक्त द्रोह वधः स्मृतः' इस शास्त्रानुसार भगवान् स्वयं शिशुपाल के मारने में प्रवृत्त हुए, यह 'तावदुत्थाय' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—तावदुत्थाय भगवान्स्वान्निवार्य स्वयं रुषा ।
शिरःक्षुरान्तचक्रेण चिच्छेदापततो रिपोः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जब तक शिशुपाल पाण्डवों पर प्रहार करे तब तक न रुक कर ग्राप उठ कर खड़े हो गए ग्रौर ग्रपने भक्तों को रोक लिया, फिर क्रोध से छुरे के समान धार वाले चक्र से दौड़कर ग्राते हुए शत्रु का शिर काट डाला ॥४३॥

सुबोधिनी—भगवत्वात्स्वस्य पूर्णा शक्तिः ग्रत एव स्वान् भक्तान् निवार्य स्वयं चक्रेण शिरश्चिच्छेद । सोऽपि भक्तः कथमेवं कृतवानित्याशङ्कायामाह रुषेति । भगवद्रोषधर्मेण स मारितः भगवद्भक्तेषु तस्य रोषजननात् तत्रापि शिरश्चिच्छेद । येन मार्गेण सा वाङ्निर्गच्छति । ग्रलौकिकेन भगवत्सामर्थ्येन स मारित इति शङ्काव्यावृत्यर्थमाह क्षुरान्तेति । क्षुरान्तवत्तीक्ष्णेन । तथा सति लोके भगवन्माहात्म्यं न स्यात् । साधनोत्कर्षस्तु कर्तुर्नापकर्षं संपादयति । ग्रापततो रिपोरिति तस्यापराधो वधहेतुरुक्तः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण ग्राप भगवान् होने से पूर्ण शक्ति सम्पन्न है, ग्रतः ग्रपने सेवकों को रोक कर स्वयं (खुद) शिशुपाल के शिर को चक्र से काट डाला।

वह भी ग्रापका ही सेवक है तो उसका शिर कैसे काटा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रुषा' क्रोध ग्राने से। भगवान् को क्रोध क्यों हुग्रा ? शिशुपाल ने ग्रपने कार्य से भगवद्भक्तों में क्रोध उत्पन्न किया। ग्रतः भगवान् के क्रोध गुण ने उसको मारा, उसमें भी जिस स्थान से ऐसी दुष्टवाणी निकली थी वह दोष वाला शिर ही काट डाला, ग्रलौकिक भगवत्सामर्थ्य से वह मारा गया, ऐसी शंका की निवृत्ति के लिए कहा है कि छूरे की धार के समान तीक्ष्ण चक्र से शिर काटा।

यों करने से लोक में भगवान् का महात्म्य न बढेगा, कार्य करने के जो उत्कृष्ट साधन हैं, उनसे कार्य करने पर, कार्यकर्ता का ग्रपकर्ष नहीं होता है। शत्रु भक्तों को मारने के लिए दौड़ता ग्रा रहा था, यह उसका ग्रपराध था, यह ग्रपराध ही उसके मारे जाने का कारण बना ॥४३॥

श्लोक—शब्दः कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले हते महान् ।
तस्यानुयायिनो भूपा दुद्रुवुर्जीवितैषिणः ॥४४॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल के मरने पर महान् शब्द ग्रौर कोलाहल हुग्रा ग्रौर उसके ग्रनुयायी राजा जो जीना चाहते थे वे भाग गए ॥४४

सुबोधिनी—ततस्तद्वधे महान् शब्दो जातः । कोलाहलश्च सर्वैः कृतः । शिशुपाले हत इति निमित्तं अनायासेन तन्मारणं चोक्तम् । ततस्तत्पक्षपातिनः दैत्यांशाः सर्व एव जीवरक्षार्थं युद्धमकृत्वैव जीवनार्थं दुद्रुवुः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर उसके वध से महान् शब्द हुआ और सबने कोलाहल किया, शिशुपाल के मरने पर, यों होने का यह निमित्त कारण था और इसका मारना अनायास हुआ है यों कहा है पश्चात् उसके पक्षवाले सब दैत्यांश अपने प्राण बचाने के लिए युद्ध न कर यों ही भाग गए ।४४॥

आभास—एवं धर्मार्थं तस्य वधं निरूप्य स चेज्जीवो न मुक्तो भवेत्तदा श्मशानत्वं तस्य स्थानस्य भवेदिति तद्दोषपरिहारार्थं मुक्तिमाह चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म के लिए उसके वध का निरूपण किया यदि वह न मरता, जीता रहता तो, मुक्त न होता, जिससे उसका स्थान श्मशान ही होता । उसके दोष परिहार के लिए उसको मुक्ति कही जाती है "चैद्यदेहोत्थितं" इस श्लोक में

श्लोक—**चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।**
पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता ॥४५॥

श्लोकार्थ—आकाश से गिरी अग्नि जैसे पृथ्वी में समा जाती है वैसे ही प्राणियों के देखते हुए शिशुपाल की देह से उत्पन्न ज्योति वासुदेव में प्रविष्ट हो गई ।।४५।।

सुबोधिनी—हृदये स्थितं जीवाख्यं तज्ज्योतिः भगवदिच्छया सहजक्रियायुक्तं वासुदेवं मोक्षदातारमुपाविशत् । भगवत्पादयोः प्रविष्टं वैकुण्ठात्मकं तत्पुनर्लोकाय अन्तिकमित्यादिपदैः व्यापिवैकुण्ठस्यैव निरूपणम् । अन्यथा कृत्रिमवैकुण्ठात्त्याजनं व्यर्थं स्यात् । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य' इति न्यायात् । एतदन्यथानुपपत्त्यैव आराग्रजीवपक्ष एव मुख्य इत्यङ्गीकर्तव्यम् । सात्त्विकशरीरांशशेषेणेति मतमसङ्गतं ज्योतिरिति वाक्यात् । अन्यत्रात्मज्योतिःप्रकाराच्च 'गृहीत्वैतानि सयाति' इति वाक्यात्तस्य सहजक्रियापि सिद्धा केवलजीवस्य यथैतादृशं रूपं सिद्ध्यति तथोपपादितं निबन्धे । 'पश्यतां सर्वभूतानाम्' इति । सायुज्ये प्रमाणमुक्तं जीवस्वरूपनिर्धारश्च । प्रवेशः सर्वैर्न दृष्ट इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह उल्केवेति । निर्गमनप्रवेशनयो। तस्यादर्शनं खात् आकाशाच्च्युता ।।४५।।

व्याख्यार्थ—हृदय में स्थित 'जीव' नाम की प्रसिद्ध वह ज्योति जो भगवदिच्छा से सहज क्रिया से युक्त है, वह मोक्ष देने वाले वासुदेव में प्रविष्ट हो गई । वह भगवान् का चरण वैकुण्ठ रूप है, 'पुनर्लोकाय अन्तिकं' भगवान् के समीप, इन शब्दों से व्यापि वैकुण्ठ ही कहा है । यदि उसमें प्रवेश कराना न होता तो, 'प्रक्षालनाद्धि, पङ्कस्य' इस न्यायानुसार कीचड़ में पैर डाल फिर धोना जैसे व्यर्थ है, वैसे ही यह भी होता, अर्थात् कृत्रिम वैकुण्ठ से निकालना व्यर्थ होता । इसकी दूसरी तरह (जीव व्यापक) है । उपपत्ति न होने से ही, सुई के अग्रभाग समान जीव है यह पक्ष ही मुख्य है जो अङ्गीकार करना चाहिए ।

शरीर के शेष सात्विक अंश से उसने भगवान् में प्रवेश किया यह मत असंगत है क्योंकि वहां 'ज्योति' पद कहा है, अन्य स्थानों पर भी 'जीव' को तेज का प्रकार कहा है और वह जीव 'गृहीत्वैतानि संयाति' इन्द्रियों को साथ लेकर जाता है, यों कहने से वह क्रिया भी करता है यह सिद्ध होता हैं । जीव का ऐसा ही रूप होता हैं जिसका वर्णन निबन्ध में किया है कि सब सभासदों के देखते हुए, यह सायुज्य में प्रमाण है और जीव के स्वरूप का भी निर्णय किया है, प्रवेश सबने न देखा, इसको समझाने के लिए दृष्टान्त दिया है कि आकाश से गिरी अग्नि (बिजली) जैसे पृथ्वी में लीन हो जाती है वैसे वह भी हुआ ।।४५।।

आभास—एवं निःशङ्कप्रवेशमुक्त्वा भगवन्निन्दाकर्तुः कथं सायुज्यमिति शंकां वारयति **जन्मत्रयेति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार शिशुपाल का भगवान् मे निःशङ्क प्रवेश कहकर अब भगवान् की निन्दा करने वाले को सायुज्य मुक्ति कैसे मिली ? इस शङ्का का 'जन्मत्रय' श्लोक से निवारण करते हैं

श्लोक—**जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरम्भया धिया ।**

ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ।।४६।।

श्लोकार्थ—तीन जन्मों में बार बार होने वाले बैर के कारण जो क्रोधवाली हुई बुद्धि उससे नित्य भगवान् का ही ध्यान कर रहा था जिससे भगवान् के स्वरूप को प्राप्त हुआ, कारण कि भाव ही जन्म का कारण है ।।४६।।

सुबोधिनी—वैकुण्ठात्पतितस्य हिरण्यकशिपुरावणशिशुपाललक्षणे **जन्मत्रये अनुगुणितमा** वर्तितं **यद्वैरं** अपकारवधादिना तेन यः **संरम्भः** क्रोधसंरम्भः तद्युक्तया **धिया** वैरबुद्ध्या तं भगवन्तं **ध्यायन् तन्मयतामेव यातः** । तेन पेशस्कारिवत् भगवद्ध्यानेन भगवद्रूपो भूत्वा भगवति सायुज्यं प्राप्तवान् । अन्यथा जीवभावे भगवति स्थितजगत इव न सायुज्यं स्यात् । तस्मादिदं भगवद्रूपेण जन्म, तत्र कारणं **भाव** एव निरन्तरस्मरणमेव । यमेवार्थं निरन्तरं स्मरति स एव भवति ।।४६।।

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण शाप के कारण वैकुण्ठ से गिरे हुए का तीन जन्म, १-हिरण्यकशिपु २-रावण और ३-शिशुपाल इन तीनों जन्मों में बराबर जो वैर होता आया, जिससे अपकार और वध आदि जो हुए, उनसे उत्पन्न क्रोध वाली बुद्धि से उन भगवान् का ही ध्यान करते हुए उनके स्वरूप को ही पाया, जैसे भमरी ध्यान करती तद्रूप हो जाती है वैसे ही इसने भी भगवान् का ध्यान करते हुए भगवान् से सायुज्य प्राप्त कर लिया, यदि यों ध्यान न करता, तो जीव भाव में रहते हुए तो जैसे जगत् भगवान् में स्थित है वैसे ही रहता, किन्तु सायुज्य को प्राप्त न करता, इस प्रकार सायुज्य प्राप्त करने का कारण अर्थात् भगवद्रूप हो जाने का कारण 'भाव' ही अर्थात् निरन्तर स्मरण ही है, जिस अर्थ को सदैव स्मरण करता वही रूप होता है ।।४६।।

आभास—एवं प्रसंगात् दोषनिवृत्तिं मोक्षं च निरूप्य प्रारब्धं यागं शिष्टं निरूपयति ऋत्विग्भ्य इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रसङ्ग के कारण दोष निवृत्ति और मोक्ष का निरूपण कर 'ऋत्विग्भ्य श्लोक से प्रारम्भ किये हुए यज्ञ का रहे हुए भाग का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।**
सर्वान्संपूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ।।४७।।

श्लोकार्थ—ऋत्विज और सभासदों को बहुत दक्षिणा दी, विधि के अनुसार सबकी पूजा की, अनन्तर चक्रवर्ती राजा ने अवभृथ (यज्ञान्त स्नान) किया ।।४७।।

सुबोधिनी—ततो **ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां** ततः **सदस्येभ्यः** यावन्तो वै सदस्या इति सर्वेभ्य एव । **विपुलां** वाञ्छितादप्यधिकाम**दात्** । ततः सवनत्रयानन्तरं साद्यस्क्रद्विरात्रसत्रानन्तरं **सर्वानेव** देवान् यज्ञभागभुजः तत्तत्स्थाने संपूज्य लौकिकानपि दानमानादिभिः । ततोऽवभृथस्नानं कृतवान् । **एकराडिति** एकराज्यं तस्य सिद्धमिति यागफलस्यानुवादः ।।४७।।

व्याख्यार्थ—अन्त में ऋत्विजों को दक्षिणा दी और जितने सदस्य थे उन सबको भी दक्षिणा दी । जितनी दक्षिणा वे चाहते थे उससे भी अधिक दक्षिणा दी । पश्चात् तीन प्रकार के तर्पण को कर, शीघ्र होने वाले और दो दिन होने वाले बलिदान को करने के बाद, यज्ञ के भाग का भोग करने वाले सबही देवों की उनके स्थानों पर पूजा की, पश्चात् लौकिक पुरुषों का भी दान मान से सत्कार किया, इत्यादि यज्ञ की सर्व क्रिया पूर्णकर पश्चात् महाराजा ने यज्ञान्त स्नान किया यों करने से युधिष्ठिर चक्रवर्ती हुए 'चक्रवर्ती होना यह यज्ञ का फल है,' अर्थात् युधिष्ठिर को यज्ञ का फल प्राप्त हो गया ।।४७।।

आभास—एवं सफलं यागमनूद्य भगवतैवैतत्सर्वं कृतमिति भगवच्चरित्रमुक्त्वा उपसंहरन् भगवतः प्रयाणमाह **साधयित्वेति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इसी तरह यज्ञ फलीभूत हुआ यह कह कर कहते हैं कि यह सफलता भगवान् ने ही की है, इस प्रकार भगवान् के चरित्र कहकर विषय का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए भगवान् के पधारने का समाचार 'साधयित्वा' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**साधयित्वा क्रतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।**
उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः ।।४८।।

श्लोकार्थ—महाराजा के यज्ञ को सम्पूर्ण सिद्ध कर योगेश्वरों के ईश्वर कृष्ण मित्रों के आग्रह पूर्वक विज्ञप्ति करने पर कुछ मास वहाँ विराजमान हुवे ।।४८।।

सुबोधिनी—**राज्ञः ऋतुं** राजसूयं **साधयित्वा कृष्णः** फलात्मापि साधनसाधनत्वेन स्वविनियोगं कारयित्वा संमोहनमुत्पाद्य यथा न ज्ञातं तथा योगं **साधयित्वा योगेश्वराणामपीश्वरो** दुर्ज्ञेयः । योगचर्या दुर्ज्ञेयेति सिद्धेऽपि यागे ते स्वात्मानं न ज्ञास्यन्तीति निश्चित्य कौतुकार्थमज्ञैः **सुहृद्भिरभियाचितः** सन् **कतिचिन्मासानुवास** ।।४८।।

व्याख्यार्थ—राजा के राजसूय यज्ञ को सफल कराकर, श्रीकृष्ण स्वयं फलरूप होते हुए भी आपने साधन के साधन रूप बनकर बहुत मोह उत्पन्न किया, जैसे कोई न जान सके वैसा योग साध कर वहाँ रहे, योगेश्वरों के भी ईश्वर को कोई जान नहीं सकता है। योग की गति जानी नहीं जावे ऐसी है, यों यज्ञ की सिद्धि हो गई तो भी वे पाण्डव मुझे पहचान नहीं सकेंगे, वैसा निश्चय कर, अज्ञानी मित्रों ने कौतुक के लिए यहां रहने की प्रार्थना की, अतः कितनेही मास भगवान् वहाँ विराजे ।।४८।।

श्लोक—**ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।**
ययौसभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ।।

श्लोकार्थ—पश्चात् भगवान् पधार जावे ऐसी इच्छा राजा की नहीं थी तो भी उससे सम्मत्ति लेकर, ईश्वर, देवकी के पुत्र, पत्नियों और मन्त्रियों सहित अपने नगर पधारे ।।४६।।

सुबोधिनी—**ततो** लीलान्तरं कर्तुं **राजानमनुज्ञाप्य** स्नेहवशा**दनिच्छन्तमपि ईश्वर**त्वात्स्वातन्त्र्यमलम्ब्य यथागतं **सभार्यः सानुगामात्यः स्वपुरं ययौ** । ननु भगवत्कार्यं किमपि न सिद्धं महत्या संभृत्या किमित्यागतः किमिति गत इत्याशङ्कायामाह **देवकीसुत** इति । भक्तवात्सल्येन देवक्याश्च पुत्रो जातः तथेदमपि कृतवानित्यर्थः ।।४६।।

व्याख्यार्थ—पश्चात् अन्य लीला करने के लिए, स्नेह के कारण जाने देने की इच्छा वाला राजा न था तो भी, ईश्वर होने से अपनी स्वतन्त्रता का अवलम्बन कर राजा से सम्मति लेली, जैसे इन्द्रप्रस्थ पधारे थे उसी तरह पत्नियों और अमात्यों (मन्त्रियों) सहित अपने नगर को पधारे ।

भगवान् का कार्य तो कुछ भी सिद्ध न हुआ, बड़ी शान शोकत (दबदबे) से किस लिए आये, किस लिए लौट गये ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'देवकी सुतः' देवकी के पुत्र हैं, भक्तों पर प्रेम होने से जैसे देवकी के पुत्र बने वैसे यह कार्य भी किया ।।४६।।

आभास—उपसंहरति **वर्णितं तदुपाख्यान**मिति ।

आभासार्थ—'वर्णितं तदुपाख्यानं' श्लोक से विषय को सम्पूर्ण करते है ।

श्लोक—**वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।**
वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनः ।।५०।।

श्लोकार्थ—वैकुण्ठवासी दो पार्षदों का जन्म, ब्राह्मणशाप से बार बार हुआ है, वह कथा तुझे बहुत विस्तार से मैंने कही है।

सुबोधिनी—नन्वत्र शिशुपालस्य स्वरूपं न सम्यगुक्तं तदकथने कथा न रसवतीत्याशङ्क्याह मया पूर्वमेव **वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः** पुनर्जातमिति बहुविस्तारं यथा भवति तथा तस्य **शिशुपालस्योपाख्यानं मया वर्णितं तृतीये सप्तमे** च ॥५०॥

व्याख्यार्थ—यहाँ शिशुपाल का स्वरूप पूर्ण रीति से नहीं कहा है, यों न कहने से कथा रस वाली नहीं हुई है ? इस शंका के उत्तर में कहा है कि मैंने प्रथम ही वैकुण्ठ वासियों का जन्म ब्राह्मण शाप से बार बार हुवा है यह प्रसग बहुत विस्तार से तृतीय और सप्तम स्कन्ध में (शिशुपाल चरित्र) सुना दिया है ॥५०॥

आभास—ततो राज्ञः सर्वपापक्षये महती शोभा जातेत्याह **राजसुयावभृथ्येनेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार यज्ञादि सत्कर्म करने से राजा के सर्व पाप नष्ट हो गए जिससे उसकी बहुत शोभा हुई, जिसका वर्णन 'राजसूयावभृथ्येन' श्लोक से करते है ।

श्लोक—**राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।**
ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ॥५१॥

श्लोकार्थ—राजसूय यज्ञ के अवभृथ कर्म में यज्ञान्त स्नान करने से राजा के सकल पाप नष्ट हो गए जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों की सभा में वह इन्द्र के समान शोभा पाने लगा ॥५१॥

सुबोधिनी—राजसूयस्य आवभृथ्यमवभृथ-कर्म तत्र **स्नातो राजा** सर्वपापक्षये जाते **ब्रह्मक्षत्र-सभामध्ये** सर्वेभ्यः अधिकं **शुशुभे** । समानजातो-योऽपि ब्राह्मणाद्धीनोऽपि सर्वोत्कर्षेण भात इत्यत्र दृष्टान्तमाह **सुरराट्** देवेन्द्र इवेति । ॥५१॥

व्याख्यार्थ—राजसूय के अवभृथ कर्म में यज्ञान्त स्नान करने से राजा के सर्व पाप क्षय हो गए, जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के सभा में वह शोभा पाने लगा । क्षत्रियों से जाति मे समान होते हुए भी और ब्राह्मणों से छोटा अर्थात् हलका होते हुए भी, सबसे अधिक शोभा पाने लगा जैसे इन्द्र सभा में शोभता है ॥५१॥

—आभास—राजसूयस्य साङ्गुण्य फलमनूद्य प्रत्यापत्तिं वदन् सर्वेषां राज्ञां प्रतियानमाह **राज्ञा सभाजिता** इति ।

आभासार्थ—अंग सहित पूर्ण हुए राजसूय यज्ञ का फल कह कर लौट कर जाने वाले राजाओं के प्रयाण का प्रकार 'राज्ञा' श्लोक मे बताते है ।

श्लोक—राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः ।
कृष्णं क्रतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा ॥५२॥

श्लोकार्थ—राजा से देवता, मनुष्य और आकास में विचरने वाले सब सत्कार पाकर, श्रीकृष्णचन्द्र और यज्ञ की प्रशंसा करते हुए आनन्द पूर्वक अपने अपने धाम पधारे ।

सुबोधिनी— सर्वे सुरादयः सभाजिताः सात्विका राजसास्तामसाश्च । आधिदैविक-माध्यात्म च उभयसमाराधनमध्ये अंशत्वेन प्रसङ्गाच्च स्वयं प्रीणिताः **मुदा स्वधामानि ययुः ॥५२॥**

व्याख्यार्थ—देव आदि सब सात्विक राजस और तामस का राजा ने सत्कार किया, आधिदैविक, आध्यात्मिक दोनों को प्रसन्न किया, उनमें अंश था और प्रसंग के कारण प्रसन्न किए हुए देवादि आनन्द से अपने २ स्थानों पर गए ॥५२॥

आभास—राजसूयस्य फलं स्वराज्यं सर्वसंतोषं चोक्त्वा भूभारहरणमपि तस्य प्रयोजनमिति तस्यापि बीजं तत्र जातमिति निरूपयति **दुर्योधनमृते पापमिति ।**

आभासार्थ—राजसूय का फल स्वराज्य और सर्व का सन्तोष किया वह वर्णन कर, अब पृथ्वी का भार हरण करना वह भी उसका ही प्रयोजन है जिसकी नींव वहाँ पड़ गई है, यह 'दुर्योधनमृते' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।**
यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥५३॥

श्लोकार्थ—पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर की इतनी समृद्धि बढ़ी देखकर दुर्योधन सहन न कर सका, क्योंकि कुरु कुल का रोगरूप, पापी, कलिरूप था ॥५३॥

सुबोधिनी—**दैत्यांशाः** पूर्वमेव निराकृताः । अयं संनिहितबन्धुत्वेन छन्नः अन्तः स्थितः तथापि फले सिद्धे स्वदोषं प्रकटितवान् । ततो मानभङ्गं प्राप्य विमना गतः, यतः स पापरूपः कलेरवतारः । तादृशः कथं बन्धुरितिचेत्तत्राह **कुरुकुलस्यामयमिति** । ब्रह्मकल्पाद्येतत्पर्यन्तं कुरुवंशे यावत् पापमभूत् तदेवैकीभूतं दुर्योधनरूपेणाविर्भूतं अतस्तस्य बन्धुत्वं पापत्वं चाविरुद्धमित्यर्थः । आमयो रोगः प्राणिनां सहजः धातवन्नवैषम्येण नित्यं भवति स कदाचित् प्रवृद्धः रोगव्यपदेशं प्राप्नोति तथायमपि पापरूप इति भावः । तस्योद्बोधे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाह **यो न सेहे श्रियं स्फीतामिति** । धर्मफलमधर्मो न सहते यथा आमयो गुरुभोजनम् । दृष्टादृष्टोपायाभ्यां **पाण्डुसुतस्य श्रीः स्फीता** जाता तादृशीं प्रसिद्धां न सेहे इति **कुरुकुले** रोगत्वम् ॥५३॥

व्याख्यार्थ—दैत्यांश राजाओं को तो प्रथम ही निकाल दिया था, यह दुर्योधन निकट का बान्धव था, इसलिए छिप कर भीतर स्थित था, बान्धव था तो भी, जब युधिष्ठिर को यज्ञ का फल मिला

जिससे उसकी शोभा समृद्धि आदि बढ़ी, तब उसने (दुर्योधन ने) अपना दोष (दुष्टता) प्रकट किया, पश्चात् मानभंग होने से दुःखी हुआ, क्योंकि वह पाप रूप कलि का अवतार है। वैसा पाप रूप कलि का अवतार धर्मराज युधिष्ठिर का बन्धु कैसे हो सका ? जिसका समाधान करते हैं कि यह कुरुकुल में रोगरूप है, ब्रह्मकल्प से लेकर अब तक कुरुवंश में जो पाप हुआ वह ही इकट्ठा होकर दुर्योधन रूप से प्रकट हुआ है, इस कारण से, उसका बन्धुपन और पापपन विरुद्ध नहीं है। प्राणियों का रोग होना सहज धर्म है, अन्नादि भोजन की और धातु की विषमता से नित्य होता ही है, वह कदाचित् बढ जाता है तब रोग कहलाता है, वैसे यह पाप रूप भी समझना चाहिए। इस पाप के जग जाने का क्या कारण है ? जिसके उत्तर मे कहते हैं, कि जैसे शरीर में जब रोग होता है तब वह रोग गरिष्ठ भोजन को सहन नही कर सकता है अर्थात् पचा तो सकता नहीं है किन्तु स्वयं विशेष बढ़ता है, वैसे ही यह अधर्म अर्थात् पापरूप रोगरूप दुर्योधन, युधिष्ठिर की सम्पत्ति आदि धर्मरूप भोजन को सहन नहीं कर सका, किन्तु विशेष हानि करने के लिए उद्यत हुआ, इसलिए कुरुकुल का 'रोग' इसको कहा है ।।५३।।

आभास—एतदुपाख्यानश्रवणस्य फलमाह **य इदं कीर्तयेदिति** ।

आभासार्थ—'य इद कीर्तयेद्विष्णोः' श्लोक में इस उपाख्यान श्रवण का फल कहते है

श्लोक—य इदं कीर्तयेद्विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ।
राज्ञां मोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।५४।।

श्लोकार्थ—जो मनुष्य विष्णु के, चैद्य वध आदि, राजाओं को कैद से छुड़ाना और यज्ञ कर्म का कीर्तन करता है वह सर्व पापों से छूट जाता है ।।५४।।

सुबोधिनी—प्रत्यहं पठेत्, किमित्येतत्पठिष्यतीत्याशङ्कायामाह **विष्णोः कर्मेति** । इदं तु राजसूयाख्यं राज्ञः कर्म कथं **भगवत्कर्मेत्यत आह चैद्यवधादिकमिति । शिशुपाल वधः आदिर्यस्य ।** ततःप्रभृति **सर्व** भगवत्कर्मैव, तर्हि तावदेव श्रोतव्यमित्याशङ्क्याह **राज्ञां मोक्षं वितानं चेति ।** त्रयमेतत् तामसं राजसं सात्त्विकं चेति एतत्कीर्तनेन श्रवणेन च **सर्वपापैः प्रमुच्यत** इति श्रवणादिफलं निरूपयन् तस्य धर्मस्योत्तमत्वमाह यथा स्वरूपत **उत्तमत्वं** वर्ण्यते । तथा दृष्टफलसाधकत्वेनापि माहात्म्यमिति फलोक्तिः ।।५४।।

व्याख्यार्थ—इस चरित्र का नित्य पाठ करे, क्यों नित्य पाठ करे ? इस शंका का समाधान करते हैं कि 'विष्णोः कर्म' यह चरित्र भगवान् विष्णु की लीला है, यह आप कैसे कहते हो ? यह तो राजा का किया हुआ राजसूय यज्ञ रूप कर्म है, भगवान् की लीला कैसे है ? जिसका उत्तर देते है कि, शिशुपाल वध आदि से लेकर जो कर्म हुवे हैं वे सर्व कर्म भगवान् के ही कर्म (लीला) हैं, तब तो वही सुनना चाहिये, जिसके उत्तर में ही श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'राज्ञां मोक्ष वितानं च' कहा है कि राजाओं को कैद से छुड़ाने और यज्ञ का भी श्रवण करना चाहिए, ये तीन कर्म तामस, राजस और सात्त्विक होने से तीन प्रकार के हैं इनके श्रवण तथा कीर्तन करने से मनुष्य सर्व पापों

से छूट जाता है, अर्थात् उसके सर्व पाप क्षय हो जाते हैं, इसके श्रवणादि के फल को निरूपण करते हुए, उस धर्म की उत्तमता कहते हैं। जैसे स्वरूप से उत्तमपन का वर्णन है वैसे ही दृष्टफल का साधन होने से भी इसका महात्म्य है, यों फल की उक्ति है ॥५४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे पञ्चविंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध के २५वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन अवान्तर प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद

"पांडव यज्ञ शिशुपाल गति"

राग बिलावलः—

हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ । सत्रु मित्र हरि मनत न दोइ ॥
जो सुमिरै ताकी गति होइ । हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ ॥
वैर भाव सुमिर्‌यौ सिसुपाल । ताहि राजसू मैं गोपाल ॥
चक्र सुदरसन करि संहार्‌यौ । तेज तासु निज मुख मैं धार्‌यौ ॥
भक्ति भाव भक्तनि उद्धारत । बैर भाव असुरनि निस्तारत ॥
कोऊ सुमिरौ काहु प्रकार । सूरदास हरि नाम उधार ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७५वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ७२वां अध्याय
उत्तरार्ध २६वां अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—" ५

राजसूय यज्ञ की पूर्ति और दुर्योधन का अपमान

कारिका—**षड्विंशे राजसूयस्य भूभारहरणे यथा ।**
कारणत्वं तदर्थं हि मानभङ्गो निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—जिस तरह राजसूय यज्ञ, पृथ्वी के भार हरण करने में कारण बनता है उसी तरह दुर्योधन के मान भङ्ग में यज्ञ कारण है इसको जताने के लिये ही उत्तरार्ध के इस २६ वें अध्याय में दुर्योधन के मान भङ्ग का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**यथान्यद्भगवत्कर्म मुख्यं कंसवधादिकम् ।**
राजसूयकृतिस्तद्वत् भूभारहृतिकारणम् ॥२॥

कारिकार्थ—जैसे भगवान् का कंस वध आदि कर्म भूमि के भार हरण करने में मुख्य कारण है, वैसे ही राजसूय यज्ञ भी भू भार हरने में मुख्य कारण है ॥२॥

कारिका—**स्वातन्त्र्ये तु हरेरत्र गौणतेति निरूपणम् ।**
हरेः कथायां तस्यात्र न युक्तमिति निश्चयः ।।३।।

कारिकार्थ—यदि भू भार हरण करने में 'राजसूय' यज्ञ स्वतन्त्र कारण माना जाए, तो हरि गौण बन जायेंगे, इस प्रकार हरि की कथा में हरि को गौण बनाना उचित नहीं यों निश्चय होता है ।।३।।

कारिका—**लोकिक्येव समृद्धिर्हि तस्याभिमतिकारणम् ।**
अतः सैवात्र पूर्वोक्तादधिका वर्ण्यते स्फुटा ।।४।।

कारिकार्थ—उसके (युधिष्ठिर के) आदर के कारण लौकिकी ही समृद्धि है । इस कारण से प्रथम कही हुई समृद्धि से भी अधिक समृद्धि स्पष्ट वर्णन की जाती है ।।४।।

कारिका—**तस्माद्भाषा लौकिकीयं भावादङ्गं न सर्वथा ।**
न विरोधस्ततः पूर्वैनाग्रिमैरपि वाचकैः ।।५।।

कारिकार्थ—इस कारण से यह भाषा लौकिको भाषा है शेष भगवान् तो प्रेम के कारण आधीन होते हैं न कि समृद्धि के कारण आधीन होते हैं । पहले कहे हुए वाक्य, अथवा अब जो कहे जायेंगे, उन वाक्यों में किसी प्रकार से भगवान् के स्वातन्त्र्य में विरोध नहीं है ।।५।।

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते 'दुर्योधनमृते पापम्' इत्युक्तम् । तत्र राजा विस्तारं पृच्छति अजातशत्रोरिति द्वाभ्याम् । स्वयं सर्व सावधानतया श्रूयत इति ज्ञापयितुं सार्धेन पूर्वोक्तमनुवदति **अजातशत्रोरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूर्व अध्याय में कहा है, कि पाप रूप दुर्योधन के सिवाय सबको निकाल दिया था । इस विषय में राजा "अजातशत्रो" इन दो श्लोकों में सर्व कथा विस्तार पूर्वक पूछता है, स्वयं तो सब सावधान होकर सुनता है यह जताने के लिए प्रथम सार्ध श्लोक से पूर्व कथा को कहता है ।

श्लोक— राजोवाच—**अजातशत्रोस्तां दृष्ट्वा राजसूयमहोदयाम् ।**
सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्नृदेवा ये समागताः ।।१।।
दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षयः सुराः
इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ।।२।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! राजसूय यज्ञ से बहुत वृद्धि को प्राप्त युधिष्ठिर की समृद्धि को देखकर, दुर्योधन के सिवाय, मनुष्य, देव, राजा, ऋषि और देव जो भी आए थे, वे सब प्रसन्न हुए, यों क्यों हुआ वह बतलाइये ।

सुबोधिनी—वैरे कारणाभावः तामलौकिकीं **राजसूयेन महानुदयो** यस्या इति **तां** समृद्धिं दृष्ट्वा । पुल्लिङ्गपाठो वा । तस्य सर्वाह्लादकत्वमाह **सर्वे मुमुदिर** इति । ब्रह्मवादिनो वाक्यं सत्यमिति संबोधनम् । सात्त्विका राजसा एव निरूपिताः । **नृदेवा** इति नरश्च देवाश्चेति । **राजानो ऋषयः सुराश्च** इति त्रिविधा लोकान्तरस्थाः । **इति श्रुत**मिति श्रुतं समर्थनीयमिति त्वत्त एव च श्रुतमस्ति नोऽस्माभिः सर्वैरेव । **भगवन्निति** ज्ञानार्थं प्रशंसा । **दुर्योधनस्य** बन्धोरपि कथं न मुत् तस्य सन्तोषाभावे **कारणमुच्यतामि**त्यर्थः ।।१।।२।।

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर का नाम अजातशत्रु कह कर यह बताया है कि दुर्योधन को इसके साथ शत्रुता करने का कोई कारण नही था । युधिष्ठिर के पास उस अलौकिक समृद्धि[1] को जिस समृद्धि की राजसूय यज्ञ के कारण बहुत वृद्धि हुई हैं उसको देखकर सबको आनन्द प्राप्त हुआ, पुल्लिङ्ग पाठ लेने से अर्थ यों करना होगा, कि राजसूय यज्ञ का महान् उदय सबको आनन्द दायी हुआ, हे ब्रह्मन् ! सम्बोधन से यह कहा कि श्री शुकदेवजी ब्रह्मवादी है अतः उनके वचन कभी झूठे नहीं होते है । पहले जो मनुष्य और देव, यों कहा जिससे सात्विक तथा राजस बताये राजा ऋषि और देव ये तीन प्रकार जो कहे वे लोकान्तर (दूसरे लोक में) स्थित कहे है वे भी वहां प्रसन्न हुवे । इति श्रुतं, यों सुना है । इस 'श्रुत' पद के भाव से ही लोकान्तरस्थ कहा है, यह जो सबने सुना है वह भी आपसे ही सुना है भगवन् ! सम्बोधन देकर उनकी (शुकदेवजी की) प्रशंसा, ज्ञान के कारण की है, दुर्योधन युधिष्ठिर का बान्धव था फिर भी उसको आनन्द क्यों नहीं हुआ । उसको सन्तोष नहीं हुआ, इसका कारण बतलाइये ।।१-२।।

आभास—लौकिकसंपत्तिमाह **पितामहस्यति** ।

आभासार्थ—पिता महस्य श्लोक से लौकिक सम्पत्ति बताते हैं ।

श्लोक—ऋषिरुवाच—**पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।**
बान्धवा परिचर्यायां तस्यासन्प्रेमबन्धनाः ।।३।।

श्लोकार्थ—तुम्हारे पितामह (दादा) महातमा युधिष्ठिर के यज्ञ में प्रेम से बन्धे हुए बान्धव सर्व प्रकार की सेवा प्रेम से करने लगे ।।३।।

सुबोधिनी—संबन्धेन श्रवणप्रोत्साहो निरूप्यते, **महात्मन** इति महानुभावत्वात् । अन्येषां परिचर्यायां न काचन लज्जा, अत एव **बान्धवा परिचर्यायां तस्यासन्** । यज्ञे बहूनि कार्याणि तत्र प्रतिनियत कार्यकर्तृत्वं सर्वेषां वक्तुं सामान्यतो निरूप्यते ।।३।।

१—श्लोक में राजसूय महोदयाम् स्त्री लिङ्ग है इसको भले पुल्लिग लेओ ।

व्याख्यार्थ—पितामह 'दादा' शब्द सुनने से सम्बन्ध के कारण परीक्षित को श्रवण मे विशेष उत्साह हुआ। जिसका निरूपण करते हैं। 'महात्मा' विशेषण देकर उसका प्रभाव सिद्ध किया है, जिससे उसकी अर्थात् उसके प्रारम्भ किए हुए कार्य (यज्ञ) की सेवा में अन्य संकोच नहीं करते थे, इससे ही बान्धव उसकी सेवा में लग गये, यज्ञ में बहुत कार्य होते हैं, सबको अपना २ कार्य बांट दिया तदनुसार वे सेवा करने लगे यह सामान्य रूप से कहते है ॥३॥

आभास—विशेषतो निरूपयति भीमो महानसाध्यक्ष इति ।

आभासार्थ—'भिमो महानसाध्यक्ष' श्लोक से विशेष निरूपण करते हैं।

श्लोक—**भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः ।**
सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥४॥

श्लोकार्थ—भीमसेन पाकालय[1] का अध्यक्ष, सुयोधन कोषाध्यक्ष[2], सहदेव पूजाकार्य का अधिकारी और नकुल सामग्री इकट्ठी करनेवाला हुआ ॥४॥

सुबोधिनी—स एव तत्र नियुज्यते यो यस्मिन् कर्मणि महत्येव प्रीतो भवति। तत्र बहुभक्षकत्वात् **भीम** एव महानसाध्यक्षः कृतः, स हि बहु पाचयति। तथा **धनाध्यक्षः** धनरक्षकः दुर्योधनः, स हि पद्महस्तः यमर्थं स्पृशति सोऽक्षयो भवति। सहदेवो ज्ञानवान् ब्राह्मणादिपूजायां नियुक्तः। नकुलस्तु अश्विनीकुमारपुत्र इति द्रव्याणां गुणदोषाभिज्ञत्वात् **द्रव्यसाधने** द्रव्याणां विनियोगार्थं परीक्षायां नियुक्तः ॥४॥

व्याख्यार्थ—जिसकी जिस कार्य करने में प्रीति हो उसको उस कार्य में ही लगाना चाहिए जैसा कि भीम की भोजन में प्रीति थी। इसलिए उसको पाकशाला का कार्य दिया गया, दुर्योधन को कोषाध्यक्ष किया गया क्योंकि उसके हस्त में पद्म का चिह्न था जिससे वह जिस द्रव्य का स्पर्श करता था वह अखुट हो जाता इसलिए धन का अध्यक्ष इसको बनाया गया। सहदेव ज्ञानवान था इसलिए ब्राह्मणादि की पूजा के कार्य में उसको लगाया गया, नकुल अश्विनी कुमारों का पुत्र था। जिससे पदार्थों के गुण और दोषों की परीक्षा करने मे निपुण था। इसलिए द्रव्य इकट्ठे करने तथा उनकी परीक्षा करने के कार्य में इसको नियुक्त किया गया ॥४॥

श्लोक—**सतां शुश्रूषणे जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने**
परिवेषणे द्रुपदजा कर्णो दाने महात्मनः ॥५॥

श्लोकार्थ—महान् आत्मा युधिष्ठिर के यज्ञ में अर्जुन सत्पुरुषों की सेवा करने लगा। श्रीकृष्ण उनके पाद प्रक्षालन (धोने) की सेवा में तत्पर हुए परोसने का कार्य द्रोपदी करने लगी, दान का कार्य दानी कर्ण ने संभाल लिया।

१—रसोई घर जहां भोजन बनाया जाता है २—खजान्ची।

सुबोधिनी--तथा सतां सेवायां **जिष्णुरर्जुनः**, सह युपासितवृद्धः सेवां जानाति **कृष्णः पादावनेजन** इति भगवतः अनङ्गत्वे दुर्योधनदृष्टौ सर्वोत्तमत्वं न स्फुरिष्यतीति ब्रह्मण्यत्वात्तत्र विनियोगो वर्ण्यते । इदमेव हि भगवत आधिक्यं भृगुपरीक्षायां निरूपयिष्यते । परिवेषणे द्रुपदजा द्रौपदी अमृतहस्ता । **कर्णोदाने** अत्युदारत्वात् । **महात्मन** इति बहुदानेऽपि राज्ञः संतोष एवेत्येतदर्थमुक्तम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—वृद्धों की सेवा करने से, अर्जुन को सेवा कार्य किस प्रकार करना, यह अनुभव था । इसलिए उसको सेवा का कार्य दिया गया । भगवान् को पाद–प्रक्षालन (पैर धोने) की ऐसी सेवा दी गई जिससे दुर्योधन को श्रीकृष्ण सबसे उत्तम देखने में न आवे, क्योंकि इस सेवा के भाव वा तत्त्व को न जानने से दुर्योधन कृष्ण को साधारण समझने लगा । युधिष्ठिर को सबसे उत्तम जाना, भगवान् तो ब्रह्मण्य हैं, जिस कार्य से ब्राह्मण प्रसन्न होवे वही कार्य पसन्द करने वाले हैं अतः उनको इस कार्य में लगाया गया, भृगु परीक्षा के समय भगवान् ने इस दीनता को प्रकट करने से अपने को सब देवों से उत्तम सिद्ध किया, यह कहा जाएगा ! परोसने के कार्य में द्रौपदी को नियुक्त किया, क्योंकि वह अमृत हस्ता थी । अर्थात् जिस भक्ष्य आदि को स्पर्श करे वह अमृत सम हो जाता था । कर्ण उदार था, इसलिए उसको दानाध्यक्ष बनाया, 'महात्मनः' युधिष्ठिर को विशेषण देने का भाव यह है कि कर्ण कितना भी दान देवे तो भी राजा को प्रसन्नता ही होती ॥५॥

श्लोक—**युयुधानो विकर्णश्च हार्दिक्यो विदुरादयः ।**
वाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च संतर्दनादयः ॥६॥

श्लोकार्थ—सात्यकि विकर्ण, हार्दिक्य, विदुर आदि भूरि आदि वाह्लीक के पुत्र और जो सन्तर्दन आदि बान्धव थे ॥६॥

सुबोधिनी--**युयुधानादयः** सर्व एव नानाकर्मसु वैषम्याभावार्थं नियुक्ताः । **युयुधानः** सात्यकिः यादवोऽप्यर्जुनशिष्यः । **विकर्णादयोऽपि** बान्धवाः । **वाह्लीकः** शंतनोर्भ्राता, तस्य पुत्रा भूरिश्रवआदयः । **संतर्दनादयश्च** गोत्रजाः । सर्वेषां कथनं संभ्रमार्थम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—विषमता न होवे इसलिए सात्यकि आदि सबको पृथक् पृथक् कार्यों के अधिकारी बनाया, सात्यकि को युयुधान कहा है और वह यादव था, तो भी अर्जुन का शिष्य था । विकर्ण आदि भी बान्धव थे । वाह्लीक शन्तनु का भाई था, उसके पुत्र भूरीश्रवा आदि थे । सन्तर्दन आदि गोत्र में उत्पन्न हुए थे सर्व का कथन इसलिए है कि इन सबों का युधिष्ठिर के लिए आदर है ॥६॥

श्लोक—**निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा ।**
प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥७॥

श्लोकार्थ—हे महाराजा वे सब अपने अपने नियुक्त किये बड़े यज्ञ सम्बन्धी अनेक कामों में राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से लग गए थे ॥७॥

सुबोधिनी—महायज्ञोऽयमिति आकारणप्रेषण-द्रव्यसमानयनादिनानाकर्मसु नियुक्ताः सन्तः **प्रवर्तन्ते स्म**। राजसूयस्य परमधर्मत्वात् तत्कर्तुर्मनः-प्रीतिं सर्व एव कर्तुं प्रवृत्ताः। एवमारम्भे सर्वेषां वन्धूनां विनियोगलक्षणः महान् संभ्रम् उक्तः ॥७॥

व्याख्यार्थ—यह राजसूय यज्ञ महान् यज्ञ है इसलिए इसमें बुलाने, भेजने, वस्तु लानी आदि बहुत कार्य थे। इसलिए सब अलग अलग कार्यों में नियुक्त होकर अपना अपना कार्य करते थे, राजसूय महान् धर्म कार्य होने से उसके करने वाले का मन प्रसन्न हो, इस वास्ते सब कार्य में प्रवृत्त हुए। इस प्रकार यज्ञ के प्रारम्भ होते ही सब बान्धव उनके कार्य मे तत्पर हो गए, जिससे युधिष्ठिर का महान् आदर हुआ है यह प्रकट देखने में आ रहा था ॥७॥

आभास—अन्ते तु महानेव संभ्रमो जात इति वक्तुं मध्ये **वैदिकं संक्षेपेणाह** ऋत्विक्सदस्येति।

आभासार्थ—अन्त में तो बहुत आदर हुआ यों कहने के लिए 'ऋत्विक् सदस्य' श्लोक में बीच में हुए वैदिक आदर का वर्णन करते है।

श्लोक—**ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः।**
चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥८॥

श्लोकार्थ— ऋत्विज, सभासद, बड़े ज्ञानी और उत्तम स्नेहियों का मधुर वाणी पूजन तथा दक्षिणा आदि से सत्कार हो जाने के बाद शिशुपाल भगवान् के चरण में प्रविष्ट हुआ इसके अनन्तर यमुनाजी में यज्ञान्त स्नान किया ॥८॥

सुबोधिनी—ऋत्विजः सदस्या बहुविदश्च विहितदानेन संतर्पिताः। **सुहृत्तमास्तु** लौकिकदानेन। **स्विष्टाः** इच्छापूरणेन प्रीणिताः। **सूनृतं** वाचा तर्पणम्। **समर्हणं** कायिकम्। **दक्षिणा** द्रव्यकृता। मानसं त्वेभिरेव ज्ञायते। एवं मित्राणां संतोषं कृत्वा अमित्राणां च नाशव्याजेनेष्टं कृतवानित्याह **चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्ट** इति। **चक्रुस्ततस्त्ववभृथस्नपनमिति**। लौकिकोत्सवोऽवभृथे भवति। **द्युनदी** यमुनैव देवरूपित्वात्। इयमपि सूर्यमण्डलादेव समागतेति, वैदिकविरोधाभावे गङ्गायां वा गताः। अनेनालौकिकसामर्थ्य च द्योतितत् ॥८॥

व्याख्यार्थ—ऋत्विज, सभासद और बड़े ज्ञानियों को शास्त्र में कहे अनुसार दान देकर तृप्त किया, उत्तम स्नेहियों का देवों की तरह पूजन कर लौकिक दान देके उनकी इच्छा पूर्ण की, मधुर वाणी से सर्व को प्रसन्न किया, शरीर से पूजन किया, द्रव्य से दक्षिणा का कार्य पूर्ण किया, इस प्रकार कार्य करने से मानसिक आदर समझ में आ जाता है, इस प्रकार मित्रों को प्रसन्न कर शत्रुओं का भी नाश के बहाने से हित ही किया, जिसका वर्णन करते हैं कि शिशुपाल ने भगवान् के चरण में प्रवेश किया, इसके अनन्तर यमुनाजी में यज्ञान्त स्नान किय अवभृथ में लौकिक उत्सव होता है

'द्यु नदी' देव रूप होने से यमुनाजी ही हैं। यह भी सूर्य मण्डल से ही आई है अथवा वैदिक विरोध[1] न होने से गंगा में स्नान करने के लिए गए इससे अलौकिक सामर्थ्य प्रकट किया है ।।८।।

आभास—तत्र मृदङ्गादिवाद्यानां वादनमाह **मृदङ्गे**ति ।

आभासार्थ—वहां मृदङ्ग आदि बाजे बजने लगे यों 'मृदङ्ग शङ्ख' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः ।**
वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ।।९।।

श्लोकार्थ—उस अवभृथ स्नान के उत्सव में मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, धुन्धुरी, आनक और गौमुख आदि विचित्र बाजे बज रहे थे ।।९।।

सुबोधिनी—लौकिकोत्कर्षार्थमेव वादित्राणां | सिद्धानामापि वर्णनम् ॥९॥

व्याख्यार्थ—बाजे प्रसिद्ध थे तो भी लौकिक उत्कर्ष दिखाने के लिए उनका वर्णन किया है ॥९॥

आभास—अवभृथनिमित्तमाश्रित्य लौकिके उत्सवे उत्सवकार्य सर्वमेवाह **नर्तक्यो** ननृतुरिति ।

आभासार्थ—अवभृथ के कारण का आश्रय लेकर जो लौकिक उत्सव हुआ उसके सर्व कार्य का' नर्तक्यो **ननृतु**' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।**
वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत ।।१०।।

श्लोकार्थ—प्रसन्न हुई नटनियाँ नृत्य करती थी तथा गाने वाले यूथ के यूथ गाते थे और वीणा बंशी और तल का ऊँचा शब्द होता था । उनका वह नाद आकाश को छूता था ।।१०।।

सुबोधिनी—हृष्टाः उत्सवासक्ताः । **यूथसः** समूहशः । **वीणा वेणवश्च तलस्तालः** हस्ततलो-न्नादो वा **दिवमस्पृशदिति लौकिकोक्तिः** ॥१०॥

व्याख्यार्थ—उत्सव में आसक्त होने से (नटिनियाँ) प्रसन्न हुई थी, यूथ के यूथ मिल कर

१—वैदिक विधि अर्थात् यज्ञ की दीक्षा लेने वाले को तदनुसार ही कार्य विधि करनी चाहिए यों होते हुए भी गंगाजल में शोभती तुलसी मिश्रित कृष्ण चरण रज विशेष होने से जाना अनुचित नहीं है, भगवन्मार्ग का अनुसरण करने से वेद का विरोध नहीं रहता है।

वीणा, वंशी और तलका ताल अथवा हस्त का ताल ऐसा जोर से होने लगा जो आकाश को छूने लगा ऐसी लौकिक उक्ति है ॥१०॥

आभास—एवं निर्गमेन संभ्रममुक्त्वा सर्वेषा राज्ञां युधिष्ठिरेण सह निर्गमनप्रकार माह चित्रध्वजेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार बाहर निकलते समय हुए कोलाहल का वर्णन कर सब राजा युधिष्ठिर के साथ निकले वह प्रकार 'चित्रध्वज' श्लोक से कहते है ।

श्लोक—**चित्रध्वजपताकाग्र्यैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः ।**
स्वलंकृतैर्भटैर्भूपा निर्ययू रुक्ममालिनः ॥११॥

श्लोकार्थ श्रेष्ठ रंग विरंगी ध्वजाओं और पताकाओं सहित, सुसज्जित उत्तम हस्तियो, रथ अश्व और सैनिकों के साथ, सुवर्ण मालाधारी राजा बाहर निकले ॥११॥

सुबोधिनी—गरुडादिचिह्निता ध्वजाः, जयपत्राङ्किताः **पताकाः**, आश्चर्यहेतुत्व **चित्रत्व** ध्वजानां पताकानां च । अग्र्या श्रेष्ठा । इभेन्द्राः स्यन्दनानि च **अर्वाणश्च** अश्वा. । एते **स्वलंकृता** भटाश्च । चतुरङ्गाणां अलंकरणमुक्तम् । तैः सह **भूपा निर्ययु** । रुक्मालकरणसमूहयुक्ताः । **रुक्मं** सुवर्णम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—ध्वजाएँ, गरुड आदि की चिह्नों वाली थी जिनके उपर विजय के वाक्य लिखे थे वैसी पताकाएँ थीं, ध्वजा और पताकाएं रंग विरंगी होने से देखने वालों के अचम्भे का हेतु बन गई थी । इनमे जो आगे लगी हुई वे उत्तम थी, हस्ती, रथ और घोड़े तथा सैनिक ये सब अच्छी तरह सुसज्जित थे । राजा के जो चार अङ्ग होते है वे सब शृङ्गारे हुए थे यों कहा, सोने के अलंकारों को धारण किये हुए राजा भी उनके साथ बाहर निकले ॥११॥

श्लोक—**यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकेकयकोसलाः ।**
कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरः सराः ॥१२॥

श्लोकार्थ—यदु, सृन्जय, काम्बोज, कुरु, कैकय और कौशलवंश के क्षत्रिय भूमि को कम्पित करते हुए सैन्य यजमान को आगे कर बाहर निकले ॥१२॥

सुबोधिनी—यदुसृञ्जयादयः क्षत्रियावान्तरभेदाः तत्तकुलाभिमानयुक्ता अपि सह **निर्ययुरि**त्युत्कर्षः । स्वस्वसैन्यैर्भुवं **कम्पयन्तः** । **यजमानो** युधिष्ठिरः **पुरःसरो** येषाम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—यदु, सृन्जय आदि भी क्षत्रिय जाति के अवान्तर भेद है, अपने २ कुल का उनको अभिमान था । तो भी युधिष्ठिर के साथ निकले जिसमे महाराजा का उत्कर्ष (बड़ाई) प्रकट होता था, वे सब क्षत्रिय अपनी अपनी सेवा से पृथ्वी को कम्पित करते थे । इन सब राजाओ के आगे 'युधिष्ठिर' था ॥१२॥

आभास—एवं केवललौकिकपराणां निर्गमनमुक्त्वा अलौकिकानामपि सह निर्गमनमाह **सदस्येति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार जो लौकिक के परायण थे, उनका राजा के साथ निकलना कह कर अब 'सदस्य' श्लोक से अलौकिकों का भी युधिष्ठिर के साथ में निकलने का वर्णन करते है ।

श्लोक—**सदस्यर्त्विग्द्विजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।**
देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥१३॥

श्लोकार्थ—सभासद, ऋत्विज और श्रेष्ठ ब्राह्मण वेद का तुमुल घोप करते हुए राजा के साथ चलने लगे और देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व भो पुष्पों की बर्षा के साथ स्तुति करते हुए ऊपर आकाश मार्ग से साथ चले ॥१३॥

सुबोधिनी—त्रिविधा अपि ब्राह्मणाः ब्रह्मघोषेण सह निर्गताः । भूयसेति वाद्यापेक्षया ब्रह्मघोपस्यैव निकटे जायमानत्वात् भूयस्त्वम् । अलौकिकपङ्क्तौ देवानामप्यागमनमाह **देवर्षीति** । देवादय उपरि गच्छन्तः पुष्पवृष्टिं स्तोत्रं च कृतवन्तः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—तीन प्रकार के ब्राह्मण (सभासद, ऋत्विज और श्रेष्ठ ब्राह्मण) वेद ध्वनि करते हुए बाहर निकले, वेद ध्वनि का घोष ऐसा महान् हुआ जो साथ में वाद्यों की ध्वनि होती थी तो भी यह वेद मंत्रों का घोष स्पष्ट सुनने में आता था, मानों वाद्यों से भी निकट हो रहा है । उस अलौकिक पंक्ति में देवों का भी आगमन हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व आकाश मार्ग से चलते हुए पुष्प वृष्टि करते थे और स्तुति भी कर रहे थे ॥१३॥

आभास—ततः कामकलाभिः गच्छतामुत्सवमाह**स्वलंकृता** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् काम की कलाओं से जाने वालों के 'स्वलंकृता' श्लोक से उत्सव का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**स्वलंकृता नरा नार्यो गन्धस्रग्भूशणाम्बरैः ।**
विलिम्पन्तोऽभिषिञ्चन्तो विजह्रुर्विविधै रसैः ॥१४॥

श्लोकार्थ—नगर के नर तथा नारी चन्दन, माला, आभूषण और वस्त्रों से सिंगार कर सुसज्जित होके अनेक प्रकार के रसों से लेपन करते हुए और सिंचन करते हुए विहार करने लगे ॥१४॥

सुबोधिनी—गन्धादिभिः **स्वलंकृताः विविधै** रसैर्विलिम्पन्तः तैलगोरसादिभिर्हृष्टाः सन्तः कामकलाभिर्**विजह्रुः** । याभिः सहलीलोपयुज्यते तास्ते च **विजह्रुरिति** विमर्शः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—गन्ध आदि सुगन्धित पदार्थों से सिंगारे हुए, अनेक प्रकार के रसों से लेप करते हुए नर और नारियाँ काम कलाओं से विहार करते हुए आनन्द पा रहे थे। जिस स्त्री का विहार जिस स्त्री के साथ योग्य था वह उससे ही करती। एवम् पुरुष भी परस्पर योग्यता के अनुसार विहार करते थे। यह ही विचार पूर्वक निर्णय है।

आभास—साधारणीनां भेदेनाह **तैलगोरसेति**।

व्याख्यार्थ—'तैलगोरस' श्लोक से साधारण स्त्रियों (वेश्याओं) का पृथक् प्रकार से विहार कहते हैं।

श्लोक—**तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः।**
पुंभिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥१५॥

श्लोकार्थ—तेल, दही, सुगन्धी जल, हल्दी और सघन (गाढ़ी) केसर, इन पदार्थों, से पुरुष वेश्याओं को लेप करते थे और वेश्याएं पुरुषों को लेप करती थीं, इस प्रकार इनका विहार होता था।

सुबोधिनी—इदमर्ध देहलीप्रदीपवत्। पुंभिरिटैः प्रकर्षेण लिप्ताः स्वयमपि लिम्पन्त्यः। वारयोषितः वेश्याः। वराणां समूहो वारं तस्य योषित इति। धर्ममध्येऽपि लौकिकभाषात्वात् तथावर्णनं न दोषः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—यह पूर्वार्ध देहली पर धरे हुए दीपक के समान है, पुरुष अर्थात् वेश्यागामी पुरुषों ने रसों से वैश्याओं को लिप्त की थी तथा वेश्याओं ने पुरुषों को लिप्त किया था, 'वारयोषित' पद का अर्थ करते हैं कि वरों का समूह वार, (बहुत पुरुषों) की स्त्रियाँ, वे स्त्रियाँ वारयोषित कही जाती हैं, यह भाषा लौकिक भाषा है, इस कारण से धर्म के अर्थात् यज्ञ के कार्य में इस प्रकार के वर्णन से कोई दोष सहीं है ॥१५॥

आभास— ततो राजपत्नीनां निर्गमनविहरणमाह **गुप्ता नृभिरिति**।

आभासार्थ—अनन्तर रानियों के निर्गमन के समय का विहार 'गुप्ता नृभि' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोक—**गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेत द्दिव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः।**
ता मातुलेयसखिभिः परिषिच्यमानाः सव्रीडहासविकसद्वदना विरेजुः ॥१६॥

श्लोकार्थ—इस उत्सव को देखने के लिए जैसे देवांगनाएँ विमानों में बैठकर आई थीं, वैसे ही योधाओं से रक्षित रानियां भी देखने के लिए बाहर निकली, मामे के पुत्र तथा सखियों से भिगोई जाती लज्जायुक्त हास्य से विकसित मुख वाली वे शोभा पा रही थी ॥१६॥

सुबोधिनी—शस्त्रपाणिभिः पदातिभिर्गुप्ताः । एतदवभृथाख्यं कर्म । **देव्यः** राजस्त्रियः **नरयानै-र्निर्गताः** । नरयानानां तासां चोत्तमत्वं दृष्टान्तेनाह **विमानवरैर्नृदेव्य** इति । तासामपि लेपनादिलीलामाह **ता मातुलेयसखिभिरिति** । मातुलेयैः सखिभिश्च **परिषिच्यमानाः** । मातुलेया एव वा सखायः । मातुलेयस्य भगवतः सखीभिरित्यपव्याख्यानम् । सर्वराज्ञां स्त्रीणां प्रक्रान्तत्वात् मातुलेयपदं च तासामेव मातुलेयं गमयति । न भर्तु मातुलेयं ता देवरानुत सखीनित्यग्रे विरोधश्च । मातुलेयकन्यापरिणये ज्येष्ठस्य कनिष्ठा देवरा मातुलेयाश्च भवन्ति । मातुलेयपदं पैतृष्वस्त्रेयस्याप्युपलक्षणम् । देवरैः सह सखीनां परिहासविलासः लौकिकः सर्वदेशप्रसिद्धो न निषिद्धः । यथा राजभोग्याः पदार्थाः सर्वेषामुपयुज्यन्ते तथा स्त्रीणामपि बाह्या लीलाः सम्बन्धिनामपि युज्यते मातुलेयपदेन धर्म्यो विवाहो निराकृतः । धर्मविवाहवतीनां तु सुतरां पतिव्रतानां तु विलासा एव न भवन्ति । सुतरामन्यैः सह । तस्मात्सुष्ठूक्तं **मातुलेयैः सखिभिश्चेति** । तथापि **संवृता** इति **सव्रीडहासविकसद्वदना** इति पूर्वोक्ताभ्यो विशेषः । परिषेचनं तु जलमध्ये न तु मध्येमार्गं तत्रैव कमलानीव **विरेजुः** । ॥१६॥

व्याख्यार्थ—शस्त्रधारी पैदल सैनिकों से रक्षित राजपत्नियां अवभृथ कर्म का उत्सव देखने के लिए पालकियों में बैठ बाहर आई, पालकियों की और इनकी उत्तमता दृष्टान्त से कहते हैं, जैसे उत्तम विमानों में देव स्त्रियाँ आकाश में निकली वैसे ये राज रानियां भी पालकियों में निकली उनके भी लेपन आदि का वर्णन करते है, मामा के पुत्रों और प्रणय वालों से रसों द्वारा सिंचित होती थी अथवा मामा के पुत्र ही प्रणय वाले थे ।

मामा के पुत्र भगवान् के सखाओं से सिंचित होती थी, ऐसा अर्थ उचित नही है यहाँ सर्व राजाओं की स्त्रियों की बात है । मामे का पुत्र कहने से उनके मामे के पुत्र समझे जायँगे, उनके पति के मामे के पुत्र नहीं समझे जायेंगे । आगे के श्लोक में जो देवर और प्रणय वालों को ये शब्द कहे हैं उनसे विरोध होगा । यदि यह अनुचित अर्थ किया जाएगा तो मामे के पुत्र की कन्या से विवाह करने पर, बड़े भाई की पत्नी के छोटे भाई देवर और मामे के पुत्र बन जाते हैं, मामे के पुत्र शब्द से भुआ के पुत्र की भी सूचना हुई है, सखियों को देवरों के साथ हँसी से विनोद करना लौकिक है । सर्व देशों में प्रसिद्ध है, उसका निषेध नहीं है । जैसे राज भोग्य पदार्थ सर्व के उपयोग में आ सकते हैं वैसे ही स्त्रियों से भी बाहर की हँसी आदि विनोद सम्बन्धी कर सकते हैं । मामे के पुत्र पद कहने से यह सूचित किया है कि यह विवाह धर्मानुसार नहीं है जो कन्यायें धर्मानुसार विवाह करती हैं वे सुतराम पतिव्रतायें हो जाती हैं अतः उनका दूसरों के साथ हँसी आदि विलास नहीं हो सकते हैं । इससे यह मामे के पुत्रों और प्रणय वालों से मिश्रित यह बराबर कहा है तो भी रक्षकों से आवेष्टित थीं और लज्जा युक्त हास्य के कारण प्रफुल्ल मुख वाली थीं जिससे प्रथम कही हुई स्त्रियों से उत्तम हैं । सिंचन जल के मध्य में होता है न कि मार्ग में । वहां जल में जैसे कमल खिलते हैं वैसे ये भी सुशोभित हो रही थी ।।१६।।

आभास—ता अपि प्रतियोगिनां सेचनं चक्रुरित्याह **ता देवरानिति** ।

आभासार्थ—उन्होंने भी देवर और साथ वालियों पर सिंचन किया 'ता देवरानुत' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—ता देवरानुत सखीन्सिषिचुर्दृतीभिः क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।
औत्सुक्यमुक्तकबराश्च्यवमानमाल्याः क्षोभं दधुर्मलधियां रुचिरैर्विहारैः ॥१७॥

श्लोकार्थ—वे अपने देवर और प्रणयवालों को पिचकारियों से अथवा चमड़े की डोलचियों से भिगो रही थीं । जिससे उस समय उनके वस्त्र भी भीग गये थे । उसी से उनके सब अंग कुच (स्तन), उरु और मध्य भाग साफ देखने में आते थे, तथा उत्सुकता से चोटी शिथिल हो जाने से पुष्प बिखर रहे थे, उस समय उनका यह विहार देख कर कामीजनों के मन क्षोभ पाते थे ॥१७॥

सुबोधिनी—त एव मातुलपुत्रा देवराः । उतेति सखीनां भिन्नत्वाय । दृतयः वंशचर्मकृताः । स्वयं च ताः क्लिन्नाम्बराः सूक्ष्मवस्त्रपरिधानाद्विवृतगात्राः । रसस्थानानामपि दर्शनार्थं विशेषतो निरूपणम् । कुचोरुमध्या इति शृङ्गारस्थानत्वाय नासां यथा वर्णनम्, मध्यं नाभिस्थानम् । क्रीडौत्सुक्येन मुक्तं कबरं यासाम् । अत एव च्यवमानमाल्याः । तासां दर्शनेन कन्दर्पाविर्भावो भवतीति तेन प्रकारेण विशेषो वर्णितः । दोषजनकत्वं व्यवस्थया परिहरति मलधियामिति । अजितान्तःकरणानामेव तद्दर्शनेन क्षोभः । अनेन कीर्तनश्रवणादावपि दोषः परिहृतः । रुचिरैरिति रसाभासव्यतिरिक्तैः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वे ही मामे के पुत्र देवर प्रणय वाले उनसे भिन्न थे यों बताने के लिए 'उत' पद दिया है, 'दृतयः' बांस की या चमड़े की बनी हुई पिचकारियों से अथवा छोटी डोलचियों से उनको भीगोती थीं और आप भी भीगे हुए वस्त्रों वाली थी तथा वे कपड़े बहुत महीन थे जिनसे इनके अवयव साफ देखने में आते थे । रसोत्पादक स्थान भी दिखते थे । यों बताने के लिए उनके नाम कहते हैं, स्तन, जंघा और नाभि का भाग ये शृङ्गार रस के स्थान हैं, मध्य पद से नाभि का भाग कहा है । क्रीड़ा की उत्सुकता से जिनकी चोटी शिथिल (ढीली) पड़ गई थी । जिससे पुष्प बिखर रहे थे । उनके दर्शन से काम का आविर्भाव होता था । इसलिए उस प्रकार से उनकी विशेषता कही है, अब उनको देखना काम दोष उत्पन्न करने वाला है इसकी व्यवस्था 'मलधियां' पद से करते हैं कि जिनका अन्तः करण मलीन है, अर्थात् जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीता नहीं है, उन मलीन बुद्धि वालों में ही कामोत्पत्ति होने लगी, शेष जिनकी बुद्धि मलीन नहीं है, इन्द्रियां जीती हुई है, उनमें काम दोष उत्पन्न नहीं होता है । अतः इस चरित्र के कीर्तन श्रवण आदि में कोई दोष नहीं है यह सिद्ध किया है 'रुचिरैः' पद से यह आशय दिखाया है कि इनकी यह क्रीड़ा शुद्ध प्रेम की थी । न कि रसाभास काम की थी ॥१७॥

आभास—ततो युधिष्ठिरस्य निर्गमनमाह स सम्राडिति ।

आभासार्थ—'सम्राड्रथ' श्लोक से युधिष्ठिर का बाहर निकलने का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स सम्राड्रथमारूढः संदश्वं रुक्ममालिनम् ।
व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिस समय वे चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर उत्तम घोड़ों से युक्त सुवर्ण की मालाओं वाले रथ पर अपनी स्त्रियों के साथ चढ़े उस अवसर में ऐसे शोभित थे कि मानों क्रियाओं के साथ यज्ञराज शोभा दे रहा है ।।१८।।

सुबोधिनी—साम्राज्य कर्मणा तेनैव प्राप्तमिति रथविशेषणम् । सदश्वं रुक्ममालिनमिति । सत्पदेन दान्तत्वमपि गम्यते । सुवर्णालंकारोपेतम् । स्वपत्नीभिः असाधारणीभिः, पूर्ववन्न्यार्थमत्तम् । तस्यालौकिकत्वमाह **क्रियाभिः** क्रतुराडिवेति । प्रकरणे प्राप्तं लौकिकत्वं परिह्रियते । क्रतुराडपि योगजदृष्ट्या दृश्यते । अभिव्यक्तिदशाया तु सर्वैरेव क्रियाभिर्नित्याभिः ।।१८।।

व्याख्यार्थ—उसी यज्ञ कर्म से ही युधिष्ठिर ने साम्राज्य प्राप्त किया था । जिससे वे चक्रवर्ती हुए सुन्दर अश्व जिस रथ में जुड़े है, सुवर्ण की मालाओं से चारों तरफ सुसज्जित रथ में पहले से विलक्षण दिखती अपनी स्त्रियों से विराजमान हुवे, तब वे ऐसे अलौकिक शोभावान हुए, मानो यज्ञराज अपनी क्रियाओं से शोभा पा रहा है । यों कहने से यद्यपि प्रकरण से लौकिकता दिखती है, तो भी उसका परिहार कर अलौकिकता दिखाई है । यज्ञराज का प्रत्यक्ष दर्शन भी योग से उत्पन्न दैवी दृष्टि से होता है, प्रकट दशा में तो सकल नित्य क्रियाओं से जो ऋत्विज क्रियाएँ करते है उनके स्पष्ट दर्शन होते हैं ।।१८।।

श्लोक—पत्नीसयाजावभृथ्यैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।
आचान्तं स्नापयांचक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ।।१९।।

श्लोकार्थ—पत्नी संयाज (याग) और अवभृथ संवन्धी कर्म करा के आचमन लेने के अनन्तर उन ऋत्विजों ने युधिष्ठिर को कृष्णा के साथ गङ्गा में स्नान कराया ।।१९।।

सुबोधिनी—ऋत्विजां वा यागा नानाशाखासु प्रकारभेदेन भवन्तीति पत्नीसंयाजान्ताः संस्थाः साम्प्रतं प्रचरन्ति । स (ह) स्रान्ता वा, तस्मिन् पक्षे स्वतन्त्रतया **पत्नीसंयाजाः** पृथगेव क्रियन्ते जाघन्यादिद्रव्यैः । **आवभृथ्याश्च इष्टयः आवभृथ्यैः** कर्मभिः । **चरित्वा** चरणं कृतिः । ततस्ते एव **ऋत्विजः आचान्तं** कर्मसमाप्त्यनन्तरं **स्नापयांचक्रुः** अभिषेकविधिना । अभिषेको मुख्ययैवेति सह कृष्णयेत्युक्तं 'मुख्याभिषेक्त्री' इति वाक्यात् । **गङ्गायामिति** अप्स्ववगाह्याभिषेकः ।।१९।।

व्याख्यार्थ—इस समय पृथक् पृथक् शाखाओं में प्रकार भेद से यज्ञ होते हैं, इसी तरह पत्नी संयाज पर्यन्त याग क्रिया के नमुने हैं अथवा एक हजार प्रकार के याग प्रचलित हैं । उस पक्षानुसार जो द्रव्य बढ़ते है उन द्रव्यों से पत्नी संयाज (याग) स्वतन्त्र प्रकार से पृथक् ही किये जाते हैं । अवभृथ सम्वन्धी यज्ञ अवभृथ में जो कर्म कहे हैं, उनसे किये जाते हैं, वे ही ऋत्विज आचमन तक कर्म कराने के बाद, युधिष्ठिर को अभिषेक की विधि के अनुसार स्नान कराने लगे । अभिषेक में रानी ही मुख्य कही है । विना रानी के अकेले राजा का अभिषेक नहीं होता है, इसलिए 'कृष्णयासह' कहा है 'गङ्गाया' पद कहने से यह कहा है कि गङ्गाजल में भीतर नहाते हुए भीतर अभिषेक होता है ।।१९।।

श्लोक—देवदुन्दुभयो नेदुर्नरदुन्दुभिभिः समम् ।
मुमुचुः पुष्पवर्षाणि देवर्षिपितृमानवाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—मनुष्यों के नगाड़ों के साथ देवताओं के नगाड़े भी बजने लगे, देव, ऋषि और पितृगण तथा मनुष्य पुष्प वर्षा करने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी—तस्य यागकृतिः सर्वसंमता जातेति ज्ञापयितुं **देवदुन्दुभीनां** वादनम् । नरदुन्दुभयः लौकिकाः । अभिलषितसमये नरदुन्दुभिवादनं तदैव देवदुन्दुभीनामपीति । देवा इच्छानुसारिणो जाता इति ज्ञापयितुं सहभावो निरूपितः । देवत्वसंपादककर्मापेक्षयापि राजसूयो महानिति ज्ञापयितुं **मुमुचुः पुष्पवर्षाणी**त्याह ॥२०॥

व्याख्यार्थ—उसके यज्ञ की कृति पूर्णता एवं सुन्दरता में सम्मति सर्व ने दी यह जताने के लिए ही उस समय देवों ने नगाड़े बजाये, मनुष्यों के नगाड़े तो लौकिक हैं, जिस समय बजने चाहिये उस समय मनुष्यों ने बजाये तो देवों ने भी साथ ही बजाये, यों करने से देव भी इच्छानुसारी हुए । यह जताने के वास्ते साथ बजाने को कहा है, देवपन सम्पादन करने से भी राजसूय महान् है यों बताने के लिए देवादि सर्व ने पुष्पों की वर्षाएं की है ॥२०॥

श्लोक—सस्नुस्तत्र ततः वर्णाश्रमयुता जना ।
महापातक्यपि यतः सद्यो मुच्येत किल्विषात् ॥२१॥

श्लोकार्थ—अनन्तर वहाँ सर्व वर्णाश्रम वाले मनुष्यों ने स्नान किया जिस स्नान से महा पापी भी शीघ्र ही पाप से छूट जाता है ॥२१॥

सुबोधिनी—ततो राजसन्निधौ सर्व एव **सस्नुः** । पतितपाखण्डानां तत्र प्रवेशाभावाय **वर्णाश्रमयुता जना** इत्युक्तम् । माहात्म्यमाह **महापातक्यपी**ति । **सद्यः** स्नानानन्तरमेव अकस्मात्समागतः अभ्यनुज्ञया स्नाति चेत् ॥२१॥

व्याख्यार्थ— पश्चात् राजा के समीप ही सर्व ने स्नान किया, श्लोक में 'वर्णाश्रमयुताजनाः' वर्ण और आश्रम धर्म पालने वाले मनुष्यों ने स्नान किया यों कहने का भावार्थ यह है, कि यज्ञ में अधर्मी और पाखण्डी जनों ने प्रवेश ही नही किया था । यज्ञान्त स्नान करने का महात्म्य कहते हैं कि महान् पापी भी स्नान करने से शीघ्र ही पाप से छूट जाता है चाहे उसने अचानक आकर सम्मति लेकर केवल स्नान किया हो ॥२१॥

आभास—ततो राज्ञः लौकिकोत्कर्षार्थमलंकरणमाह अथेति ।

आभासार्थ—पश्चात् राजा के लौकिक उत्कर्ष दिखाने के लिए शृंगार करने का 'अथराजाऽहते' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**अथ राजाऽहते क्षौमे परिधाय स्वलंकृतः ।**
ऋत्विक्सदस्यब्रह्मादीनानर्चाभरणाम्बरैः ।।२२।।

श्लोकार्थ—पश्चात् राजा नये दो वस्त्र धारणकर उत्तम अलंकारों से अलंकृत हुआ अनन्तर ऋत्विज सभासद और ब्राह्मण आदि सर्व का आभरण तथा वस्त्रों से सत्कार किया ।।२२।।

सुबोधिनी—एतावत्कालं त्वनलंकृतः नियमे न्यस्तभूषणत्वात् । **अहते** नूतने । **क्षौमे** 'सौम्यं वै क्षौमम्' इति सोमेन वरदत्ते इव परिधाय स्वलंकृतो जातः । ततोऽन्यानपि ऋत्विगादीन् स्वसमानवेषान् कृतवान् ।।२२।।

व्याख्यार्थ—इतना समय अर्थात् यज्ञ की दीक्षा लेकर जब तक यज्ञान्त स्नान कर्म पूर्ण किया तब तक राजा ने अलंकार आदि धारण करना शास्त्राज्ञानुसार छोड़ दिये थे। इसलिए राजा अलकार रहित था। अब यज्ञ का सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाने के अनन्तर राजा ने दो रेशमी वस्त्र पहने और सुन्दर अलंकार धारण किए, रेशमी वस्त्र सौम्य हैं अर्थात् ये वस्त्र चन्द्रमा ने मानो वरदान मे दिए हैं, इसलिए रेशमी वस्त्र पहने है। राजा ने स्वयं कपड़े पहन अलंकार धारण कर अनन्तर ऋत्विज, सभासद आदि को भी अपने समान वस्त्र और अलकारों से अलकृत किया ।।२२।।

श्लोक—**बन्धुज्ञातिनृपान्मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।**
अभीक्ष्णं पूजयामास नारायणपरो नृपः ।।२३।।

श्लोकार्थ—भगवत्परायण राजा ने बान्धवों, सम्बन्धियों, राजाओं, मित्रों, स्नेहियों और अन्यो की बार बार सर्व प्रकार पूजा की ।।२३।।

सुबोधिनी—यथायोग्यं **बन्धुज्ञातिनृपान् मित्रान् सुहृदश्च अन्यांश्च** समागतान् सर्वप्रकारेण पूजायामत्र कालो न नियामकः किंतु पुरुषा एवेति ज्ञापयितुम**भीक्ष्णमि**त्युक्तम् । **पूजयामासेति विधिरुक्तः** न तु लौकिकम् । अनेननास्मिन् प्रकरणे राज्ञः केवलस्य **वैदिकी चेष्टा**, अन्येषां तु लौकिक्येवेति । ननु विहिताः परिच्छिन्ना एव भवन्ति यागाङ्गभूताः **किमिति सर्वानेव** पूजयामासेत्याकाङ्क्षायामाह **नारायणपर** इति । तस्य भगवत्पूजायामेव तात्पर्यं तेन तदात्मकाः सर्वं इति श्रद्धया सर्वपूजनम् । **नृपत्वात्समृद्धिः** ।।२३।।

व्याख्यार्थ—यज्ञ कर्म में आए हुए बान्धव, सम्बन्धी नृपति, मित्र, स्नेही और अन्य इन सबों की सर्व प्रकार से पूजा की इस पूजा में काल नियामक नहीं था, किन्तु पूजा करने वाले नियामक थे। पूजा करने वाले काल का विचार न कर बार २ विधि पूर्वक पूजा करने लगे न कि लौकिक प्रकार से पूजा की, इससे यों बताया है कि राजा के द्वारा जो भी यज्ञ सम्बन्धी कार्य किसी के भी हस्त से हो किन्तु वह विधि पूर्वक ही होता था। 'अन्यों का कार्य भले लौकिक होता हो'।

यज्ञ में विहित यज्ञ के अगभूत थोड़े ही होते है तो फिर राजा ने सर्व की पूजा कैसे की,

इसके उत्तर में कहा है कि 'नारायणपर' नारायण के परायण होने से उसका आशय भगवान् की पूजा करने का था, किन्तु भगवान् परायण होने से उसकी दृष्टि ऐसी थी कि ये सर्व भगवद्रूप हैं अतः श्रद्धा से सबकी पूजा की, राजा होने से पूजा के लिए धनादि की कमी नहीं थी ॥२३॥

आभास—राजपूतानां सर्वेषां शोभामाह सर्वे जना इति ।

आभासार्थ—राजा ने जिनका पूजन किया उनकी शोभा का वर्णन 'सर्वे जनाः' श्लोक में करते है ।

श्लोक—सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्रगुष्णीषकञ्चुकदुकूलमहार्घ्यहाराः ।
नार्यश्च कुण्डलयुगालकवृन्दपुष्टवक्त्रश्रियः कनकमेखलयावि रेजुः ॥२४॥

श्लोकार्थ—सब पुरुष मणियों के कुण्डल, माला, पगड़ी, जामा, रेशमी वस्त्र व अमूल्य हार धारण किये हुए देवताओं के समान देदीप्यमान हो रहे थे । स्त्रियां भी कुण्डल युगल व अलंकारों से सुशोभित मुख हो सुवर्ण की मेखला से शोभायमान लगती थीं ॥२४॥

सुबोधिनी— अन्तर्बहिश्च दोषा निवृत्ताः । इच्छापूरणादाभरणैश्च कान्त्या **सुररुचो** जाताः । तत्र हेतुभूतं विशेषणं **मणिकुण्डलेति** । मणियुक्ते कुण्डले स्रजः **उष्णीषं कञ्चुकं दुकूलं** मध्यबन्धनं **महार्घ्यश्च हारो** येषाम् । **नार्यश्च** तथालंकृताः । चकारेण तद्धर्मोक्तिः । विशेषमाह **कुण्डलयुगेनालकवृन्देन च पुष्टा वक्त्रश्रीर्यासाम्** । शुतरां कनक**मेखलया विरेजुः** । एतदन्ता लौकिकी शोभा ॥२४॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार यज्ञ के सर्व कर्म के पूर्ण हो जाने से भीतर के और बाहर के दोष दूर हुए, इच्छा के पूर्ण होने से और आभरण धारण करने की कान्ति से देव समान तेजस्वी देखने में आए ऐसा देखने में हेतु मणियों से जड़ित कुण्डल मालाएं, पगड़ी, कञ्चुक[1], रेशमी[2] वस्त्र अमूल्य हार धारण किए हुए पुरुष शोभते थे ।

इसी प्रकार 'च' से प्रकट होता है कि स्त्रियाँ भी श्रृङ्गार से सुसज्जित कुण्डलों की जोड़ी से तथा लहकती हुई केशों की लटों से जिनके मुखों की शोभा बढ रही है ऐसी स्त्रियाँ सोने की मेखला (कँदोरे) से विशेष शोभित हो रहीं थी, यहाँ तक लौकिक शोभा कही है ॥२४॥

आभास—अथ भिन्नप्रक्रमेण समागतानां निर्गमनमाह अथर्त्विज इति ।

आभासार्थ—अब भिन्न क्रम से आए हुए सभासदों के जाने का प्रकार 'अथर्त्विजो' श्लोक में कहते है ।

१—जामा २—गले में पहनने का वस्त्र दुपट्टा अथवा कमर में बाँधने का वस्त्र ।

श्लोक—**अर्थात्विजो महाशालाः सदस्या ब्रह्मवादिनः ।**
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागताः ।।२५।।

श्लोकार्थ—हे नृप ! अनन्तर श्रोत्रिय ऋत्विज और ब्रह्मवादी सदस्य एवं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा भूपगण आये थे । (वे तथा और २६वें श्लोक में दिये गये हैं ।)

सुबोधिनी—अग्रे वक्ष्यमानभङ्गः प्रत्यापत्तिपर्यन्तं मध्ये केनाप्यंशेन न्यूनतायां तेनैव दुष्टानां इति संतोष न मात्सर्य पुष्टं भवेदिति प्रत्यापत्तिपर्यन्तं वर्णना **महाशालाः** श्रोत्रियाः । तेषामेवार्त्विज्यम् **सदस्यास्तु ब्रह्मवादिनः** । त एव सर्वज्ञाः । एवमुभये अपेक्षितधर्मयुक्ता निरूपिताः । अन्ये विप्रादयः । तेषामागमनमेव प्रयोजकं तदाह **ये समागता** इति ।।२५।।

व्याख्यार्थ—आगे दुर्योधन के मान के नाश का वर्णन करना है अतः सब लौट कर जावे वहाँ तक वर्णन किया है । कारण कि, यज्ञ के बीच में किसी भी अंश से न्युनता (कमी) हो तो दुष्टों को सन्तोष होवे यों न होवे तो मत्सरता सबल न होवे इसलिए ही लौट जाने तक वर्णन है 'महाशाला' पद से यह बताया है कि वहाँ जो ऋत्विग् हुवे थे वे सब श्रोत्रिय विद्वान थे, जो सभासद तो ब्रह्मवादी होने से सर्वज्ञ थे, इस प्रकार दोनों ऋत्विज और सभासदों में जो धर्म चाहिए वे धर्म उनमें विद्यमान (मौजूद) थे दूसरे ब्राह्मण आदि जो भी आए थे, उनका आना आवश्यक था, इसलिए कहा है कि 'ये समागताः', जो आये, पद से उनकी आवश्यकता कही है ।।२५।।

आभास—तदा देवादीनामपि ।

आभासार्थ—इसी प्रकार से जो देव आदि आए उनके लौटने का प्रकार 'देवर्षि' श्लोक से कहते है ।

श्लोक—**देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः ।**
पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ।।२६।।

श्लोकार्थ—देव, ऋषि, पितर, प्राणियों और सेवकों सहित लोकपाल राजा से सत्कार पाकर उससे (राजा से) आज्ञा लेकर अपने-अपने धाम को गये ।।२६।।

सुबोधिनी—ते सर्वे पूजिताः सन्तः मुदा **स्वधामानि ययुः** । नृपेति संबोधनं समाप्तौ संतोषाय ।।२६।।

व्याख्यार्थ—वे सब (२५-२६ श्लोक में कहे हुए) पूजे हुए प्रेम से अपने २ धाम को लौट गए, नृप ! यह सम्बोधन समाप्ति में सन्तोष के लिए दिया है ।।२६।।

आभास—तेषां मानसं कायिकं चोक्त्वा वाचनिकमाह **हरिदासस्येति** ।

आभासार्थ—उनका मानस और कायिक सत्कार कह कर अब 'हरिदासस्य' श्लोक में वाणी से किये गये सत्कार का वर्णन करते हैं।

श्लोक—हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।
नैवातृप्यन्प्रशंसन्तः पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा ।।२७।।

श्लोकार्थ—जिस तरह मनुष्य अमृत पीते हुए तृप्त नहीं होता है, वैसे ही हरि के दास, राजर्षि के राजसूय यज्ञ की विशेष प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं हुए ।।२७।।

सुबोधिनी—राजर्षेः स्वधर्मनिरतस्य हरिदासस्य च प्रमाणप्रमेयबलपुष्टस्य । तत्रापि **राजसूयस्य** तत्रापि **महोदयम्**, अत एव **प्रशंसन्तः** स्वयमेव **नैवातृप्यन्** । अन्येच्छया वर्णनायां तदिच्छापूर्तौ निवृत्तिरपि भवेत् । इदं तु स्वार्थमेवेति निरन्तरं प्रशंसा । प्रतिक्षणं तु रुच्याधिक्याय दृष्टान्तमाह **मर्त्यो** मरणधर्मा, **अमृतं** स्वादिष्ठं मरणनिवर्तकं चेति । अनुभवपर्यवसानाभ्यामुत्कृष्टान्न निवर्तते । अत्रापि तदासक्त्या वर्णनायां 'यो यच्छ्रद्धः' इति न्यायेन राजतुल्यत्वसंपादकत्वादनिवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः ।।२७।।

व्याख्यार्थ—राजा युधिष्ठिर अपने राजधर्म में आसक्त था । अतः प्रमाण बल से पुष्ट था । जिससे राजर्षि हुआ इसी प्रकार भगवान् के दास होने से भक्ति में आसक्त था, जिससे हरिदास कहलाए अतः प्रमेय बल से पुष्ट था, यों होते हुए भी महान् यज्ञ राजसूय यज्ञ किया जिससे भी राजा का महान् उदय हुआ अतः एवं प्रशंसा करते हुए वे तृप्त ही न हुए यदि दूसरे की इच्छा से किसी की स्तुति की जाती है, तो उसकी इच्छा पूर्ति होने पर स्तुति बन्द की जाती है । यह तो अपने मनः सन्तोष के लिए की जाती है इसलिए निरन्तर प्रशंसा कर रहे थे तृप्ति होती ही नहीं, ज्यों २ स्तुति करते त्यों त्यों प्रतिक्षण आनन्द आ रहा था जिससे स्तुति के लिए रुचि बढती जाती थी, जिसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मनुष्य मरण को मिटाने वाले स्वादिष्ट अमृत को पीते हुए तृप्त नहीं होता है वैसे ये भी तृप्त नहीं हुए, अनुभव करते समय अर्थात् पीते समय स्वादिष्ट लगने से तृप्ति न होने से छोड़ा नहीं जाता है और पीने के बाद मरण मिटाने वाला होने से त्यागा नहीं जाता है इसी प्रकार यहाँ भी प्रशंसा में आसक्ति होने से वर्णन करते ही रहते हैं क्योंकि 'योयच्छ्रद्धः सएवसः' इस प्रमाणानुसार वे समझते थे कि यह प्रशंसा हमको राजा के समान बना देगी, इसलिए प्रशंसा का त्याग न करना यह उचित ही है ।।२७।।

आभास—लौकिकं बन्धुषु विशेषतो वक्तव्यमिति साधारणतुल्यत्वे न शोभेति साधारणेषु गतेषु बन्धून् स्थापयामासेत्याह **तत** इति ।

आभासार्थ—अपने बान्धवों से विशेष व्यवहार करना चाहिए साधारणों जैसा व्यवहार करने से शोभा नहीं अतः साधारणों को विदा कर बान्धवों को रोक रखा जिसका वर्णन 'ततो युधिष्ठिरो' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्संबन्धिबान्धवान् ।
प्रेमणा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातरः ।।२८।।

श्लोकार्थ— बान्धवों को रवाना करने से दुःखी राजा युधिष्ठिर ने, अपने मित्र, सम्बन्धी और बान्धवों को तथा श्रीकृष्ण को जाने से रोक अपने पास प्रेम पूर्वक ठहराया ॥२८॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छैवैषा यतोऽनर्थोऽग्रे भविष्यतीति । **सुहृदो** मित्राणि । **संबन्धिनो** विवाह्याः । **बान्धवा** गोत्रिणः । **प्रेम्णेति** यागसमये बान्धवाः परिचर्यामेव व्यापृताः न सुखेन भोगं प्राप्तवन्तः । अतः संमर्दे निवृत्ते सहभोगेच्छया स्नेहेन तेषां स्थापनमित्यर्थः । **कृष्णं** चेति विशेषार्थमुक्तम् । बहुकालं स्थापनं सूचयति त्यागकातर इति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—आगे अनर्थ होगा क्योंकि भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी 'सुहृद मित्र सम्बन्धिनः' जिनसे कन्या लेन देन का सम्बन्ध हो सके वे 'बान्धवाः' गोत्र वाले इनको अपने यहाँ ठहराया, 'प्रेम्णा' शब्द कहने का भावार्थ यह है कि यज्ञ के समय अपने बान्धवादि सब सेवा कार्य में लगे हुए थे, जिससे वे सुख पूर्वक भोजनादि न करपाये थे । अतः सब कोलाहल के शान्त हो जाने से अब स्नेह से साथ बैठ कर भोजनादि करेंगे इसलिए प्रेम पूर्वक इनको जाने से रोका था और श्रीकृष्ण को पृथक् २ कहा जिसमें भी विशेष प्रयोजन था, छुट्टी देने से राजा को संताप होता था, इस वाक्य से समझा जाता है कि राजा ने इनको बहुत समय अपने पास ठहराया था ॥२८॥

आभास—सर्वे बान्धवा अविशेषात्तत्र स्थिताः, कार्यान्तरमप्यस्तीति कदाचिदस्थितिमाशङ्क्याह **भगवानेवेति** ।

आभासार्थ—सब बन्धुगण तो विशेष कार्य न होने से वहाँ ठहर गए, भगवान् को तो अन्य कार्य भी है उनकी कदाचित् स्थिति न हो सके इस शङ्का का उत्तर 'भगवानेव' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**भगवानेव तत्राङ्ग न्यवात्सीत्तत्प्रियंकरः ।**
प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥२९॥

श्लोकार्थ— हे महाराज ! भगवान् यादव वीरों को और साम्ब आदि को कुशस्थली (द्वारका) भेजकर, आप ही उसका (युधिष्ठिर का) प्रिय करने वाले होने से, वहाँ ही **बिराजे** ॥२९॥

सुबोधिनी—अङ्गेत्यप्रतारेण **तत्रैवावात्सी**दिति । **एव**कारेण **सभार्यस्य** वसतिर्निरूपिता । कार्यान्तरार्थं स्वप्रतिनिधितया अन्यान् प्रस्थापितवानित्याह **प्रस्थाप्येति** । **भगवति** विद्यमाने रक्षा विलासश्च द्वारकायां भवेत् तत्रैकेन द्वयं न सिद्ध्यतीति रक्षार्थं **यदुवीरान्** विलासार्थं **साम्बादींश्च** प्रस्थापितवान् । तच्च स्वभावतः सभयं स्थानमाह **कुशस्थलीमिति** । कुशो दैत्य इति तस्यां भूमौ दैत्योपद्रवसंभवः ॥२९

व्याख्यार्थ—हे अंग (राजन्) यह सम्बोधन देकर शुकदेवजी ने राजा को सूचित किया है कि मैं तुमसे वचना नहीं करता हूं अर्थात् जो वास्तविक है वही कहता हूं, वहाँ ही रहे, ही शब्द से यह

कहा कि भगवान् अकेले नहीं रहे किन्तु स्त्री सहित रहे, अन्य कार्यों की पूर्ति के लिए अपने प्रतिनिधि रूप से दूसरों को भेज दिया। भगवान् की उपस्थिति में रक्षा और विलास दोनों द्वारका में हो सके उनकी अनुपस्थिति में एक से दो कार्य न हो सकेंगे अतः रक्षा के लिए यदुवीर और विलासार्थ साम्बादि दोनों को भेजा। वहाँ ऐसा क्या है ? जो रक्षा आवश्यक होने से यदुवीरों को भेजा जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह स्थान स्वभाव में भय का है, क्योंकि यहाँ कुश दैत्य होने से सदैव उसका उपद्रव होता रहता है ॥२६॥

आभास—यागपूर्वं मध्ये अन्ते च यावदभीप्सितं तावद्राज्ञो जातमिति राजकृत्यमुपसंहरति इत्थं राजेति।

आभासार्थ—यज्ञ आदि में, मध्य में और अन्त में जो चाहता था वह राजा को प्राप्त हुआ, इसलिए 'इत्थं राजा' श्लोक में राजा के कार्य का उपसहार करते है।

श्लोक—इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम्।
सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥३०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की सहायता से मनोरथ रूप महान् सदुस्तर समुद्र को पार कर निश्चिन्त हुआ ॥३०॥

सुबोधिनी—राजेति स्वधर्मवत्त्वम्। **धर्मसुत** इति बीजशुद्धिः। **मनोरथ एव महानर्णवः** महत्त्वात् प्रतिबन्धकनक्रसद्भावाच्च। अत एव सुदुस्तरमन्यैः स्वस्यापि। परं **कृष्णेन समुत्तीर्य** गतमानसज्वर **आसीत्**। यथा वैष्णवधर्मैः ज्वरादिकं समुद्रे निक्षिप्य उत्तीर्णो विज्वरो भवतीत्यर्थः।३०।

व्याख्यार्थ—'राजा' कहने का यह भाव प्रकट किया है कि अपने धर्म का पूर्ण रीति से पालन करता था। 'धर्मसुतः' धर्मराज का पुत्र होने से उसके बीज की शुद्धि नहीं थी। मनोरथ ही महान् समुद्र था। महान् समुद्र कहने का भाव यह है कि जैसे समुद्र में अनेक मगरमच्छ आदि दुःख देने वाले रहते हैं वैसे ही मनोरथों में भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्धक (जरासंध आदि) थे। इस कारण से ही उनसे अपनी सामर्थ्य से अथवा भ्राता आदि के सामर्थ्य से पार होना अति कठिन था। किन्तु श्रीकृष्ण की सहायता से उन प्रतिबन्धों को नष्ट कर अपने मनोरथ पूर्ण किये जिससे निश्चिन्त हुआ। जैसे वैष्णव धर्म को पालन करने से मनुष्य चिन्ता आदि को समुद्र में फेंक कर निश्चिन्त हो जाता है, वैसे युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण के आश्रय से निश्चिन्त हुआ ॥३०॥

आभास—अतः परं भूभारहरणाख्यं भगवच्चरित्रं वक्तुं दुर्योधनमानभङ्गमाह एकदेति।

आभासार्थ—इसके अनन्तर भूमि के भार को हरण करने वाला भगवान् का चरित्र वर्णन करने के लिए 'एकदा' श्लोक में दुर्योधन के मानभंग को कहते हैं।

श्लोक—एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।
अतप्यद्राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ॥३१॥

श्लोकार्थ—एक दिन श्रीकृष्ण में आसक्त चित्त वाले उस युधिष्ठिर के अन्तःपुर मे समृद्धि और राजसूय की महत्ता देख, दुर्योधन दुःखी होने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी— दुर्योधनादिष्वपि भीष्मादयो ज्येष्ठा गृहे गताः । यैर्यागे कर्माणि कृतानि त एव स्थिताः । पूर्वं यागावेशात् न मात्सर्योत्पत्तिः । पश्चात्तु सहजदोषाविर्भावात् मात्सर्यं जातमित्याह **तस्यान्तःपुरे श्रियं** स्त्रीरूपां धनरूपां च **दृष्ट्वा** वैदिकोत्कर्षं राजसूयं च **दृष्ट्वा अच्युतात्मन** इति भक्त्यतिशयं च **दृष्ट्वा** मार्गत्रयसंपत्तौ स्वस्यापि युधिष्ठिरतुल्यत्वं मन्यमानः त्रितयमध्ये एकस्याप्यभावा**दतप्यत्** ॥३१॥

व्याख्यार्थ—कौरवों में बड़े भीष्म आदि तो घर गए, जिन्होंने यज्ञ में कार्य किए थे, वे ही ठहरे थे. उनमें दुर्योधन भी था अतः वह ठहर गया था, दुर्योधन का यज्ञ के कार्य में लगे होने से और उसके (यज्ञ के) ही आवेश से पहले मात्सर्य उत्पन्न न हुआ । यज्ञ कार्य की समाप्ति के बाद स्वाभाविक दोष उद्भव होने से, मत्सरता पैदा हुई, क्यों उत्पन्न हुई ? वह बताते है कि उसके (राजा युधिष्ठिर के) अन्तःपुर में स्त्री रूप और धन रूप समृद्धि देख तथा राजसूय यज्ञ से वैदिक उत्कर्ष भी देख दुर्योधन सहन न कर सका जिससे दुःखी होने लगा, विशेष में राजा की श्रीकृष्ण में ही आत्मा लगी होने से उसका भक्तोत्तमत्व जान कर भी दुःखी हुआ, दुर्योधन यों देख दुःखी क्यों हुआ ? जिसको कहते हैं कि दुर्योधन अपने को युधिष्ठिर के समान समझता था किन्तु ऊपर कही हुई तीन सम्पत्ति में से एक भी अपने पास न होने से शोक में तपने लगा ॥३१॥

आभास—तत्र धनकृतां श्रियं वर्णयति **यस्मिन्निति** ।

आभासार्थ—वहाँ जो धन की समृद्धि देखी उसका वर्णन 'यस्मिन्नरेन्द्र' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—यस्मिन्नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मीर्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपक्लृप्ताः ।
ताभिः पतिं द्रुपदराजसुतोपतस्थे यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥३२॥

श्लोकार्थ—महाराजा युधिष्ठिर के अन्तःपुर में भगवान् की बनाई हुई, राजाओं की उत्तम दैत्यों की तथा उत्तम देवों की अनेक प्रकार की सम्पत्तियां शोभा दे रहीं थीं । उन सम्पदाओं से द्रौपदी अपने पतियों की सेवा करती थी, उसे देख द्रौपदी में आसक्त चित्त वाले दुर्योधन का मन डोल गया और जलने लगा ॥३२॥

सुबोधिनी—**नरेन्द्रा** मनुष्यराजानः तेषां संपत्तिर्मानुषी । **दितिजेन्द्रा** दैत्यश्रेष्ठाः तेषां संपत्तिरासुरी मायाप्रचुरा । **सुरेन्द्रा** देवश्रेष्ठाः तेषां संपत्तिरलौकिकी विचित्रा । ताः सर्वा अपि नानाविधाः ताः सर्वा एव राज्ञोन्तःपुरे **विभान्ति** । **किलेति** प्रमाणम् । ननु प्रतिनियताः कथं मनुष्ये

सर्वा जाता इत्याशङ्क्याह विश्वसृजोपक्लृप्ता इति भगवता नूतना रचिताः। तेन तत्तदपेक्षयाप्युत्कर्ष उक्तः। ताभिः समृद्धिभिः सह **स्वपतिं द्रुपदराजसुता उपतस्थे**। ततः किमत आह **यस्यां विषक्तहृदय** इति। सर्वोत्कर्षोयमर्थः यथा कथंचित् प्राप्तः यथा पञ्चभिर्भुज्यते तथास्माभिरपि भोक्तव्यं इति तस्येच्छा, अतस्तस्यां **विषक्तहृदयः कुरुराट्** तदतिशयमर्त्र्यविषययुक्तः **अतप्यत्** परमं कामसन्तापं प्राप्तवान् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—'नरेन्द्राः' मानवों के राजा उनकी सम्पत्ति मानुषी सम्पत्ति कही जाती है। 'दितिजेन्द्राः' देत्यों में उत्तम दैत्य राज्यों की सम्पदा आसुरी है वह माया प्रचुर होती है। 'सुरेन्द्र' देवताओं में श्रेष्ठ उनकी सम्पत्ति अलौकिकी तथा विचित्र होती है। वे सब ही अनेक भाँति की राजा के अन्तःपुर में शोभा दे रही थी। 'किल' पद से बताया है कि यों कहा हुआ प्रमाण है, अर्थात् सत्य है ऊपर कही हुई सम्पदायें जिनकी कही हुई हैं उनसे मनुष्य के पास कैसे आई? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'विश्वसृजोपक्लृप्ता' ये जो सम्पदायें दुर्योधन ने देखी वे सब विश्व को बनाने वाले भगवान् ने स्वयं बनाई है, यों कहने से यह समझाया है कि राजा, उत्तम दैत्य और उत्तम देवों की सम्पत्ति से भी ये उत्कृष्ठ हैं। उन समृद्धियों से द्रुपदराज की कन्या द्रोपदी अपने पति की सेवा करती थी। यों होने से क्या? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसी समृद्धि शोभा और द्रोपदी की पति सेवा आदि देख दुर्योधन का मन उसमें (द्रोपदी में) आसक्त हो गया और यों मनमें विचारने लगा कि जैसे द्रोपदी का भोग पांच कर रहे हैं, वैसा मैं करूं, क्योंकि मैं भी कुरुराज हूँ मेरे पास भी उत्तम सर्व पदार्थ हैं इस प्रकार काम सन्तप्त होने से बहुत दुःखी हुआ ॥३२॥

आभास—एवमाद्यन्तौ दोषौ वर्णितौ, मोहं वर्णयितुं भगवत्संबन्धिलीला तत्र वर्णयति **यस्मिन्निति**।

आभासार्थ—इस प्रकार आदि और अन्त वाले दो दोष वर्णन किए, अब मोह का वर्णन 'यस्मिस्तदा' श्लोक में करने के लिए भगवत्सम्बन्धी लीला कहते है।

श्लोक—**यस्मिस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिशोभम्।**
मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं श्रीमन्मुखं चपलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जहां उस समय नितंब के भार से धीरे धीरे झमकते झांझरों से शोभित चरणों वाली सुन्दर स्तनों की केशर से लाल हुवे हारों को धारण की हुई सुन्दर मुखवाली, चञ्चल कुण्डल और केश पास युक्त मधुपति (भगवान्) की सहस्र (हजार) रानियां देख दुर्योधन दुःखी हुआ ॥३३॥

सुबोधिनी—**तदा** तद्दर्शनसमये **मधुपतेर्भगवतः** व्यामोहकस्य कोटिकन्दर्परूपस्य **महिषीसहस्रं** वीक्ष्य इति पूर्वेणैव संबन्धः। भगवतोऽपि कामपूरकत्वेन बाहुल्याच्च मोहकत्वं निरूपितम्। मोहककरणमिव विशेषणमाह **श्रोणीभरेणेति**। नितम्बभरेण **शनकैः क्वणन्तावङ्घ्री** नूपुरादिभिः शोभा यस्य, नूपुरदर्शनं तच्छब्दो वा व्यामोहक इत्यर्थः। **मध्ये सुचारु** यत् कुचकुङ्कुमं अनेन

प्रकारविशेषेण समर्पितं कुचकुङ्कुमं निरूपितम् । मरिकापत्रमध्ये कुङ्कुमं निरूपितमिति अति-सूक्ष्मवस्त्रव्यवधानं रसजनकमेव न दृष्टिप्रतिबन्धकं तेन मोहार्थं वर्णनमुपपद्यते । तेन यः **शोणो** हारः कमलपत्राणीव तन्मध्ये **श्रीमन्मुखं** कार्यविशेभावार्थं वा **चपलकुण्डलकुन्तलैः आढ्यं** । **मध्ये सुचार्विति** भिन्नं वा, प्रान्तस्त्रिय अपेक्षयापि **मध्य**-स्त्रीणां रुक्मिण्यादीनामत्युत्कृष्टत्वात् ।।३३।।

व्याख्यार्थ— उस समय, अर्थात् जब द्रोपदी को देखा उस समय कोटि कन्दर्परूप मोहित करने वाले भगवान् की सहस्र (हजार) रानियाँ देख (दुर्योधन दुःखी हुआ) जैसे रानियां मोह उत्पन्न करने वाली है वैसे ही भगवान् भी मोहक है । क्योंकि एक तो आप काम पूरक होने से मोहक हैं और अनेक स्त्रियोंवाले होने से भी आप में मोहता होती है । अब भगवान् की रानियाँ को मोह होने के कारण बताते है—१ नितम्ब के भार से धीरे धीरे झणकार करती हुई झरोखों से शोभित चरणों वाली थीं, झांझर का दर्शन और उसकी ध्वनि मोह करने वाली है । छाती पर अति उत्तम जो स्तनों पर विशेष प्रकार से चर्चित चन्दन था उसका निरूपण किया, वह कुङ्कुम मकरिका[१] के पत्र के मध्य में था । अर्थात् अति सुक्ष्म वस्त्र होने से उसकी आड़ रस उत्पन्न करती थी, क्यों कि वह आड़ देखने में रुकावट नहीं करती थी, इससे यह वर्णन मोहित करने के लिए ही किया है । उस कुङ्कुम से यों दिखता था कि यह लाल हुआ हार मानों कमल पत्रों का बना हुआ है उसके मध्य में रानियों के मुख ऐसी शोभा दे रहे थे, काम में संलग्न होने से अथवा भावार्थ चलायमान कुण्डल और केशों वाली वे रानियाँ थीं ।

अथवा 'मध्ये सुचारु' पद को प्रथक् समझ कर यों अर्थ करना चाहिये कि प्रान्त (किनारे) पर चलने वाली स्त्रियों के मध्य में जो स्त्रियाँ रुक्मणी आदि थीं वे अति उत्कृष्ट थी ।।३३।।

आभास—एवं स्त्रीणां मोहहेतुत्वमुक्त्वा नरदेवकृतमोहहेतुं संपाद्य दैत्यकृतं स्थानतो मोहहेतुमाह **सभायामिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्त्रियों को मोह का कारण कह कर, राजा का किया मोह का हेतु सिद्ध कर, दैत्य ने स्थान से किया हुआ मोह का कारण 'सभायां' श्लोक से वर्णन करते है ।

श्लोक—**सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् ।**
वृतोनुगैर्बन्धुभिश्च कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ।।३४।।

श्लोकार्थ—किसी समय चक्रवर्ती धर्म-पुत्र युधिष्ठिर मय की बनाई हुई सभा में अपने छोटे भ्राताओं की सेवा के और अपने नेत्र श्रीकृष्ण के साथ (बैठे) थे ।।३४।।

सुबोधिनी—**मयेन** विशेषत एतदर्थमेव क्लृप्ता सभा । **क्वापि** कालस्यापि तथारूपे । **धर्मसुतेः** अर्थादधर्मभङ्गं करिष्यतीति सूचितम् । **अधिरा-ड्िति** सामर्थ्यम् । वृतोनुगैर्बन्धुभिश्चेति सहाय क्रियामयः । ज्ञानक्रियारूपं सहायमाह **कृष्णेनापि स्वचक्षुषेति** । अनेन दुर्योधनापेक्षयापि भगवतः सन्मानना भगवत्कृतमेव प्रमाणमिति च सूचितम् ।।३४।।

१—काम दानी ताल के पत्रों का वस्त्र ।

व्याख्यार्थ—मय ने यह सभा विशेषतया (खास तौर से) इस वास्ते बनाई थी, किसी समय यों कहने का भावार्थ यह है कि बनाने के समय काल का रूप भी वैसा ही था। युधिष्ठिर को धर्म मुत विशेषण देकर यह सूचित किया है कि वह अधर्म का नाश करेंगे 'अधिराट' चक्रवर्ती कह कर बताया है कि इसमें अधर्म को नाश करने का सामर्थ्य है। सेवक और बान्धव साथ थे, जिससे बताया कि क्रियामय सहायक साथ में थे। अब अपना चक्षु रूप श्रीकृष्ण साथ थे, यों कहने से सिद्ध किया है कि युधिष्ठिर को इससे ज्ञान और क्रिया रूप दोनों सहायता श्रीकृष्ण से प्राप्त थी, इससे यह सूचित किया है कि, दुर्योधन से भी, भगवान् का किया हुआ सन्मान विशेष था, जिससे भगवान् जो करे वही प्रमाण है ॥३४॥

आभास—तस्य दुर्योधनप्रदर्शनार्थं विशेषतः सिंहासनस्थितिमाह **आसीन** इति।

आभासार्थ— दुर्योधन को दिखाने के लिए 'आसीनः' श्लोक से युधिष्ठिर की विशेष प्रकार से सिंहासन स्थिति का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**आसीनः काञ्चने साक्षादासने भगवानिव।**
पारमेष्ठ्यश्रिया पुष्टः स्तुयमानश्च बन्धुभिः ॥३५॥

श्लोकार्थ—चक्रवर्ती की सम्पत्ति से पुष्ट और बान्धव जिसकी स्तुति कर रहे हैं वैसा महाराजा युधिष्ठिर सुवर्ण के बने हुए साक्षात् आसान पर भगवान् की तरह बैठे थे ॥३५॥

सुबोधिनी—सुवर्णसिंहासने सर्वोत्कर्ष प्राप्य भगवानिव आसीनो जातः, साक्षादासन इति। आसनशक्तिस्तत्रैव स्थापिता। यागफलरूपपारमेष्ठ्यश्रियापि पुष्टः। बन्धुभिः स्तूयमान इति मानोन्नतिः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—सबसे उत्कृष्टता प्राप्त कर, भगवान् की तरह सोने के बने हुए सिंहासन पर बैठ गए, 'साक्षात् आसन' कहने का भाव यह है कि भगवान् ने आसन की आधिदैविकी शक्ति इसमें ही स्थापित की है यज्ञ का फल, जो चक्रवर्ती की श्री है, उससे पुष्ट था, बान्धव स्तुति कर रहे थे, इन विशेषणों से सिद्ध है कि महाराजा युधिष्ठिर का सबसे विशेष मान हुआ है ॥३५॥

आभास—एवंविधे समये दुर्योधनः समागत इत्याह **तत्रेति**।

आभासार्थ—'तत्र दुर्योधनो' श्लोक में कहते हैं कि उस समय वहाँ दुर्योधन आया।

श्लोक—**तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप।**
किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिपन्रुषा ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे नृप! भ्राताओं से घिरा हुआ अभिमानी दुर्योधन, मुकुट और माला धारण किए खड्ग हाथ में लेकर, क्रोध से अपमान करता हुआ सभा में प्रविष्ट हुआ ॥३५॥

सुबोधिनी—सोऽभिमानी मां सेवकं कर्तुं अक्षपीडां वा जनयितुं स्थापयतीति भ्रातृभिः सहितः असंमतं युद्धं वा करिष्यामीति वा निश्चित्य क्षिपन्नितस्ततः सर्वान् । किरीटमाली भूत्वा असिहस्तः प्रायेण कंचिन्मारयितुमिव न्यविशत । रुषेति लौकिकन्यायेनापि तस्यादर्शनहेतुरुक्तः ।।३६।।

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर की समृद्धि आदि देख कर दुर्योधन के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह मुझे सेवक बनाने के लिए वा इन्द्रियों को पीड़ा देने के लिए यहाँ ठहरा रहा है, इस प्रकार विचार होने से भ्राताओं के साथ यह निश्चय कर आया कि युधिष्ठिर की संमति न मिले तो भी उससे युद्ध करूंगा, इसी कारण जहाँ तहाँ सबका अपमान करता हुआ, मुकुट और माला धारण कर मानो प्रायः किसी को मारने के लिए हाथ में तलवार ले भीतर सभा में आया, उस समय क्रोध में पूर्ण था जिससे लौकिक न्यायानुसार वह देख नहीं सकता था क्योंकि क्रोध से मनुष्य की आँखों पर अन्धकार छा जाता है जिससे उस समय देख नहीं सकता है ।।३६।।

आभास—ततस्तत्र पदार्थेषु भ्रमो जात इत्याह **स्थलेऽभ्यगृह्णादिति** ।

आभासार्थ—रोषान्ध होने से उसको सभा के पदार्थों में भ्रम उत्पन्न हुआ यह स्थलेऽभ्यगृह्णा-दित्य श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**स्थलेऽभ्यगृह्णाद्वस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ।**
जले च स्थलवद्भ्रान्त्या मयमायाविमोहितः ।।३७।।

श्लोकार्थ- वहाँ वह क्रोधी 'मय' की माया से, ऐसा मोहित हो गया, कि जहाँ स्थल था वहाँ जल समझ कर वस्त्रों को समेटने लगा और जहाँ जल था वहाँ स्थल समझ कर जल में गिर पड़ा ।

सुबोधिनी—काचादिभिः कृत्वा तथा कृतवान् ततः स्थल एवं जलबुद्ध्या वस्त्रान्तं स्वभावाद-भ्यगृह्णात् । तत्रहेतुः जलं मत्वेति । न केवलं वस्त्रग्रहणमात्रं किन्त्वेतन्निम्नस्थानमिति जले प्रविशन्निव स्थल एवापतत् । तत्र जले च स्थलबुद्ध्या सवस्त्र एवं प्रविष्टः निम्नत्वात् पतितः । तत्र हेतुः स्थल-वाद्भ्रान्त्येति । यथा स्थले पूर्वं जलभ्रमो जातः । एवमत्रापि स्थले जात इत्यर्थः । तत्राप्रत्यास्येय-हेतुमाह **मयमायाविमोहित** इति । यो हि दुष्टः साभिमानः क्रोधेन तं देशं प्रविशति तस्य भ्रमो भवतीति काचिन्माया देवतारूपा तस्यां सभायां **मयेन** स्थापिता सा तथैव विरुद्धं भ्रामयतीति **मायया विमोहितः** ।।३७।।

व्याख्यार्थ— मय ने वहाँ सभा काँच की धातु से ऐसी बनाई थी जहाँ जल में थल देखने में आवे और थल हो वहाँ जल की भ्रान्ति हो । दुर्योधन क्रोध में तो था ही, इससे भी जहाँ स्थल था वहाँ जल समझ कर अपने वस्त्रों के पल्लों को ऊपर इसलिए समेटने लगा कि जल में भीग न जाय इतना ही नहीं किन्तु उस स्थान को नीचा स्थान समझ कर जैसे मनुष्य जल में प्रवेश करता है उसी तरह प्रवेश करने से स्थल पर भी गिर पड़ा । इसी प्रकार, जल को स्थल समझ वहाँ जाने लगा तो वह नीचा स्थान और जल मय होने से वस्त्र सहित उसमें भी गिर पड़ा । क्रोधान्ध होने से भी

विशेष भ्रम उत्पन्न होने से स्थल में जल और जल में स्थल समझने लगा। मय की माया से भी विमोहित हुवा, जो दुष्ट अभिमानी होता है एवं क्रोध से उस देश में प्रवेश करता है उसको भ्रम ही होता है कोई माया जो देवता रूप होती है, मय ने उस सभा मे वह माया स्थापित की थी, जिससे माया से मोहित को पदार्थ विरुद्ध देखने में आते थे ।।३७।।

आभास—ततो यज्ञातं तदाह जहासेति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ वह 'जहास' श्लोक मे कहते है।

श्लोक—**जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे ।**
निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ।।३८।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जल में थल, थल में जल के भ्रम ने जो दुर्योधन की दशा हुई उसको देख भीमसेन स्त्रियां और दूसरे भूपति हँमने लगे, यद्यपि युधिष्ठिर ने बहुत रोका था किन्तु श्रीकृष्ण के अनुमोदन से हँस कर उसकी हँसी कर डाली ।।३८।।

सुबोधिनी—तमन्धमिव दृष्ट्वा भीमस्तत्प्रतिकूलैकस्वभावः। स्त्रियः सर्वा स्वभावतः। **अपरे नृपतयः** ये न दुर्योधनसंबन्धिनः। ननु राजसभाया हास्यमनुचितमिति चेत्। तत्राह **निवार्यमाणा अपीति**। राज्ञा निवार्यमाणा अपि स्वतोऽनुचितस्य का वार्ता। तत्र हेतु **कृष्णानुमोदिता** इति। अन्तःकरणे बहिश्च। एतदर्थमेवैतावानुद्यम इति ।।३८।।

व्याख्यार्थ—उसको अन्धक समान देखकर भीमसेन जो उससे स्वभाव के कारण सहज विरुद्ध है, वह स्वभाव से सब स्त्रियाँ, जो दुर्योधन के सम्बन्धी नहीं थीं वे दूसरे भूपति भी हंसने लगे अर्थात् हंसने से उसकी हँसी की, यदि कहो कि राजसभा में यो किस पर भी हँसना उचित नही हैं, जिसके उत्तर में कहते है कि आपही अनुचित समझ कर नहीं हँसे इसका क्या कहा जाय किन्तु राजा ने रोका कि हँसो मत, तो भी रुके नही क्योंकि श्रीकृष्ण ने दोनों प्रकार हँसी करने का अनुमोदन किया। १-अन्तर्यामी रूप से हँसने की प्रेरणा की। २-बाहर साक्षात् अनुमोदन किया इसलिए ही इतना उद्यम किया गया है ।।३८।।

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **स व्रीडित** इति।

आभासार्थ—इसके बाद जो कुछ हुवा वह 'स व्रीडितो' श्लोक मे कहते है।

श्लोक—**स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ गजाह्वयम् ।**
हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सतामजातशत्रुर्विमना इवाभवत् ।
बभूव तूष्णीं भगवान्भुवो भरं समुज्जिहीर्षुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ।।३९।।

श्लोकार्थ—वह दुर्योधन लज्जित हो मुख नीचा कर क्रोध से जलता हुआ, सभा से निकल कर चुपचाप हस्तिनापुर चला गया। उस समय सत्पुरुषों ने बड़ा हाहाकार शब्द किया और युधिष्ठिर उदास से हो गये। जिनकी दृष्टि से यह सब फिरता रहता है वे श्रीकृष्ण तो शान्त ही बैठे रहे, क्योंकि उनको पृथ्वी का भार उतारना था इसलिए ही यह खेल रचा था ॥३९॥

सुबोधिनी—**अवाग्वदनो** बहिः। ततोऽपमानेन जातो महान् रोषः तेन **ज्वलन्निव** तस्मात् स्थानात् भीमभर्त्सनमकृत्वैव **तूष्णीं निष्क्रम्य** तूष्णीं राजानं गमिष्यामीत्यननुज्ञाप्य गजाह्वयमेव **प्रययौ**। यमुनामुत्तीर्य गत एव। ततो महान् बन्धुरेवं गत इति हाहेति **शब्दः सुमहानभूत्** सोऽपि **सतामेव** भूतानुकम्पिनाम्। **राजा च** अजातशत्रुत्वाद्विमना **अभवत्**। **इवेति** भगवदनुमोदनात्किञ्चिदस्तीति ज्ञातवान्। भगवांस्तु नोपहासं न वा विषादं किमपि कृतवानित्याह **बभूव तूष्णीमिति**। पुनः सन्माननायां भूभारहरणं न भवेत् तन्मारणे वा पाण्डवानां गर्वो न गच्छेदिति। भगवान् सर्वसमस्तूष्णीमास। यतो भुवो भारं जिहीर्षुः। नन्वेवं कृते कथं भूभारहरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह यद्यस्मात् कारणात् भगवान् **दृशा** ज्ञानचक्षुषा ज्ञानेनैव सह **भ्रमति** साध्यसाधनभावः सर्वोऽपि तस्य प्रत्यक्षः इत्यर्थः। **स्मेति** सर्वलोकवेदप्रसिद्धिरत्र प्रमाणं निरूपितम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—दुर्योधन बाहर से नीचे मुख वाला हुआ, पश्चात् अपमान के कारण अत्यन्त क्रोधित हुआ उस क्रोध से जलता हुआ, भीम को बिना धमकाए और राजा से आज्ञा भी न लेकर चुपचाप हस्तिनापुर गया। यमुना पार कर चला गया, अनन्तर यह महान् बंधु इस प्रकार अपमानित हो रुष्ट होकर चला गया, जिससे प्राणी मात्र पर दया करने वाले सत्पुरुषों ने जोर से हाहाकार शब्द किया। राजा तो किसी को शत्रु नही समझता है, इसलिए उदास से हो गये, पूर्ण उदास न हुआ। क्योंकि भगवान् ने यों हास्यादि से इसका अपमान कराया है, इसमें कुछ रहस्य होगा यों मनमें समझा था। भगवान् न हँसे और न विषाद किया इसलिए कहा है कि मौन करके बैठे थे, कारण कि यदि दुर्योधन को बुला कर उसका सम्मान आदि किया जाएगा तो पृथ्वी के भार का हरण नही होगा, यदि उसको मारा जाय तो पाण्डवों का अहङ्कार नष्ट नहीं होगा, अतः भगवान् सर्वसम होने से, शान्त रहे क्योंकि पृथ्वी का भार कैसे उतरेगा ? जिसका उत्तर देते हैं कि जिस कारण से भगवान् ज्ञान दृष्टि से ज्ञान के साथ ही भ्रमण करते हैं इसलिए साध्य और साधन भाव को प्रत्यक्ष आप देख रहे है, कि किस साधन से कौनसा साध्य सिद्ध होगा, वैसे ही करते हैं। 'स्म' अक्षर से यह बताया है कि इसकी लोक और वेद में प्रसिद्धि है यही इसमें प्रमाण है ॥३९॥

आभास—उक्तमुपसंहरति **एतत्तेऽभिहित**मिति।

आभासार्थ—जो अब तक हुआ उसकी 'एतत्तेऽभिहित' श्लोक में समाप्ति करते है।

श्लोक—**एतत्तेऽभिहितं राजन् यत्पृष्टोऽहमिह त्वया।**
दुर्योधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाक्रतौ ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! महान् यज्ञ राजसूय में दुर्योधन का दुष्टपन जो आपने पूछा वह आपको कह दिया ॥४०॥

सुबोधिनी— **राजन्निति** स्नेहान्महत्सम्बोधनम् एतस्य चरित्रस्य निरोधोपयोगित्वं नास्तीति शङ्काव्युदासार्थं **त्वया पृष्टं चेत्** तदोक्तमित्याह **यत्पृष्टोऽहमिह त्वयेति** । त्वया मानभङ्गे हेतुः पृष्टः । तत्र **दुर्योधनस्य दौरात्म्यमेव** मानभङ्गहेतुरित्युत्तरं दौरात्म्यं च निरूपितमभिमानरूपम् । तच्च **राजसूये** समागतस्य कर्तुमनुचितं न हि धर्मार्थमागतोऽभिमानं करोति तत्रापि **महाक्रतौ** निरभिमानतयैव तत्र गन्तुमुचितमित्यर्थः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—हे राजन् ! यह महान् सम्बोधन, श्री शुकदेवजी ने स्नेह के कारण कहा है, यह चरित्र निरोध प्रकरण में उपयोगी नहीं है, तो भी, आपने पूछा है इसलिए कहना पड़ा है। तुमने मानभंग का कारण पूछा वह हेतु दुर्योधन का अभिमान है । जिससे वह दुरात्मा बन गया है। वह अभिमान राजसूय यज्ञ में आने वाले को करना उचित नहीं है । धर्म के लिए आया हुआ अभिमान नहीं करता है उसमें भी यह महान् क्रतु है अतः इसमें तो दीन होकर जाना ही उचित है यों अर्थ है ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे षड्विंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७२वें अध्याय (उत्तरार्ध के २६वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन अवान्तर प्रकरण का पंचम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद

"पांडव सभा, दुर्योधन का क्रोध"

राग बिलावल:—

भक्त काज हरि जित कित सारे ।
यज्ञ राजसू माहिं आपु हरि, सब के पाउँ पखारे ॥
अष्ट नायिका द्रुपद सुता की, करैं तहाँ सेवकाई ।
दुर्जोधन यह रीति देखि कैं, मन मैं रह्यौ खिस्याई ॥
भक्त संग हरि लागे डोलत, भक्त बछल प्रभु भोरे ।
सब विधि काज करत भक्तनि के, गनत नहीं हमको रे ॥
जीतै जीतत भक्त आपनै, हारैं हार विचारत ।
सूरदास प्रभु रीति सदा यह, प्रन जुग जुग प्रतिपारत ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७६वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७३वां अध्याय

उत्तरार्ध २७वां अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—" ६

शाल्व के साथ यादवों का युद्ध

कारिका सात्विकानां निरोधस्तु षड्भिरेवं निरूपितः ।
साधकांशः फलांशस्तु षड्भिरग्रे निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—सात्विकों के निरोध का साधनांश, छः अध्यायों से वर्णन किया है आगे छः अध्यायों से फलांश का निरूपण करते हैं ॥१॥

कारिका—फलं तु त्रिविधं प्रोक्तं शत्रुनाशो यशस्तथा ।
अलौकिकी तथा संपद् द्वाभ्यां द्वाभ्यां निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—फल तीन प्रकार का है १—शत्रु नाश २—यश ३—अलौकिकी सम्पत्ति दो दो अध्यायों से कहते हैं ॥२॥

कारिका बन्धूनां च तथांशस्य मित्रस्यैसि पृथक् पृथक् ।
बन्धूनां कृष्णसद्भावान्नान्यत्रेच्छा ।

कारिकार्थ – बान्धवों को उनके शत्रुओं का नाश और अंश (बलभद्र को) यश तथा मित्र को अलौकिक सम्पत्ति इस प्रकार पृथक् पृथक् फल दो दो अध्यायों में कहा है। बान्धवों का कृष्ण में सद्भाव है इसलिए दूसरी किसी प्रकार की इच्छा नहीं करते हैं।

कारिका—**सहागतस्य त्वंशस्य कीर्त्तिरेवेप्सिता भुवि।**
मित्रस्य लक्ष्मीवैमुख्यात् संपत्तिर्वाञ्छिता क्वचित ॥४॥

कारिकार्थ – साथ में आए हुए अंश को तो पृथ्वी पर यश फैले यही इच्छित है। मित्र के पास लक्ष्मी नहीं है वह कभी[1] उसकी इच्छा करता है ॥४॥

कारिका—**परोक्षे दारदृष्टो हि मित्रत्वमुपयाति हि।**
अत्रादौ द्वारकास्थानां बन्धूनां च तथा क्वचित् ॥५॥
अनिवार्यं दुःखमुक्तं द्वितीयेन निवार्यते।

कारिकार्थ—परोक्ष में दारदर्शक[2] मित्र होता है प्रथम द्वारका में रहे हुए बान्धवों को किसी समय किसी से मिट नहीं सके ऐसा दुःख हुआ, उस दुःख का दूसरे अध्याय में निवारण करते है ॥५ ½॥

कारिका—**सप्तविंशे तथाध्याये यादवानां महद्भयम् ॥६॥**
महादेवादिपुष्टेभ्यः शाल्वादिभ्यो निरूप्यते।

कारिकार्थ—इस उत्तरार्ध के २७ वें अध्याय और प्रारम्भ से ७६ वें अध्याय में यादवों का महादेव आदि की आराधना से पुष्ट हुए शाल्व आदि से महान् भय उत्पन्न होता है ॥६ ½॥

कारिका—**अप्रत्याख्येयता सिध्यै प्रद्युम्नाय जयो महान् ॥७॥**
निरूपितः समस्तानां यतः स्यात्तु महद्भयम्।

कारिकार्थ—प्रद्युम्न का कोई भी अपमान करने में समर्थ नहीं है इसकी सिद्धि करने के लिए इस अध्याय में प्रद्युम्न की महान् जय हुई, कही है जिससे सबको महान् भय हुआ यह निरूपण है ॥७ ½॥

१—स्त्री के कहने से २—स्त्री (लक्ष्मी) बतलाने वाले, अतः भगवान् ने सान्निध्य मे प्रत्यक्ष कुछ नहीं दिया परोक्ष में ही लक्ष्मी आदि सम्पत्ति दी अतः भगवान् सुदामा के मित्र सिद्ध हुए।

ग्राभास—स्वतन्त्रतया फलप्रकरणमारभते अथेति ।

ग्राभासार्थ—'अथान्यदपि' श्लोक से स्वतन्त्र रूप से फल प्रकरण शुकदेवजी प्रारम्भ करते है।

श्लोक —श्रीशुक उवाच—**अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं महत् ।**
क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥१॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी ने कहा कि हे राजन्! अब और भी क्रीडार्थ नर शरीरधारी श्रीकृष्ण भगवान् का अद्भुत चरित्र जो शाल्व को मारने का कहता हैं वह सुनो ॥१॥

सुबोधिनी—तदैव निरुद्धानां भगवत्परता भवति : एतच्चरित्रमुत्तममिति श्रवणार्थं विशेषेण प्रेरयति अन्यदपि कृष्णस्य शृण्विति । यत अद्भुतं कर्मेति । अस्माच्चरित्राद्भगवतोऽद्भुतानि कर्माणि बहूनिभवन्ति । इदं च चरित्रमद्भुतम् । तदेवाद्भुतं यदन्यार्थमारब्धमन्यार्थं भवति । अत एव विश्वमेवाद्भूत चरित्रमिति भगवच्छास्त्रं. धर्मार्थं प्रयत्नं कुर्वन् अधर्मं करोति, अर्थार्थमनर्थं, एव पुरुषार्थान्तरेऽपि । किंबहुना सुखार्थं यतमानो दुःख प्राप्नोति । एवं सर्वाश्रमादिधर्मेषु । भगवदनुसन्धानव्यतिरेकेषु बोद्धव्यम् । अत्रापि फलं भगवदनुभवः साधनत्वेन मन्यते । तथा सर्व एव भगवत्सम्बन्धी पदार्थः । इदं रहस्यं सर्वदैव भगवदीयैरनुसन्धेयम् । अतो यद्यपि सर्वमेवाद्भुत तथापीदं महत् । तस्याद्भुतत्वमुपपादयति क्रीडानरशरीरस्येति । क्रीडार्थं नरशरीरमङ्गीकृतम् । यत्र क्रीडासंभावनापि नास्ति । नराणां सुखस्यैव नरकत्वात् तत्किमित्याकाङ्क्षाया निर्दिशति **यथासौभपतिर्हत** इति । मायिकं पुरं सौभशब्देनोच्यते तस्य पतिः शाल्वः स चेत् प्रयत्न न कुर्यात्, जीवेद्वा कियत्कालं दुर्योधनादिवत् । अयं तु शीघ्रमेव हतः ॥१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार का भय उत्पन्न हो, तब ही निरुद्ध भक्तों की भगवान् में आसक्ति होती है, यह श्रीकृष्ण का चरित्र उत्तम है, इसलिए श्रवण करने के वास्ते विशेष प्रकार से प्रेरणा करते है कि दूसरा भी श्रीकृष्ण का चरित्र सुनो, क्योंकि यह चरित्र अद्भुत है । इस चरित्र से भगवान् के बहुत अद्भुत कर्म प्रकट होंगे । अद्भुत उसे कहते हैं, कि जो कर्म एक के लिए प्रारम्भ किया जाता है किन्तु उसका फल दूसरे को मिलता है, इसलिए वह विश्व ही भगवान् का अद्भुत चरित्र है यो भगवच्छास्त्र कहता है । धर्म के लिए प्रयत्न करते हुए अधर्म करता है । अर्थ के लिए अनर्थ करता है । इस प्रकार अन्य पुरुषार्थों में भी होता है, बहुत कहने से क्या ? सुख के लिए प्रयत्न करता हुआ दुःख पाता है, सर्व आश्रम आदि जो धर्म भगवान् के अनुसन्धान रहित हैं उनमें इसी तरह समझना चाहिए । यहाँ भी भगवान् के अनुभव रूप फल को साधनपन से जानते हैं वैसे ही सब भगवत्सम्बन्धी पदार्थ को साधन रूप मानते हैं, भगवद् भक्तों को यह रहस्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए ।

यद्यपि भगवान् के सर्व चरित्र अद्भुत है, तो भी यह महान् अद्भुत है इसका अद्भुतत्व सिद्ध करते है 'क्रीडा नरशरीरस्य' क्रीडा के लिए वहा मनुष्य शरीर धारण किया है जहा क्रीडा की सम्भावना नहीं है, क्योंकि, 'नराणां 'मनुष्य का 'शम्' सुख ही नरक है । अतः नरक में क्रीड़ा

अर्थात् आनन्द हो नहीं सकता है वैसा शरीर क्रीड़ा को लिये धारण करना महती अद्भुतता है वह कौनसा चरित्र है इस आकांक्षा के होने पर बताते हैं कि 'यथा सौभपतिर्हतः' जैसे सौभपति को मारा "सौभ" शब्द से मायिकपुर कहा है, जिसका पति शाल्व है वह यदि प्रयत्न न करता, तो दुर्योधन की तरह कितने ही समय तक जीता रहता किन्तु यह तो शीघ्र ही मारा गया ।

आभास—तस्य हननार्थमुपाख्यानमाह शिशुपालसख इति ।

आभासार्थ—'शिशुपाल सखः' श्लोक से शाल्व के मारने की कथा कहते हैं ।

श्लोक—**शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्वाह आगतः ।**
यदुभिर्निर्जितः संख्ये जरासन्धादयस्तथा ।।२।।

श्लोकार्थ—शिशुपाल का मित्र शाल्व रुक्मिणी के विवाह में आया था वहाँ यादवों से जो युद्ध हुआ उसमें शाल्व और जरासन्ध आदि सब हार गए ।।२।।

सुबोधिनी—शपथपूर्विका तेन सह मैत्री । शिशुपालसखित्वेनैव प्रसिद्धः **शाल्वः** । अत एव **रुक्मिण्युद्वाहे** आगते उपस्थिते **आगतो** वा **यदुभिर्निर्जितः** । आगत वा **संख्ये** युद्धे तदा **यदुभिर्निर्जितः** । न केवलमेकः किन्तु **जरासंधादयोऽपि** तथा मित्राणि निर्जिताश्च ।।२।।

व्याख्यार्थ—शाल्व की शिशुपाल के साथ शपथ (सौगन्ध) पूर्वक मित्रता थी । शाल्व शिशुपाल के मित्रपन से प्रसिद्ध था इस कारण से, रुक्मिणी का विवाह जब होने वाला था तब वहाँ आया था । उस समय हुए युद्ध में यादवों से हार गया न केवल शाल्व हारा, किन्तु जरासन्ध आदि उसके साथी भी यादवों से हार गए ।।२।।

आभास—एवं सर्वेष्वेव तथाभूतेषु सर्वहितान्वेषी यादवानां मारणं विचारितवान्–

आभासार्थ—इस प्रकार जब सब, यादवों से हार गए, तब सर्व का हित चाहने वाले शाल्व ने यादवों को मारने का विचार किया जिसका वर्णन 'शाल्व प्रतिज्ञा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— **शाल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।**
अयादवीं क्ष्मां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ।।३।।

श्लोकार्थ—सब राजाओं के सुनते हुए शाल्व ने प्रतिज्ञा की कि यह पृथ्वी बिन यादवोंवाली करूंगा अर्थात् यादव मात्र नाश करूंगा । मेरा पराक्रम देखिये ।।३।।

सुबोधिनी—ततस्तत्सिद्ध्यर्थं **शाल्वः प्रतिज्ञा**मकरोत् । क्लेशेऽप्यनिवृत्त्यर्थं **सर्वभूभुजां शृण्वता**मकरोत । **प्रतिज्ञामाह-अयादवीं क्ष्मां करिष्य** इति । यस्यां क्ष्मायां यादवा न तिष्ठन्ति इति । सबीजनिर्हरणसमर्थः । किं ब्रह्मज्ञानेनैव नेत्याह **पौरुषं मम पश्यतेति** । **पश्यतेति** पौरुषं स्वकीयं साक्षात्पश्यतेति ।।३।।

व्याख्यार्थ—अनन्तर यादवों के नाश की सिद्धि के लिए शाल्व ने प्रतिज्ञा की, वह प्रतिज्ञा, छिप कर, नहीं की किन्तु सब राजाओं के सुनते हुए की, जिससे यह सूचित किया है कि मेरे पर कितना भी दुःख आ पड़ेगा तो भी यह प्रतिज्ञा पूर्ण करूंगा। अब प्रतिज्ञा कहता है, कि यह पृथ्वी यादवों मात्र से शून्य करूंगा अर्थात् पृथ्वी पर यादवों का बीज भी नहीं छोड़ूंगा, जिससे फिर यह कुल बढ़ सके। क्या ऐसा ब्राह्मणों के शाप के भांति करेगा ? तो कहता है कि नहीं, अपने पुरुषार्थ से करूंगा। आप वह मेरा पराक्रम प्रत्यक्ष देखिए।

आभास—ततोऽन्यानप्याह—

आभासार्थ—राजाओं को अपनी प्रतिज्ञा सुनाने के बाद अन्यों (दूसरों) को भी सुनाता है।

श्लोक—इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम्।
आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृद्ग्रसन् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! वह मूर्ख इस तरह सबके सामने अपनी प्रतिज्ञा सुनाकर केवल धूल की एक मुट्ठी फाकता हुआ महादेवजी की आराधना करने लगा ॥४॥

सुबोधिनी—इत्युक्त्वा मूढः असाध्यसाधनार्थं प्रवृत्तः भूमिर्यादवोपजीविनी कथं यादवरहिता स्वरूपं लप्स्यत इति। तथापि मौढ्यात्प्रतिज्ञाय तत्राप्यसमर्थं देवं सेवितवान्। यतः स पशूनामेव पतिः तत्रापि प्रभुः नत्वन्तर्यामी। यदि पुरुषोत्तममन्तर्यामिणं वा भजेत् भक्तो ज्ञानी वा भवेत् तदा जगज्जननसामर्थ्यं विश्वोसंहारसामर्थ्यं वा भवेत्। विश्वामित्रस्येव तद्बहुकालसाध्यमिति मत्वा क्षिप्रप्रसादं स्वस्य पशुत्वात् प्रभुमाराधयामास। तत्राराधनप्रकारः पांशुमुष्टिं सकृद्ग्रसन्निति। भगवद्वैमुख्यात्स्वहस्तेनैव स्वमुखे धूलिप्रक्षेपः ॥४॥

व्याख्यार्थ—वह मूर्ख, वह कार्य करने लगा जो होने वाला ही नहीं है, क्योंकि यह भूमि यादवों पर ही जीवित रह सकती है, यदि यादव ही न रहेंगे तो पृथ्वी अपना स्वरूप कैसे प्राप्त कर सकेगी, तो भी, मूर्खता के कारण प्रतिज्ञा कर असमर्थ देव की आराधना करने लगा, कारण कि, वह देव असमर्थ इसलिए है, कि पशुओं का स्वामी है, जिसमें भी प्रभु हैं, न कि अन्तर्यामी हैं यदि यों है तो पुरुषोत्तम वा अन्तर्यामी की आराधना क्यों नहीं की ? जिसका उत्तर देते हैं कि यदि उनकी भक्ति करे तो भक्त वा ज्ञानी बन जावे, तो सृष्टि उत्पन्न करने और संहार करने की शक्ति विश्वामित्र की तरह आ जावे। किन्तु वह विशेष समय आराधना करने से सिद्ध होने वाली हैं, यों समझ शीघ्र प्रसन्न होने वाले पशुपति की आराधना करने लगा जिसका कारण यह है, कि स्वयं पशु है, इसलिए पशुपति की आराधना ही इसको इष्ट लगी। अब आराधना का प्रकार कहते हैं कि एक ही वार (हाथ) की मुट्ठी धुल की मुख में डाल कर आराधना करने लगा शाल्व भगवान् से विमुख था इसलिए उसकी विपरीत ही बुद्धि थी जिससे अपने मुंह में अपने हाथ से धूलि डालने लगा ॥४॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह संवत्सरान्त इति।

आभासार्थ—बाद में जो कुछ हुआ वह 'संवत्सरान्ते' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः।
वरेण छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥५॥

श्लोकार्थ—शीघ्र प्रसन्न होने वाले भगवान् पार्वती पति एक वर्ष के अन्त होने पर शरण आए हुए शाल्व को वरदान से सन्तुष्ट किया अर्थात् कहा कि वर मांग ॥५॥

सुबोधिनी—महादेवः कालप्रेष्यः संवत्सराकालः, शाल्वो दुर्वृत्तः भगवद्विरोधार्थं यतते **अस्मांश्च प्रार्थयते**। तत्राद्भुतकर्मत्वाद्भगवदभिप्रायो न ज्ञायते। किमस्मा एष वरो देयो नवेति तदर्थं संवत्सरप्रतीक्षा कृता। यदि संवत्सरेणायं मार्यते तदा स्वामिहितकर्त्रा सवत्सरेणैव कार्य सिद्धम्। अथ यदि क्लेशमेव दत्वा जीवयिष्यति तदा मयापि क्लेशदानार्थमेव वरो देय इति विचार्य संवत्सरं तूष्णी स्थितः। नन्वग्रेऽपि कथ न स्थितः तत्राह—**आशुतोष** इति। स परमदयालुः अल्पमप्यन्यस्य क्लेशं न सहते, तथाप्यस्थाने यत्नं करोतीति तावद्विलम्बं कृतवान्। ननु तथापि स्वामीद्रोही उपेक्षणीय एव, किमिति वरो दत्त इत्याकाङ्क्षायामाह **उमापतिरिति**। उमापि तपःकुर्वाणा मया उपेक्षिता, सा पश्चात्तपसा पुष्टा सती गले पतिता, तथायमपि भविष्यतीति विचार्य ततो विघ्नार्थमेव **वरेण छन्दयामास**। वर गृहाणेत्युक्तवान्। ननु तस्य को धर्मः येन वरार्थ छन्दयामास। तपस्तु नास्त्येव भगवद्वैमुख्यात्। नहि नारकिणो रोगिणो वा तपः कुर्वन्ति। किंतु कर्मानुभव एव तेषां तादृशः तस्मादुपेक्षणीय एवेत्याशङ्कायामाह—**शरणमागतमिति**। शरण्योपेक्षादोपभियेति ॥५॥

व्याख्यार्थ—महादेव ने एक वर्ष बाद कहा, कि वर मांग इतना समय महादेव ने विलम्ब क्यों किया, जिसको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं, कि महादेव काल के सेवक हैं। काल संवत्सर रूप है, शाल्व दुष्ट है भगवान् के साथ तो विरोध करता है और हमको प्रार्थना करता है इस विषय में भगवान् का क्या अभिप्राय है, वर देना चाहिए वा नहीं, इसका पता नहीं पड़ता है, क्योंकि भगवान् अद्भुत कर्मा हैं, इसलिए ही महादेव एक वर्ष शान्त रहे। जो संवत्सर ही इस शाल्व को मार दे तो स्वामी हित-कर्ता संवत्सर से ही कार्य सिद्ध हो जाय। जो संवत्सर क्लेश भुगताने के लिए ही इसको जीवित रखेगा, तो मैं भी क्लेश देने के लिए ही वर दूंगा, यों विचार कर एक वर्ष पर्यन्त मौन धारण कर बैठे।

वर्ष के बाद भी क्यों न मौन धारण की ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आशुतोषः,' यों तो आप शीघ्र प्रसन्न होने वाले हैं। किसी का स्वल्प भी दुःख सहन नहीं कर सकते हैं परम दयालु हैं, तो भी, यह शाल्व अयोग्य स्थान पर प्रयत्न करता है इसलिए ही इतना विलम्ब किया है तो भी यह स्वामि का द्रोह कर रहा है इसलिए इसकी अपेक्षा ही करनी चाहिए थी, क्यों वर दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'उमापति' मैं उमा का पति हूं उसने तपस्या की थी तो भी मैंने उसकी उपेक्षा करदी किन्तु वह (उमा) तपस्या से पुष्ट होकर मेरे गले पड़ी, वैसे ही यह भी होगा, इस प्रकार विचार कर विघ्न के लिए ही उसको कहा कि वर मांग, इसमें ऐसा कौनसा गुण था। अथवा इसने कौनसा ऐसा धर्म किया था जिससे इसको वर से सतुष्ट किया ? भगवान् से विमुख

होने के कारण तपस्या तो है ही नहीं जो नारकी व रोगी होते हैं वे तपस्या तो करते ही नहीं किन्तु उनको वैसा ही कर्म का अनुभव होता है। (होना चाहिए) इस कारण से यह उपेक्षा करने के ही योग्य होना चाहिये इसका उत्तर देते हैं कि 'शरणमागतं' तपस्या आदि कोई गुण इसमें नहीं हैं किन्तु शरण आया है, शरण आए की उपेक्षा करना दोष है। इस दोष के भय से कहा कि वर मांग ॥५॥

आभास—ततस्तस्यान्तर्यामिणैव बुद्धिनाशो जात इति यत्किञ्चित्प्रार्थयते **देवासुरेति**

आभासार्थ—पश्चात् उसके अन्तर्यामी ने ही उसकी बुद्धि नाश की जिसमे उसने जो मांगा वह 'देवासुरमनुष्याणां' श्लोक में कहा है।

श्लोक—देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥६॥

श्लोकार्थ—उसने वर मांगा कि देवता दैत्य मनुष्य गन्धर्व उरग व राक्षस ये जिसको तोड़ न सके और स्वेच्छा से चलने वाला और यादवों को डराने वाला विमान मुझे मिले ॥६॥

सुबोधिनी— देवासुरमनुष्यास्त्रिगुणप्रधानाः गन्धर्वोरगराक्षसाः मिश्रगुणप्रधानाः। एवं षड्भिः सर्व एव सगुणाः परिगृहीताः। तेषां सर्वेषामेवाभेद्यं अस्मदधीनं च कामगमन्यथा समुद्रवदस्मत्पुरुषार्थाय न स्यात्। किञ्च। यदर्थस्तु प्रयासः तदर्थं किञ्चिद्याचनीयमिति तस्य **यानस्यापरं** धर्मं प्रार्थयते—**वृष्णिभीषणमिति**। वृष्णीनां भयजनकम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—देव, असुर और मनुष्य इनमें तीन गुण प्रधान हैं और गन्धर्व उरग तथा राक्षस इनमें मिश्र गुण प्रधान है इस प्रकार मांगने से सब सगुण जीव ही कहे इन सबों से टूटे नहीं और मेरी इच्छानुसार चलने वाला और मेरे आधीन हो यदि वैसा नहीं होगा तो समुद्र की भांति मेरा कोई अर्थ सिद्ध नहीं होगा अतः वैसा विमान मांगा जो मेरे सब तरह आधीन हो और उनसे टूटे नहीं अनन्तर और मांगता है कि जिनके लिए इतना कष्ट किया उनके वास्ते कुछ मांगना चाहिए इसलिए इस विमान में अन्य भी गुण होना चाहिए वह गुण यह होवे कि इससे यादवों को भय उत्पन्न हो अर्थात् इसको देखकर वे भयभीत हो जावे ॥६॥

आभास—महादेवोऽपि भगवति न किञ्चिद्बाधकमिति तथेत्यङ्गीकृतवान् वरमात्रसिद्धो नित्यो भविष्यतीति अनित्यत्वे कृतकत्वं प्रयोजकमिति मयं प्रत्याज्ञां दत्तवानित्याह **तथेति**।

आभासार्थ—महादेव ने समझ लिया, कि इसने जो कुछ मांगा है उसमें से कोई भगवान् को बाध करने वाला नहीं है, इसलिए उसका मांगा हुआ वर देना स्वीकार कर लिया केवल वरदान से बना हुआ तो नित्य हो जाएगा अतः यह विमान बना हुआ होना चाहिए क्योंकि, जो बनेगा वह

अनित्य होगा इसलिए महादेव ने मय को विमान बनाने की आज्ञा दी यह 'तथेति' श्लोक मे कहते हैं ।

श्लोक—तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरंजयः ।
पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयम् ॥७॥

श्लोकार्थ— 'तथास्तु' यों हो, ऐसा कह कर महादेव ने शत्रुओं के पुरों को जीतने वाले मय दैत्य को आज्ञा दी, आज्ञानुसार मय ने लोहे का सौभ नाम पुर बनाकर शाल्व को दिया ॥७॥

सुबोधिनी—गिरिशादिष्ट इति । **परपुरंजय** इति । शत्रूणां पुरजयशीलः । स हि जानाति पुरं जेयमजेयं च । अतो यथा अजेयं तथा करिष्यतीत्यर्थः । अतस्तादृशं **पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्** । तस्य नामस्वरूपे आह **सौभमयस्मयमिति ।** सुष्ठु भा येषां ते सुभाः । तेषां सम्बन्धि पुरं सौभं उत्कृष्टलोहनिर्मितं दृढं भवति ॥७॥

व्याख्यार्थ—शिव की आज्ञा पाकर मय ने पुर (विमान) बनाके शाल्व को दिया । मय दैत्य यह जानता है, कि यह विमान शत्रुओं के पुर को जीत सकेगा अथवा यह नहीं जीत सकेगा, इससे मय ऐसा बनाएगा जो जीता न जाय अतः वैसा अजय पुर बनाकर शाल्व को दिया कैसा और किससे बनाया, इससे नाम स्वरूप का वर्णन करते हैं कि 'सौभमयस्मयम्' जिसका प्रकाश उत्तम है वह सुभाः उनका सम्बन्धी पुर (विमान) 'सौभ' कहलाता है उत्तम लोहे से निर्मित मजबूत था ॥७॥

आभास—ततः कृतार्थो भूत्वा युद्धार्थं द्वारकां समागत इत्याह **स लब्ध्वेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार कृतार्थ होके अनन्तर शाल्व युद्ध के लिए द्वारका आया जिसका वर्णन 'स लब्ध्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधामदुरासदम् ।**
ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन् ॥८॥

श्लोकार्थ—अन्धकार का धाम, दुष्प्राप्य, इच्छापूर्वक चलनेवाला विमान पाकर, वह शाल्व यादव कृत वैरका स्मरण करता हुआ द्वारका आया ।

सुबोधिनी—कामगं इच्छामात्रेणैवेष्टदेशप्रापकम् । **तमोधाम** अन्धकारप्रचुरं तस्मिन्नन्धकारस्तिष्ठतीति स न दृश्यते । **दुरासदं** च केनापि प्राप्तुमशक्यम् । एवं प्राप्तदेववरस्य भगवद्विरोध एव फलमिति । **द्वारवतीमेव ययौ वृष्णिकृतं वैरं** रुक्मिणीहरणात्मकं शिशुपालवधात्मकं च पूर्वं दृष्टं श्रुतं च **स्मरन्** ॥८॥

व्याख्यार्थ—'कामगं' इच्छा करते ही इच्छित देश में पहुँचाने वाला अन्धकार का धाम जिससे वह देखने में न आने वाला कोई भी उसको प्राप्त न सके इस प्रकार के वर प्राप्त करने का

फल भगवान् से विरोध ही है वैसा विमान प्राप्त कर द्वारका आया, मार्ग में यादव कृत वैर रुक्मिणी का हरण एवम् शिशुपाल वध आदि स्मरण करता हुआ द्वारका पहुंचा ॥८॥

आभास—ततो वैरेण यत्कृतवांस्तदाह **निरुध्येति**।

आभासार्थ—अनन्तर वैर से जो कुछ किया वह 'निरुध्य' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**निरुध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ।**
पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे भरत श्रेष्ठ! शाल्व बड़ी सेना ले चारों तरफ से पुरी को घेर बाग और बगीचे तोड़ने लगा ॥९॥

सुबोधिनी—सौभमात्रं तु तस्यवरप्राप्तं सेना तु स्वाभाविक्यधिका अतस्तदा या **पुरीं निरुध्य** उद्यानोपवनानि **सर्वशो बभञ्ज** ॥९॥

व्याख्यार्थ—उसको वर से तो केवल सौभ विमान प्राप्त हुआ था, सेना तो उसके पास सहज थी और वह भी अधिक थी, अतः तब जिस सेना ने पुरी को घेर कर बाग बगीचे सब तोड़ डाले ॥९॥

आभास—ततो दुर्गमध्येऽप्युपद्रवं कृतवानित्याह **सगोपुराणि द्वाराणीति**।

आभासार्थ—पश्चात् दुर्ग के बीच में भी उपद्रव किए जिसका वर्णन 'सगोपुराणि द्वाराणि' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः।**
विहारान्सविमानाग्र्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥१०॥

श्लोकार्थ—गोपुर, दरवाजे, महल, अटारियाँ व उनकी भीतें तथा क्रीड़ा स्थल आदि को तोड़ने के लिए और मनुष्यों को दुःख देने के लिए शस्त्रों की वर्षा बरसाने लगा ॥१०॥

सुबोधिनी—गोपुरद्वारसहितानि **द्वाराण्या**लक्ष्य **शस्त्रवृष्टयो निपेतुरि**ति संबन्धः। बभञ्जेति केचित्। प्राकारा **अट्टालास्तोलिकाश्च** प्राकारस्था एवैताः **तोलिका**श्छिद्रपङ्क्तय यत्र स्थितैः पाषाणाः क्षिप्यन्ते। प्रतोलिका वा शोभास्थानानि। **विहारान्** विश्रामस्थानानि तानि **विमानाग्र्य**सहितानि तेषां भञ्जनार्थं तत्र स्थितपुरुषाणां पीडार्थं वा **शस्त्रवृष्टयो निपेतुः**। साधारणमेतद्युद्धम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—(सेना के लोग) बाहर के बड़े द्वार सहित द्वारों को लक्ष्य कर शस्त्र-वृष्टि करने

लगे, कितने कहते हैं तोड़ने लगे, महल अटारियाँ और महलों में जो भीतों में छिद्र आदि थे उन स्थानों पर जहाँ खड़े थे वहाँ से ही पत्थर फेंकने लगे प्रतोलिका पद का भावार्थ है शोभा के स्थान जहाँ जाली की तरह तरह के छिद्र बने (निकले) हों और विश्राम के स्थान इन सबों को तोड़ने के लिए वहाँ से पाषाण फेंकते थे तथा स्थित पुरुषों को पीड़ा देने के लिए शस्त्रों की वर्षा करने लगे यह तो साधारण युद्ध है ॥१०॥

आभास—दैत्ययुद्धमाह **शिला द्रुमा** इति ।

आभासार्थ—'शिला द्रुमा' श्लोक से दैत्य युद्ध का वर्णन करते है ।

श्लोक—**शिलाद्रुमाश्चाशनयः सर्पाः प्रासारशर्कराः ।**
प्रचण्डश्चक्रवातोभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥११॥

श्लोकार्थ—शिला, वृक्ष, बिजली, सर्प और कांकड़ी आदि बरसने लगे तेज बोंडर उठने लगे रज से दिशायें छा गई ॥११॥

सुबोधिनी—पाषाणा वृक्षाश्च वहिरुत्पाटिताः अन्तः पक्षिप्ताः अशनयोऽपि तस्य वरप्राप्त्या आसुरमायया अशनयोऽपि तदधीनाः तथा सर्पाश्च **प्रासारशर्कराः** प्रकृस्य आसाररूपाः **शर्कराः** सूक्ष्मपाषाणवृष्टिं कृतवन्तः, **शिला द्रुमास्तामसाः अशनयः** सात्विकाः **सर्पप्रासारसर्करा** राजसाः । एवं त्रैविध्येन सर्व एव प्रकार उक्तः । ततः कृत्रिममाह-**प्रचण्डश्चक्रवातोभूदिति** । भ्रमं जनयतीति भिन्नतया च निरूपितम् । चक्रवातो वात्या रजसा रेणुसमूहेन दिशः आच्छादिताः । एवं प्राकारतन्मध्यस्थिताना क्रियाविघातकं ज्ञानविघातकं च कृतवन्त इयर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—नगर के बाहर के बाग से पाषाण और वृक्ष उखाड़ कर अन्दर नगर के भीतर फेकने थे बिजलियाँ भी अन्दर फेंकते थे वर प्राप्ति से एवम् असुर माया से बिजलियाँ भी उसके आधीन थीं, वैसे सर्प और छोटी कांकड़ी तथा छोटे २ पत्थरों की वर्षा करने लगे । पाषाण और वृक्ष तामस हैं बिजली सात्विक है सर्प और कांकड़ियाँ राजस हैं यों तीन प्रकार कहने से सब प्रकार कह दिये हैं, पीछे कृत्रिम कहते हैं कि 'प्रचण्डश्चक्रवातोऽभूत' यह भ्रम पैदा करने वाला है अतः पृथक् कहा है, धूलि मिश्रित वायु से दिशाये छा गई इस प्रकार महलों में और उनके मध्य भागों में रहने वालों के क्रिया के नाश का तथा ज्ञान के नाश का कार्य किया ॥११॥

आभास— तेषामुपद्रवेण जातं फलमाह **इत्यर्द्यमानेति** ।

आभासार्थ—उनके उपद्रव से जो फल निकला वह 'इत्यर्द्यमाना' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।**
नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथामही ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! इस प्रकार अधम सौभ से बहुत पीड़ित श्रीकृष्ण की

पुरी जैसे त्रिपुरासुर से पृथ्वी दुःखी हुई वैसे ही दुःखी यह पुरी भी दुःखी हुई कहीं भी सुख न रहा ।

सुबोधिनी—सौभेनाधमेन पीड्यमाना अतदर्हा यतः **कृष्णनगरी** अतिसुकुमारी शं **नाभ्यपद्यत** निरोधत्वात् न भक्तिमार्गविरुद्धं वर्णनम् । **राजन्निति विश्वासार्थम्** । पीडाया इयत्तां वक्तुं **दृष्टान्तमाह त्रिपुरेण यथा महीति** ।।१२।।

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण की बहुत कोमल नगरी पीड़ा के योग्य नहीं थी । तो भी अधम सौभ ने उसको पीड़ित किया, जिससे उसको सुख नहीं हुआ । निरोध होने से यह वर्णन भक्ति मार्ग के विरुद्ध नहीं है । हे राजन् ! यह सम्बोधन विश्वास के लिए है, कितनी, कैसी पीड़ा हुई उसकी सीमा का दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं कि 'त्रिपुरेण यथा मही' त्रिपुरासुर ने जैसे पृथ्वी को दुःखी किया वैसे ही शाल्व ने श्रीकृष्ण की पुरी को पीड़ित किया ।।१२।।

आभास—एवं महादेवप्रीत्यर्थं तस्योत्कर्षमुक्त्वा सर्वथा भग्नोपाय एवं भगवत्परो भवतीति उपायान्तरं दूरीकर्तुं प्रद्युम्नादीनां रक्षार्थं युद्धमाह **प्रद्युम्नेति** ।

आभासार्थ—महादेव के प्रसन्नतार्थ उसका उत्कर्ष कह कर अब दिखाते हैं जिसके सर्व उपाय निकम्मे हो जाते हैं वह ही भगवत्परायण होता है, इसलिए दूसरे उपाय को हटाने के लिए 'प्रद्युम्नो' श्लोक में प्रद्युम्नादिकों ने रक्षा करने के लिए युद्ध किया जिसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**प्रद्युम्नो भगवान्वीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ।**
मा भैष्टेत्यभ्ययाद्वीरो रथारूढो महायशाः ।।१३।।

श्लोकार्थ—भगवान् प्रद्युम्न अपनी प्रजा को पीड़ित देख कर बोले कि तुम मत डरो, बाद में महान् यशस्वी वीर रथ में बैठ निकट आ गये ।।१३।।

सुबोधिनी—तस्य प्रथमतो गमने हेतुर्भगवानिति । भगवत्त्वात्स्वरूपज्ञानमुपायज्ञानं च निजाः प्रजा इति रक्षाभिनिवेशार्थमुक्तम् । आदौ मनसा रक्षां विचारितवान् । ततो वचनेनाप्याह **मा भैष्टेत्यभयात्** मुखतो मा भैष्टेत्युक्त्वा पश्चाद्रथेन **युद्धदेशमभ्ययात्** इत्यर्थः ।।१३।।

व्याख्यार्थ—सबसे पहले युद्ध में प्रद्युम्न के जाने का कारण यह है, कि प्रद्युम्न भगवान् है अतः उनको सौभ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान था, कि यह कौन है किस तरह इसका नाश होगा ? इन्होंने देखा कि जो प्रजा पीड़ित हो रही है वह अपनी है इसको पीड़ा से रक्षा करनी चाहिए ऐसी पहले मनमें इच्छा हुई अनन्तर उसका वाणी से प्रकाश करते हुए कहा कि डरो मत, बाद में रथ में बैठ कर युद्ध के स्थान पर पहुँच गए ।।१३।।

श्लोक—**सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साम्बोऽक्रूरः सहानुजः ।**
हार्दिक्यो भानुविन्दश्च गदश्च शुकसारणौ ।।१४।।

श्लोकार्थ—सात्यकि और चारुदेष्ण तथा साम्ब और भ्राताओं के साथ अक्रूर हार्दिक्य और भानुविन्द, गद, शुक और सारण ।।१४।।

सुबोधिनी—तथा **सात्यकिरपि चारुदेष्णः** प्रद्युम्नभ्राता, **अक्रूरो** भ्रातृसहितः हार्दिक्यादयो यादवाः **गदादयो** भ्रातरः । **शुकसारणौ** दूतौ परं भ्रातरौ ।।१४।।

व्याख्यार्थ—सात्यकि, प्रद्युम्न का भ्राता चारुदेष्ण, भ्राताओं के साथ अक्रूर, हार्दिक्य आदि यादव गद आदि भाई शुक और सारण दूत थे परन्तु श्रीकृष्ण के भाई थे ।।१४।।

श्लोक —**अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।**
निर्ययुर्दंशिता गुप्ता रथेभाश्वपदातिभिः ।।१५।।

श्लोकार्थ—ऊपर १४वें श्लोक में कहे हुए योद्धों के सिवाय जो और थे उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि दूसरे, बड़े धनुषों को धारण करने वाले, यादव भी और रथों की सेना की रक्षा करने वालों के भी सेनापति कवच धारण कर रथ, हस्ती, घोड़े और सैनिकों से रक्षित हो बाहर निकले ।।१५।।

सुबोधिनी—अपरे च यादवाः महेष्वासाः धनुर्धरा रथयूथपानामपि यूथपाः दंशिताः रथादिभिर्वेष्टिता **निर्ययुः** । फलप्रकरणत्वाल्लौकिकी भाषा फलं सर्वत्रानुभवसिद्धत्वाल्लौकिकमेव । अतः स्वतो महान्तः साधनसहिता युद्धार्थं निर्गता इति स्वतः प्रतीकारार्थं प्रवृत्तिः तद्भगवान् दूरीकरिष्यति । लौकिकी भाषेयमिति न पूर्वविरोधः । बलभद्रो विद्यमानोऽपि महादेवप्रेरितोऽयमित्युपेक्षित इति केचित् क्वचिदन्यत्र गत इति च ।।१५।।

व्याख्यार्थ—और दूसरे धनुर्धारी यादव, रथों की सेना के रक्षकों के भी सेनापति कवच धारण कर रथ आदि से घिरे हुए बाहर निकले, फल प्रकरण होने से लौकिकी भाषा है, फल सर्वत्र अनुभव से सिद्ध होने के कारण लौकिक ही है इसलिए आप ही साधन लेकर युद्ध करने के वास्ते बाहर निकले यों स्वतः ही प्रतिकार के लिए प्रवृत्ति हुई उसको भगवान् रोकेंगे, यह लौकिकी भाषा होने से जो प्रथम कहे हैं उनसे विरोध नहीं है । बलदेवजी द्वारका में विराजते थे तो भी उनने इस सौभ की उपेक्षा की क्योंकि इसको महादेव से प्रेरणा मिली है । यों समझ उनने इसकी उपेक्षा (परवाह) नही की, कितने ही यों कहते हैं, कि वे कहीं अन्यत्र गये थे ।।१५।।

आभास—तत उभयोः शूरत्वख्यापनाय युद्धं वर्णयति ततः **प्रववृते युद्धमिति** ।

आभासार्थ – पश्चात् दोनों की वीरता प्रसिद्ध करने के लिए युद्ध का वर्णन 'ततः प्रववृते' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**ततः प्रववृते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।**
यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—बाद में जैसे असुरों का देवों से रोमांच करनेवाला महान् संग्राम हुआ वैसे ही शाल्वों का यादवों के साथ घोर युद्ध हुआ ॥१६॥

सुबोधिनी—शाल्वानामिति बहुवचनं प्राणभृन्न्यायेन प्रधानव्यपदेशन्यायेन वा। उभयेषां युद्धे दाढर्यमाह **यथासुराणां विबुधैरिति**। असुराणां यथा देवैस्तुमुलमधिकं **लोमहर्षणं** प्रचण्डप्रहारयूक्तम्। यस्मिन् श्रुते रोमाञ्चो भवति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—'शाल्वानां' शाल्व एक है फिर बहुवचन क्यों कहा, जिसका भावार्थ समझाते हैं कि दो न्याय होते हैं, एक प्राणभृत न्याय दूसरा प्रधान व्यपदेश न्याय। बल के पोषक प्राण बहुवचन में दिया जाता है, इसी मुख्य पुरुष का नाम भी आदरार्थ बहुवचन में दिया जाता है अतः शाल्व को बहुवचन में कहा है, दोनों तरफवालों की युद्ध में दृढता कहते हैं, जैसे असुरों का देवों से महान् संग्राम हुआ जिससे रोमांच खड़े हो जाते थे वैसे ही इनकी भी भारी लड़ाई होने लगी ॥१६॥

आभास—ततो मायया तैर्या बिभीपिका प्रदर्शिता तां प्रद्युम्नो निवारितवानित्याह **ताश्च सौभपतेर्माया** इति।

आभासार्थ—उन्होंने माया से जो भय दिखाया उसको प्रद्युम्न ने निरारण कर दिया जिसका वर्णन 'ताश्च सौभपते' श्लोक मे करते हैं।

श्लोक— **ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः।**
क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को क्षण मात्र में नाश कर देता है वैसे ही रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न ने दिव्य अस्त्रों से क्षण में सौभपति की माया को नाश किया ॥१७॥

सुबोधिनी—दिव्यास्त्रैराग्नेयादिभिः नारायणास्त्रेण पाशुपतेन वा मूले छेदमकृत्वा अर्धप्राकृतबुध्या युद्धं करोतीति अपरितोषेणाऽऽह **रुक्मिणीसुत** इति। यदर्थं कृतवान् तज्जातमित्याह **क्षणेन नाशयामासेति**। **नैशं तमो** रात्रेः संबन्ध्यन्धकारः सूर्यस्य सहजनिराकार्यः। तेन निरायासेन निराकरणमुक्तम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—दिव्य अस्त्र, आग्नेय, नारायण और पाशुपत आदि हैं इनमें से किसी से भी मूल में छेदन करने से पहले लौकिक युद्ध करते थे, किन्तु, इससे सन्तोष न हुआ क्योंकि 'रुक्मिणी–सुत' रुकमणी के पुत्र हैं वे इतना विलम्ब सह न सके अतः जैसे सूर्य क्षण में रात्रि के अन्धकार को मिटा देता है वैसे ही इसने भी क्षण में सौभपति की माया को विना परिश्रम के नाश कर दिया ॥१७॥

आभास—ततो विशेषयुद्धमाह **विव्याध पञ्चविंशत्येति**।

आभासार्थ—पश्चात् विशेष युद्ध का 'विव्याध' श्लोक से वर्णन करते हैं:–

श्लोक—विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।
शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥१८॥

श्लोकार्थ—शाल्व के सेनापति को, सुवर्ण के पंख वाले, लोहे के फल वाले और छोटी छोटी सन्धि वाले पच्चीस बाणों से वेधा ॥१८॥

सुबोधिनी— पञ्चविंशतितत्त्वात्मकाः सर्वे सर्वभावेन विद्धा इति ज्ञापयितुं **शाल्वस्य ध्वजिनीपालं** सेनापतिं **शरैर्विव्याध** । **सुवर्णपुङ्खैरिति** प्रत्यञ्चातः शीघ्रनिर्गमनार्थं । **अयोमुखैरिति** उत्तमवेधार्थं । मध्ये शराः **सन्नतपर्वाणः** ॥१८॥

व्याख्यार्थ—शाल्व के सेनापति को पच्चीस बाणों से वेधा, पच्चीस बाणों से वेधने का भावार्थ यह था, कि पच्चीस तत्वात्मक वे सब शाल्व थे उन सबको सर्वभाव से वेधना था, जिन बाणों से वेधा उन बाणों के सोने के पंख थे, क्योंकि सोने के पंखों के कारण वे बाण प्रत्यञ्चा से शीघ्र निकल आते थे, लोहे के फल वाले होने से उत्तम प्रकार से शत्रु को बींध सकते थे, बाण बीच में छोटी २ गाँठ वाले थे ॥१८॥

श्लोक—शतेनाताडयच्छाल्वमेकैकेनास्य सैनिकान् ।
दशभिर्दशभिर्नेतॄन्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥

श्लोकार्थ—शाल्व पर एक सौ बाण, उसके प्रत्येक सैनिक को एक एक बाण, सारथियों को दश दश बाण, वाहनों को तीन तीन बाण लगाए ॥१९॥

सुबोधिनी—ततः शतेन शाल्वमताडयत् । एकैकेन चास्य सैनिकान् दशभिः सारथीन् अश्वांस्त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् एक सौ बाणों से शाल्व पर प्रहार किया, एक एक बाण से प्रत्येक सैनिक पर दश दश बाणों से, सारथियों पर तीन तीन बाणों से घोड़ों पर प्रहार किया ॥१९॥

आभास—एवमेकेन सर्वेषां प्रहारः अत्याश्चर्यत्वात् शत्रुभिरपि स्तुत इत्याह तत्तस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार एक ने सर्व पर प्रहार किया यह अति आश्चर्य कारक होने से शत्रुओं ने भी इसकी स्तुति की जिसका वर्णन 'तत्तस्य' श्लोक में करते है ।

श्लोक **तत्तस्य चाद्भुतं कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।**
दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—महात्मा प्रद्युम्न का यह अद्भुत कर्म देख कर अपनी और शत्रु की सेना के सब सैनिक उनकी स्तुति (प्रशंसा) करने लगे ।

सुबोधिनी—अद्भुतमाश्चर्यकरं मन्त्रसामर्थ्यात्पितृसामर्थ्याद्वा एतदिति पक्षं वारयति महात्मन इति । स्वयमेव महानुभावः । अत एवाश्चर्यम् । **स्वस्य परस्य शत्रोश्च सैनिकाः** ॥२०॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न का यह कर्म अद्भुत, अर्थात् आश्चर्य कारक था । प्रद्युम्न ने यह आश्चर्य जैसा कार्य मंत्र शक्ति से अथवा पितृ शक्ति से किया होगा जिसके लिये कहते है कि वे स्वयं महान् आत्मा हैं जिससे अपनी ही शक्ति से किया है, इसलिए ही आश्चर्य है । अतः ऐसा आश्चर्य कारक चरित्र देख कर अपनी सेना और शत्रु की सेना के सैनिकों ने स्तुति (प्रशंसा) की ॥२०॥

आभास—ततः शाल्वः स्वयं युद्धं करिष्यतीति वक्तुं तस्य स्वरूपमाह **बहुरूपैकरूपमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् शाल्व स्वयं युद्ध करेगा यों कहने के लिये उसके स्वरूप का वर्णन 'बहुरूपैक' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ।**
मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत ॥२१॥

श्लोकार्थ—मय का बनाया हुआ यह मायामय विमान कभी तो अनेक रूप देखने में आता कभी एक रूप देखने में आता है तो कभी लोप हो जाता है इस कारण से शत्रुओं से भी अतर्क्य हुआ है ॥२१॥

सुबोधिनी—कदाचिद्**बहुरूपं** अनेकरूपं दृश्यते कदाचिदेकरूपं कदाचिद् **दृश्यते** कदाचिन्न **दृश्यते** इति प्रमाणप्रमेययोरपि वैलक्षण्यमुक्तम् । तत्र हेतुः **मायामयमिति** । तर्हि दिव्यास्त्रेण नाशं यास्यतीत्यत आह **मयकृतमिति** । तर्ह्यन्यैस्तादृशैः सूक्ष्मेक्षिकया तन्नाशोपायो ज्ञातो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **परैरन्यैर्दुर्विभाव्यं** तर्कितुमशक्यमभूदित्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—वह विमान कभी अनेक रूप दृष्टि गोचर होता था, कभी एक रूप हो जाता कभी लुप्त हो जाता, इससे प्रमाण और प्रमेय को विलक्षणता बताई है, इसमें कारण कि वह विमान माया मय है तब तो दिव्यास्त्र से नाश होगा इसलिए कहा है कि मय का बनाया हुआ है ।

तब इनके समान दूसरे इसके नाश का उपाय सूक्ष्म दृष्टि से जाना होगा इसके उत्तर में कहते हैं कि दूसरे तो इसका विचार भी नहीं कर सकते हैं ॥२१॥

आभास—तस्य देशोऽपि दुर्लक्ष्य इत्याह **क्वचिद्भूमाविति** ।

आभासार्थ—उसका स्थान भी जानने में नहीं आता था । यह 'क्वचिद्भूमौ' श्लोक में बताते हैं

श्लोक—**क्वचिद्भूमौ क्वचिव्द्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित् ।**
अलातचक्रवद्भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—वह विमान कभी तो पृथ्वी पर, कभी आकाश में, कभी पर्वत के शिखर पर और कभी जल में अलात चक्र के समान भ्रमण कर रहा था, जिससे उसकी व्यवस्था का ठिकाना लगाना बहुत कठिन हो गया ।।२२।।

सुबोधिनी--लक्ष्यं दृष्ट्वा पश्चाच्छस्त्रप्रयोगः । तत् स्थिरे चरे च भवति । चरे च लक्ष्यभूमि ज्ञातुं शक्या भवति । अस्य तु सर्वमेवाशक्यमिति क्षणमात्रव्यवधानेऽपि विरुद्धदेशान् वर्णयति आकाशभूम्योरतिव्यवधानम् । एवं गिरिमस्तकजलयोरपि **अलातचक्र-वद्भ्राम्यच्च** भवति तेनाविद्यमानस्थलेऽपि दृश्यत इति, तन्निराकरणार्थं न शस्त्रप्रयोगः कर्तुं शक्यः । केनचिन्मन्त्रादिना तथात्वे तत्प्रतिकारेण प्रतिकर्तव्य इति शङ्कां वारयति **तत्सौभ स्वभावत एव दुरवस्थितमिति** ।।२२।।

व्याख्यार्थ—निशान देख कर बाद में शस्त्र का प्रयोग किया जाता है, वह निशान स्थिर चाहे चर हो, चर में निशान की भूमि जानी जा सकती है । इसका तो सब अशक्य है क्योंकि क्षण मात्र में विरुद्ध देशों में पहुंच जाता है जैसे आकाश और भूमि में बहुत अन्तराय है । इसी तरह पर्वत के शिखर और जल के बीच में विशेष अन्तराय है फिर वह अलात चक्र की भाँति फिरता है जिससे जहाँ नहीं है वहाँ भी देखने में आता है वैसे के निराकरणार्थ शस्त्र का प्रयोग करना भी अशक्य है, यदि यों है तो, किसी मंत्र आदि से इसका विनाश हो सकता हो तो उसके प्रतिकार से इसका नाश करना चाहिए, इस पर कहते हैं कि वह सौभ स्वभाव से ही अस्थिर है ।।२२।।

आभास—एवं माहात्म्यमुक्त्वा तादृशमपि यादवैः निराक्रियत इत्याह **यत्र यत्रेति** ।

आभासार्थ—इसी तरह सौभ का माहात्म्य कह कर 'यत्र यत्र' श्लोक से कहते हैं कि ऐसे का भी नाश यादव कर सकते हैं

श्लोक—**यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।**
शाल्वस्ततस्ततोमुञ्चन् शरान्सात्वतयूथपाः ।।२३।।

श्लोकार्थ—सौभ और सैनिकों सहित शाल्व जहां भी दिखता, वहां यादवों के सेनापति बाणों को फेंकते थे ।

सुबोधिनी—उपलक्षणविधयापि यत्र प्रतीयेत **ससौभः सशाल्वः** सैनिकसहितश्च **ततः सात्वतयूथपाः शरानमुञ्चन् । तत इति तस्माद्**देशाच्छाल्वस्य गमनं सूचयति । अन्यथा तत्र तत्रेत्युक्तं स्यात् ।।२३।।

व्याख्यार्थ—उपलक्षण विधी से भी, वह शाल्व, सौभ विमान और अपने सैनिकों के साथ जहाँ भी देखने में आ जाता तो वहां यादवों के सेनापति बाणों को फेंकते थे, 'ततः' शब्द से यह सूचित होता है कि जहाँ बाण फेंकते उस स्थान से शाल्व दूसरे स्थान पर चला जाता, यदि वहां होते तो ततः न कहकर तत्र तत्र यों कहते थे ।।२३।।

ग्राभास—एवं सर्वतः शरप्रक्षेपे सूक्ष्मोपि गन्तव्यदेशो रुद्ध इति सौभं सैनिकाश्च शाल्वस्य पीडिता जाता इत्याह **शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैरिति** ।

ग्राभासार्थ—इस प्रकार सर्वत्र बाणों के फेंकने से सुक्ष्म स्थल भी बाणों से व्याप्त हो जाता जिससे शाल्व के सौभ सहित सैनिक पीड़ित हुए जिसका वर्णन 'शरैरग्न्य' श्लोक से करते हैं

श्लोक—शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शैराशीविषदुरासदैः ।
पाल्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः ।।२४।।

श्लोकार्थ—ग्रग्नि ग्रौर सूर्य के समान स्पर्श वाले सर्प जैसे दुःसह, शत्रुग्रों के चलाये हुए तीरों से जब उसके सैनिक पीडायमान हुए तब शाल्व घबरा गया ।।२४।।

सुबोधिनी—स्पर्शे ग्रग्न्यर्काभ्यां तुल्यता । पर्यवसाने ग्राशीविषतुल्यता । ग्रत एव **दुरासदैः** ग्रप्रतीकार्यैः शरैः पाल्यमानं **पुरमनीकाः** सैनिकाश्च यस्य एतादृशः शाल्वः **ग्रमुह्यत्** । तर्हि पलायनं तेषां प्रार्थना वा कर्तव्येति तत्राह **परेरितैः** । शत्रुप्रेरिता एते बाणाः ग्रतः शत्रुजयो मरणं वा उपायः नान्य इति मोहं प्राप्तवान् ।।२४।।

व्याख्यार्थ—वे तीर ऐसे थे जिनका स्पर्श ग्रग्नि व सूर्य के समान था । परिणाम में सर्पो के समान थे, ग्रर्थात् जैसे सर्प नाश कर देते हैं वैसे ही ये भी नष्ट करने वाले है, फिर इनसे प्राप्त फल को रोकने का कोई उपाय भी नहीं है, ऐसे शरों से शाल्व के सौभ ग्रौर सैनिक पीड़ित होने लगे, जिससे शाल्व घबरा गया ।

ऐसी दशा में वहाँ से भाग जाना ग्रथवा उनको प्रार्थना करनी चाहिऐ, इसका उत्तर देते है कि ये बाण शत्रुग्रों के फेंके हुए हैं, उनसे मरना ग्रथवा शत्रुग्रों पर विजय पाना ही उपाय है ग्रन्य नहीं इसलिए ही शाल्व मोह को प्राप्त हुग्रा ग्रर्थात् घबरा गया ।।२४।।

ग्राभास—एवं यादवानां पौरुषमुक्त्वा शाल्वस्य सैनिकानामपि पौरुषमाह तुल्यत्वाय **शाल्वानीकपशस्त्रौघैरिति** ।

ग्राभासार्थ—इस प्रकार यादवों के पुरुषार्थ का वर्णन कर ग्रब शाल्व के सैनिकों की भी उनसे समानता दिखाने के लिए उनका पौरुष 'शाल्वानीकपशस्त्रौघैः' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशार्दिताः ।
न तत्यजु रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ।।२५।।

श्लोकार्थ—शाल्व के सेनापतियों के शस्त्र समूहों से यादवों के वीर बहुत पीडित हुए तो भी ग्रपने रण स्थान का त्याग नहीं किया क्योंकि उनको दोनों लोकों को

जीतने की इच्छा थी ।।२५।।

सुबोधिनी—शाल्वस्याप्यनीपकाः सेनारक्षकाः तेषां च **शस्त्रौघाः** तैः **सर्वशः** पीडिताः अपि **वृष्णिवीराः स्वं स्वं रणं न तत्यजुः** । अनेन भागक्लृप्त्या युद्धं जायत इति लक्ष्यते । अपरित्यागे हेतुः **लोकद्वयजिगीषव** इति । जये मरणे वा इहलो कीर्तिः परलोके स्वर्ग इति अतो लोकद्वयजयार्थ परित्यागः ।।२५।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि यादव वीर, शाल्व के सेनापतियों के शस्त्र समूहों से पीड़ित हुवे तो अपने २ युद्ध स्थान से हटे नहीं वहां ही डटे रहे, इससे यों समझा जाता है कि प्रत्येक के युद्ध स्थान निश्चित था वहां ही हर एक लड़ते रहे, पीड़ित होते हुए भी स्थान न छोड़ने का कारण था की यादवों को दोनों लोकों को जीतने की इच्छा थी, अर्थात् जीत होगी तो इस लोक में होगा और युद्ध में मरने पर परलोक में स्वर्ग प्राप्ति होगी, इस प्रकार हम दोनों लोक जीत लेंगे।

आभास—एवं साधारणयुद्धमुक्त्वा प्रधानयुद्धमाह **शाल्वामात्य** इति ।

आभासार्थ—यों साधारण युद्ध कह कर अब 'शाल्वामात्य' श्लोक से मुख्य युद्ध कहते हैं ।

श्लोक—**शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक् प्रपीडितः ।**
आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्बली ।।२६।।

श्लोकार्थ—पहले प्रद्युम्न से पीड़ित द्युमान नाम वाले शाल्व के बली अमा ने लोहे की गदा से, प्रद्युम्न पर प्रहार कर गर्जना की ।

सुबोधिनी—अमात्यो मुख्यमन्त्री शाल्वतुल्यः नाम्ना **द्युमान्** कान्तियुक्तश्च पूर्वं प्रद्युम्नात्पीडितः सन् **आसाद्य** निकटे आगत्य **मौर्व्या** कृष्णलोहनिर्मितया तृणविशेषबद्धया वा **गदया व्याहत्य** ताडयित्वा **व्यनदत्** छद्वदं कृतवान् । जितं जि मिति । यतो **बली** गदायां बलं प्रधानं तेन मह पीडा जातेति सूचितम् ।।२६।।

व्याख्यार्थ—'अमात्य' अर्थात् मुख्य मंत्री जो शाल्व के समान था । जिसका नाम द्युमान थ कान्तिवाला था । पहले प्रद्युम्न से पीड़ित होता हुआ निकट आकर, काले लोहे से बनी अ मूज नाम घास से बन्धी हुई गदा से प्रद्युम्न पर प्रहार किया, बाद में गर्जना की कि मैंने प्रद्युम्न जीत लिया, जीत लिया' क्योंकि बलवान् था । गदा युद्ध में बल ही प्रधान है उससे प्रद्युम्न विशेष पीड़ा हुई । यह सूचित किया ।।२६।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **तं द्युमदिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ यह 'तं द्युमद्गदया' श्लोक में कहते हैं

श्लोक—**तं द्युमद्गदया शीर्णवक्षस्थलमरिंदमम् ।**
अपोवाह रणात्सूतो धर्मविद्दारुकात्मजः ।।२७।।

श्लोकार्थ—शत्रु को दमन करने वाले उसका (प्रद्युम्न का) गदा से वक्षःस्थल विदारित हो गया तब धर्म जानने वाला दारुक का पुत्र सूत उसको युद्ध भूमि से दूर ले गया ॥२७॥

सुबोधिनी—शरीरस्यैव महती पीडा जाता। यः कश्चनात्रापकर्षः स सर्वोऽपि महादेवसन्मान-नार्थः। **द्यु मतः** प्रसिद्धस्य **गदया शीर्णं वक्षस्थलं** यस्येति। स्वभावतोऽप्यप्रयोजकत्वं वारयति **अरिंदममिति**। तदा रणस्थानात् तस्य **सूतः अपोवाह** दूरे नीतवान्। सोऽपि शत्रुपक्षपातीति शङ्काव्युदासार्थमाह **दारुकात्मज** इति। तस्य भयान्नयनं वारयति **धर्मविदिति** ॥२७॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न के शरीर को ही विशेष पीड़ा हुई, जो कुछ यहाँ प्रद्युम्न का अनादर है वह सब महादेवजी के सन्मान के लिए ही है। प्रसिद्ध द्युमान की गदा से जिसका वक्षस्थल विदीर्ण हो गया है, किन्तु वह (प्रद्युम्न) स्वभाव से दृढ था यह 'अरिंदम'[1] विशेषण से सूचित किया है, उस समय उसका 'सूत'[2] उसको युद्ध स्थान से दूर ले गया, दूर ले जाने से शत्रु का पक्षपाती दीखता है ऐसी शंका का निवारण 'दारुकात्मज' और धर्म वित्त' दो विशेषणों से करते हैं, दारुक का पुत्र था इसलिए शत्रु पक्ष वाला नहीं था। यह स्पष्ट किया है और उसको भय से ले गया यों भी नहीं है किन्तु धर्म को जानने वाला था इसलिए ले गया था, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि सारथी ऐसी हालत में दूर ले जावे ॥२७॥

आभास—ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **लब्धसंज्ञो मुहूर्तेनेति**।

आभासार्थ—अनन्तर क्या हुवा यह 'लब्धसंज्ञो' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत्।**
अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—दो घड़ी के अनन्तर प्रद्युम्न सचेत हुआ तब सारथी को कहने लगा कि हे सूत तुमने अच्छा कार्य नहीं किया, जो मुझे रणभूमि से यहाँ दूर ले आया ॥२८॥

सुबोधिनी—मुहूर्तमात्रं मूर्च्छितः प्रद्युम्नस्य रुक्मिणीपुत्रत्वात् मातुलादिपक्षपाताद्वा। ततो भगवदनुग्रहात् मुहूर्तानन्तरं **लब्धसंज्ञः** यतः **कार्ष्णिः** कृष्णपुत्रः अग्रे सारथिं दृष्ट्वा अनभिप्रेतं पलायनमिति बोधयन्नब्रवीत्। **अहो** इति तस्य तिरस्कारवचनम्। **इयं ममापसर्पणं अत्यन्तम-साधु** सर्वत्र **निन्दितम्**। **सूतेति** संबोधनं परि-ज्ञानार्थम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न दो घड़ी मूर्च्छित रहे बाद में सचेत हो गए क्योंकि एक तो रुक्मिणी के पुत्र थे और मामे आदि के पक्षपाती थे इस कारण से भगवान् का अनुग्रह हुआ जिससे दो घड़ी ही मूर्च्छा हुई। साथ में कृष्ण के पुत्र थे, सचेत होते ही अपने आगे सूत को देखा, रण से भाग आना

---

१ शत्रुओं का दमन करने वाला वीर था। २ सारथी

पसन्द न होने से सारथी को कहने लगे कि 'अहो' यह शब्द तिरस्कार सूचक है। रण से मुझे दूर ले आना बहुत बुरा है कारण कि इससे सर्वत्र निन्दा होगी सूत ! यह सम्बोधन इस वास्ते दिया है कि तुम इस बात को जानते हो ॥२८॥

आभास—ननु लोके पलायमाना अपि शूरा दृश्यन्ते तत्राह **न यदूनां कुले जात** इति।

आभासार्थ—लोक में देखा जाता है कि शूरवीर भी रण से भाग जाते हैं। इसके उत्तर में कहते है कि 'न यदूनां कुले जातः' ऐसा यादवों के कुल में नहीं हुआ है।

श्लोक—**न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः ।**
विना मां क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकल्मषात् ॥२९॥

श्लोकार्थ— आज तक यादवों के कुल में ऐसा कोई नही हुआ है जो रण से भाग आया हो केवल में ही ऐसा कायर चित्त हुआ हूं। यह कलङ्क सूत ने ही मुझे लगाया है ॥२९॥

सुबोधिनी—रणविच्युत इति। रणस्थानादपसरणं न श्रुतपूर्वं मरणं वा जयो वेति न तृतीयः पक्षः। नन्वद्य चेज्जातः तदापि व्याप्तिर्भग्नैवेत्याशङ्क्याह विना मां क्लीबचित्तेन सूतेनेति। अहमेवैकः सोऽपि सूतेन तथा जातः सूतोपि अद्यैव तथा जातः क्लीबचित्त इति। अत **प्राप्तकल्मषो**ऽहम् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—यदुकुल का कोई पुरुष कोई युद्ध भूमि से भाग आया था यह आगे कभी नहीं सुना है। युद्ध में मर जाना अथवा विजय प्राप्त करना, तीसरा पक्ष ही नहीं। यदि आज भी हुआ तो यह व्याप्ति भी नष्ट हुई इस शका का उत्तर देते है कि कायर चित्त मैं ही अकेला ऐसा यदुकुल में हुआ हूँ वह भी सूत के कारण से हुआ हूँ, सूत डरपोक है वह भी आज ही जानने में आया है इसलिए मैं कलङ्कित हुआ हूँ ॥२९॥

आभास—ननु किमेतावता तत्राह **किं न वक्ष्य** इति।

आभासार्थ—इतना कहने से क्या प्रयोजन ? इस प्रकार की शङ्का का समाधान 'किं नु वक्ष्ये' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**किं नु वक्ष्येऽभिसंगम्य पितरौ रामकेशवौ ।**
युद्धाद्धर्म्यादपक्रान्तः पृष्टस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥३०॥

श्लोकार्थ— पिता राम कृष्ण से मिलूंगा तब क्या कह सकूंगा, जब वे पूछेगें तब युद्ध में से भाग कर आया हुआ मैं अपनी सामर्थ्य के विषय में क्या बोल सकूंगा ॥३०॥

सुबोधिनी—पितरौ रामकेशवावभिसंगम्य। नु इति वितर्के किं वक्ष्ये। वचने प्रकारः कोऽपि नास्तीति। ननु प्रहार एव वर्तते तत्राह **युद्धाद्धर्म्यादपक्रान्त** इति। धर्मादनपेतं युद्धं अतस्तस्मादपक्रमः अधर्मो भवति। तर्हि तूष्णीं स्थातव्यमिति चेत्तत्राह **पृष्टः** इति। तर्हि अशक्तिर्वक्तव्येति चेत् **आत्मनः क्षममिति**। न हि मया अशक्तिर्वक्तुं शक्या ॥३०॥

व्याख्यार्थ—पिता राम-कृष्ण के पास जाकर क्या कहूँगा 'नु' शब्द यहाँ अनुमान अर्थ में दया है जिसका आशय है, क्या कहूँगा ? अर्थात् कहने का कोई ढंग ही नहीं दिखता है 'वक्षः स्थल' र प्रहार हुआ है यह दिखा देना, जिसके उत्तर में कहते हैं कि धर्म युद्ध से तो मैं भाग आया हूँ, ससे भाग निकलना अधर्म है क्योंकि यह युद्ध वह है जिसमें धर्म का उल्लङ्घन नहीं करना है, मैंने तो वहाँ से भाग कर अधर्म किया है यदि यों है तो मौन धारण कर लेना, कुछ बोलना ही नहीं, इस पर कहते हैं कि यदि वे पूछें तो अपनी अशक्ति कह देना, यों कहते हो तो, मुझसे अपना असामर्थ्य बताना बन न सकेगा ॥३०॥

आभास—किञ्च । सूतदोषेप्युक्ते कदाचित्पित्रा अङ्गीकर्तव्यम् । न तु भ्रातृपत्नीभिः हास्यस्वभावाभिरित्याह **व्यक्तं मे कथयिष्यन्तीति** ।

आभासार्थ—यदि यह दोष सारथी का है यों कह दूं तो कदाचित् पिताजी इसको मान जाय किन्तु हास्य स्वभाव वाली भौजाईयाँ तो नहीं मानेंगी, यह 'व्यक्तं मे' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।
क्लैव्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥३१॥**

श्लोकार्थ—मेरी भौजाइयां हँसती हँसती मुझे कहेंगी कि हे वीर ! दूसरों के साथ युद्ध करते हुए आपमें क्लीवता (नपुसंकता) कैसे आ गई ॥३१॥

सुबोधिनी—उक्तेप्युपाये विपरीतं ज्ञात्वा हसन्त्यो भविष्यन्ति यतो **भ्रातृजामयः** कुलस्त्रियः एवं च वक्ष्यन्तीत्याह **क्लैव्यं कथं कथं वीरेति** । हे वीर विपरीतार्थं संबोधनम् । **अन्यैः** सह ते **क्लैव्यं कथं कथमिति** श्रवणादरे वीप्सा । क्लैव्यं वा **कथयिष्यन्ति** । हानिकथनेप्युपहासः अन्यैः सह कथं कथमिति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—उपाय कहने पर भी विपरीत समझ कर हँसने लगेगी, क्योंकि भौजाईयां कुलवती स्त्रियां हैं और हास्य (मसखरी) करती हुई इस प्रकार कहेंगी कि हे वीर ! दूसरों से लड़ते हुए नपुसंकता कैसे २ तुममें आई, यों कथं कथं (कैसे कैसे) दो बार श्रवण में आदर व प्रेम प्रकट करने के लिए कहा है, बल की हानि कहने में भी उपहास ही करेंगी ॥३१॥

आभास—एवमुपालब्धस्य सूतस्य वचनं **धर्मं विजानतेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपालम्भ (ताना) प्राप्त सूत 'धर्म विजानता' श्लोक में उत्तर देता है ।

श्लोक—सारथिरुवाच—**धर्मं विजानतायुष्मन्कृतमेतन्मया विभो ।
सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथिं रथी ॥३२॥**

श्लोकार्थ—सारथी ने कहा कि हे आयुष्मान ! हे विभो ! मैंने तो मेरा धर्म जानकर यह काम किया है क्योंकि सारथी का धर्म है कि जब रथी संकट में पड़े उस समय सारथी उसको उस संकट से बचावे ॥३२॥

सुबोधिनी—धर्मस्वरूपमग्रे वक्तव्यं । तर्हि मरणमस्तु किमित्यपसरणमिति चेत्तत्राह **आयुष्मन्निति** । आयुर्वर्तते । एवं सत्युपेक्षा महद्दोषाय । अत आयुर्धर्मं च विजानता **मयैतत्कृतम्** । धर्ममाह **सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेदिति** । ममाप्येवंभावे त्वया **रक्षणीय इत्युपदेशार्थं वचनम्** ।।३२।।

व्याख्यार्थ—धर्म का स्वरूप, उत्तरार्ध में कहना चाहिए, यदि कहो कि मृत्यु भले हो जाती किन्तु रण से दूर बाहर नहीं लाना चाहिए था । जिसके उत्तर में कहता है कि आयुष्मन् । अभी आपकी आयु है, यदि उपेक्षा की जाती तो मुझे महान् दोष लगता, अतः आयु और धर्म को जानने वाले मैंने यों किया है, अब धर्म कहता है 'सूतः कृच्छ्रगत रक्षेत्' सूत, संकट मे पड़े हुए रथी की रक्षा करे, यों कहने का यह भी भावार्थ है कि सूत कहता है कि यदि मेरी भी ऐसी दशा हो तो आपको भी इस तरह मेरी रक्षा करनी चाहिए ।।३२।।

आभास—इदं त्वया कुतोवगतमित्याशङ्क्याह **एतद्विदित्वा तु भवानिति** ।

आभासार्थ—यह तूने कहाँ से जाना ? इस शङ्का का उत्तर 'एतद्विदित्वा' श्लोक में देता है ।

श्लोक—एतद्विदित्वा तु भवान्मयापोवाहितो रणात् ।
उपस्पृष्टः परेणेति मूर्च्छितो गदया हतः ।।३३।।

श्लोकार्थ—यह जानकर मैं आपको युद्ध से हटा ले आया हूँ । आपको शत्रु के हाथ से गदा लगी जिससे आप पीड़ित होके मूर्च्छित हो गये तब मैं आपको युद्ध से बाहर ले आया ।।३३।।

सुबोधिनी—तु शब्दः अज्ञानादागमनं वारयति । एतद्धर्मं ज्ञात्वैव भवान् रणादपोवाहितः । किं मम जातमित्याकाङ्क्षायामाह उपस्पृष्टः परेणेतीति । इत्यमुना प्रकारेण हृदयविदारणरूपेण परेणोपस्पृष्टः शत्रुणा ताडितः । ताडनमाह गदया हतः । ततो मूर्च्छित इति । एतत्कृच्छ्रगमनम् । अतो धर्मकीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीय इति सिद्धान्त ।।३३।।

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द से सारथी अपनी अज्ञता का निवारण करता है अर्थात् मैंने आपको युद्ध से अज्ञानता से नही हटाया है किन्तु धर्म जानकर आपको रणभूमि से बाहर ले आया हूं । मुझे क्या हुआ जो ले आया ? जिसका उत्तर देता है कि शत्रु ने गदा से आपके हृदय को चीर डाला जिससे आप मूर्छित हो गए इस प्रकार का संकट आप पर आया देख धर्म और कीर्ति के विरोध में धर्म की ही रक्षा करनी चाहिए अतः मैने धर्म की रक्षा करना ही सिद्धान्त (निर्णय) जानकर आपको रण से बाहर लाया ।।३३।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे सप्तविंशाध्यायविवरणम् ।। २५ ।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७३वें अध्याय (उत्तरार्ध के २७वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन
अवान्तर प्रकरण का षष्ठम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

श्रीमद्भागवत महापुराण

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ७७वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७४वां अध्याय

उत्तरार्ध २८वां अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

"अध्याय—" ७

शाल्व उद्धार

कारिका—अष्टाविंशेतिपीडायां भगवत्स्मरणे कृते ।
तद्दुःखवारणं कृष्णश्चकारेति निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—दशम स्कन्ध भागवत के उत्तरार्ध के इस २८वें अध्याय में, सात्विक साधन प्रकरण के ७वें अध्याय में यों कहने में आया है कि जब यादव अति पीड़ित हुए तब उन्होंने श्रीकृष्ण का स्मरण किया, जिससे उनको श्रीकृष्ण ने दुःख से छुड़ाया ॥१॥

कारिका—द्युमतोपि वधं कृष्णश्चेत्कुर्यात्स्वयमागतः ।
तदा प्रद्युम्नदुःखस्य न निवृत्तिर्भवेत् क्वचित् ॥२॥

कारिकार्थ—यदि श्रीकृष्ण पधार कर, स्वयं द्युमान् का वध करते तो, प्रद्युम्न का यश न होता जिससे प्रद्युम्न का दुःख कभी भी मिटता नहीं ॥२॥

कारिका—**अतः प्रद्युम्नहस्तेन मारणं तस्य रूप्यते ।
भक्तानां दुःखदानं तु न युक्तमिति वै हरिः ।।३।।**

कारिकार्थ—इस कारण से ही द्युमान् का वध प्रद्युम्न के हाथ से हुए क वर्णन भी कहा है' भक्तों को दुःख प्राप्त हो, यह भगवान् को योग्य देखने में न आवे ।३

कारिका—**मतान्तरेणाशक्यत्वं बोधयामास वाक्यतः ।
अन्यथा श्री शुको लीलां तादृशीं नैव वर्णयेत् ।।४।।**

कारिकार्थ—अतः भगवान् मतान्तर से अपनी[1] अशक्ति दूसरों के वाक्य से कहते हैं, अन्यथा श्री शुकदेवजी वैसी लीला[2] का वर्णन ही नही करते ।

कारिका—**तादृग्लीलान्तरमिव वर्णितां वा न दूषयेत् ।
एवं सिद्धान्तमज्ञात्वा लोको भ्राम्यति सर्वथा ।।५।।**

कारिकार्थ—और वैसी ही वर्णित अन्य लीलाओं का खण्डन करते इसी तर वैसे सिद्धान्त को न जानने से लोक सर्व प्रकार भ्रम में पड़ जाते हैं ।।५।।

कारिका—**कल्पान्तरे तथा चक्रे सूक्ष्मांशस्यावतारतः ।
निरोधे यदि नो ब्रूयात् सिद्धान्तो हि विरुध्यते ।।६।।**

कारिकार्थ—अन्य कल्प में सूक्ष्म अंश से लिए हुए अवतार से यों किया होग यह चरित्र यदि यहां (निरोध में) न कहें तो सिद्धान्त में विरोध हो जाय इससे य शुकदेवजी ने परमत भाषा कही है ।।६।।

कारिका—**शास्त्रार्थे दोषनाशाय निराकरणमुच्यते ।
अतः स्कन्धार्थशास्त्रार्थौ पक्षाभ्यामिह रूपितौ ।।७।।**

कारिकार्थ—दोष दूर करने के लिए शास्त्रार्थ में उसका निराकरण किया ग

१—बलभद्र रूप से शाल्व को जीतने की अशक्यता २—यह लीला अंशावतार की है इसि केवल निरोध सिद्धि के लिए ही इस लीला का वर्णन है, भगवान् सर्व समर्थ हैं, उनसे कोई भी व सिद्ध न हो सके वह असम्भव है । इसी तरह जब सबके यह कार्य (दुःख निवृत्ति) अशक्य हो ज है तब भगवान् की ही शरण लेनी चाहिए ऐसी बुद्धि होती है जिससे निरोध सिद्ध होता है ।

, इससे यहां दो पक्षों से स्कन्ध का अर्थ और शास्त्र का अर्थ कहा है ।।७।।

आभास—पूर्वाध्यायान्ते द्यु मतोपकर्षे पश्चात्तापो निरूपितः । प्रद्यु म्नस्य तदानी द्यु मद्वधार्थं प्रवृत्तिरुच्यते स तूपस्पृश्येति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में द्यु मान् द्वारा प्रद्यु म्न का पतन होने से उसको पश्चाताप आ जिसका वर्णन किया, अनन्तर प्रद्यु म्न द्यु मान् के वध के लिए प्रवृत हुआ वह 'स तूपस्पृश्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—स तूपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकार्मुकः ।
नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ।।१।।

श्लोकार्थ—उसने (प्रद्यु म्न ने) तो आचमन कर, कवच पहन, धनुष धारण कर सारथी को कहा कि, मुझे वीर द्यु मान् के पास ले चल ।।१।।

सुबोधिनी—मूर्च्छानन्तरं तथा कर्तव्यमिति सलिलोपस्पर्शनमाचमनं स्नानमित्येके । ततः पुन दंशितो बद्धकवचः । नारायणकवचादिना लौकिकेन च । ततो धृतकार्मुकः । अनेन पूर्वं कवचरहित एव स्वपौरुषाभिमानात् गत इति लक्ष्यते । अत एव गर्वनाशार्थं भङ्गोपि । ततः मां द्यु मतः पार्श्वं नयेति सूतं प्रति वचनम् । शत्रोः प्रशंसामाह—**वीरस्येति** ।।१।।

व्याख्यार्थ—मूर्च्छा के बाद जल का स्पर्श अर्थात् आचमन करना चाहिए जिससे 'आचमन' किया, कितने ही 'सलिल उपस्पर्शनम्' का भावार्थ बताते हैं कि प्रद्यु म्न ने मूर्च्छा के पश्चात् स्नान किया, यों करने के बाद, नारायणकवच पढ़कर अथवा लौकिक प्रकार से कवच धारण किया, पश्चात् धनुष धारण किया, कवच धारण किया यों कहने से यह स्पष्ट किया कि, प्रद्यु म्न पहले अपनी वीरता के अभिमान से बिना कवच धारण किये युद्ध में गए थे, इस अभिमान के कारण ही, इनके अहंकार का नाश होवे, इसलिए इनकी पराजय भी हुई । पश्चात् सूत को कहने लगे कि मुझे द्यु मान् के पास ले चल, उस शत्रु की प्रशंसा करते हैं कि वह वीर है ॥१॥

आभास—स तु वञ्चितः सन् लज्जया आक्रोशेन मारित इति दोषव्यावृत्त्यर्थमाह विधमन्तं स्वसैन्यानीति ।

आभासार्थ—द्यु मान् को तो वञ्चना से तथा लज्जा से अथवा कोलाहल से मारा, इस कारण से अर्थात् यों करने से दोष न लगे, जिसके लिए 'विधमन्तं' श्लोक कहा है ।

श्लोक—विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुक्मिणीसुतः ।
प्रतिहत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ।।२।।

श्लोकार्थ—अपनी सैना का संहार करने वाले द्यु मान् को रोककर (खोजकर)

प्रद्युम्न ने हँसते हुए उसके आठ बाण लगाए (मारे) ।।२।।

सुबोधनी—स्वबलघातकत्वान्मारणीय एवेत्यर्थः । तथाप्याक्रोशेन मारणादाह **रुक्मिणीसुत** इति । प्रतिहृत्य अन्विष्य भर्त्सयित्वा वा **अष्टभिर्नाराचैः प्रत्यविध्यत्** । ससामग्रीकं नाशितवानेवेत्यर्थः । **स्मयन्निति** । अधुनास्य बलं द्रष्टव्यमित्यर्थः ।।२।।

व्याख्यार्थ—जो अपनी सेना का नाश करे वह मारने के ही योग्य है, तो भी कोलाहल उसको मारा, क्योंकि 'रुक्मिणी के पुत्र हैं' 'प्रतिहृत्य' सेना में छिपा हुआ था वहां से ढूंढकर हल्ला करते हुए, आठ बाणों से बेधा । उसके साथ जो युद्ध सामग्री थी उसका भी नाश किय नाश के समय आप हँस रहे थे, जिसका भाव यह था कि द्युमान् का बल अब देखने योग्य है। कैसा वीर है ? ।।३।।

आभास—अष्टबाणानां विनियोगमाह **चतुर्भिश्चतुरो वाहानिति** ।

आभासार्थ—"चतुर्भिश्चतुरो" श्लोक में आठ बाण लगाने का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**चतुर्भिश्चतुरो वाहान्सूतमेकेन चाहनत् ।
द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ।।३।।**

श्लोकार्थ—चार बाणों से चार घोड़े व एक बाण से सारथी मारा, एक धनुष, एक से ध्वजा और एक से उसका शिर काटा ।।५।।

सुबोधिनी—द्युमतः शिरः **अन्येनाष्टमेन** । यानारुह्य येन प्रेरितो येन करणेन येन लब्धप्रतिष्ठः तत्सर्वमच्छिनत् ।।३।।

व्याख्यार्थ—आठवें बाण से द्युमान् का शिर काट डाला, जिन घोड़ों पर चढ़कर लड़ते उनका चार बाणों से नाश किया, जो सारथी प्रेरक (प्रेरणा करने वाला) था, उसको एक बाण मार डाला, जिस धनुष से लड़ता था उसको भी एक बाण से नष्ट किया, जिस ध्वजा से प्रति प्राप्त की थी उस ध्वजा को एक ही बाण से काट डाला ।।३।।

आभास—ततोऽन्येपि प्रधाने मारिते तद्बलं मारितवन्त इत्याह **गदसात्यकि साम्बाद्या** इति ।

आभासार्थ—प्रधान के मरने पर शेष उसकी सेना को दूसरे भी मारने लगे यह 'गदसात्य श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।
पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः ॥४॥

श्लोकार्थ—गद, सात्यकि व साम्ब आदि ज्यों ज्यों सौभपति की सेना को मारते है त्यों त्यों वे सब शिर कट कर समुद्र में गिरते थे ॥४॥

सुबोधिनी—गदया प्रद्युम्नो मारित इति स्वबलेन तत्सैन्यं मारितवन्तः । गदयामेव शौर्य बलं च व्यापृतं भवति । ततः **सौभेयाः सर्वे** अन्तरिक्षे युद्धार्थमागताः पलायमाना वा समुद्रे पतिताः । **संछिन्नकन्धराः** सन्तः ॥४॥

व्याख्यार्थ—गदा से प्रद्युम्न के ऊपर प्रहार हुआ था, इसलिए प्रद्युम्न अपने बल से शत्रु की सेना को मारने लगे, वीरता और बल गदा में ही रहा हुआ है, बाद में सौभ के सैनिक युद्ध के लिए आकाश में आ गए, किन्तु पराजय के डर से भागने लगे तो भी उनके सैनिकों के शिर धड़ से अलग होके समुद्र में गिरने लगे ॥४॥

आभास—एवं भगवत्प्रतीक्षार्थं यादवशाल्वानां जयापजयरहितानां युद्धानुवृत्तिमाह एवं यदूनामिति ।

आभासार्थ— भगवान् के आने की प्रतीक्षा के लिए बिना जय अथवा पराजय के यादव और शाल्वों के युद्ध की अनुवृत्ति एवं 'यदूनां' श्लोक मे कहते है ।

श्लोक—एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।
युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥५॥

श्लोकार्थ— इसी तरह यादव और शाल्व के सैनिक परस्पर हनन करते हुए सत्ताईस दिन तक, कोलाहल वाला घोर तुमुल युद्ध करने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—**इतरेतरं निघ्नतामिति** समता । **त्रिणवरात्रं** सप्तविंशत्यहोरात्रम् । तुमुलमत्याक्रोशयुक्तम् । उल्बणं क्रूरं च ॥५॥

व्याख्यार्थ—परस्पर हनन करते थे, इन शब्दों से यह सूचित किया है कि दोनों समान थे, 'त्रिणवरात्रं' का अर्थ है सत्ताईस दिन तक, 'तुमुल' पद का भाव है कि 'भीषण' 'उल्बण' का अर्थ है 'क्रूर', तात्पर्य यह है कि सत्ताईस दिन तक दोनों परस्पर हनन करते हुए क्रूर और भीषण युद्ध करने लगे ॥५॥

आभास—एवं यादवानां दुरत्ययं व्यसनं गतानां महद्दुःखं निरूप्य भगवत एवमुपेक्षाऽयुक्तेति दोषपरिहारार्थं मतान्तरमारभते **इन्द्रप्रस्थं** गत इति ।

आभासार्थ—इसी भांति मिट न सके ऐसे कष्ट को प्राप्त यादवों का महान् दुःख निरूपण कर, यों ऐसे समय में भी भगवान् उपेक्षा करें वह योग्य नहीं है, ऐसे दोषारोपण के परिहार्थ दूसरा मत 'इन्द्रप्रस्थं' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—श्री शुक उवाच—इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।
राजसूयेथ निवृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ।।६।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण तो युधिष्ठिर के बुलाने से इन्द्रप्रस्थ पधारे थे, पश्चात् राजसूय यज्ञ पूर्ण हुआ और शिशुपाल भी मारा गया, अनन्तर ।।६।।

सुबोधिनी—मतान्तरे पूर्वोक्तन्यायेन न गमनागमनेनापि संभ्रमस्तथा । तदर्थं तत्रत्यां कथामेवाह **धर्मसूनुना आहूतः** स्वयमेकाकी **इन्द्रप्रस्थं गतः** पश्चाद्वलभद्रोऽप्याहूतः । मानभङ्गस्तु तस्मिन् काले नास्ति । विद्यमानोऽपि प्रकारान्तरे वा भविष्यति । अतः बलभद्रसङ्घावोऽपि न दोषाय । ततो **राजसूये निवृत्ते** भिन्नप्रक्रमेण समाप्ते **शिशुपाले च** मृते तदनन्तरमेव ।।६।।

व्याख्यार्थ—दूसरे मत में, पहले कहे हुए नियमानुसार इन्द्रप्रस्थ जाते और वहां से लौटते समय भी वैसा आडम्बर नहीं है, इसलिए वहां की कथा को कहते हैं, युधिष्ठिर ने बुलाए तब आप इन्द्रप्रस्थ एकाकी गए पीछे बलभद्र को भी बुलाया, उस समय दुर्योधन का मानभङ्ग न हुआ था ? होने वाला हो तो भी अन्य प्रकार से होगा, अतः बलभद्र का वहां होना भी दोषकारक नहीं है, पश्चात् राजसूय 'यज्ञ' दूसरे प्रकार से पूर्ण हुआ और शिशुपाल भी मरा जिसके अनन्तर-दूसरे श्लोक से अन्वय है ।।६।।

श्लोक—कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।
निमित्तान्यतिघोराणि पश्यन्द्वारवतीं ययौ ।।७।।

श्लोकार्थ—वृद्ध कौरवों से मुनियों और पुत्रों सहित भूआ पृथा से आज्ञा लेकर, अति भयानक उत्पात देखते हुए, द्वारका पधारे ।।७।।

सुबोधिनी—कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य पुत्रसहितां पितृभगिनीं च पृष्ट्वा अपशकुनेषु जायमानेषु द्वारकाऽस्वास्थ्यज्ञापकेषु प्राप्तशङ्क इव **घोराणि निमित्तानि पश्यन् द्वारवतीं ययौ** ।।७।।

व्याख्यार्थ—वृद्ध कौरवों से आज्ञा लेकर, पुत्रों सहित पृथा से पूछकर, द्वारका में अस्वस्थता बताने वाले अति भयानक अपशकुनों को देखते हुए द्वारका गए ।।७।।

आभास—मध्ये गच्छतश्चिन्तामाह **आह चेति** ।

आभासार्थ—जाते हुए मध्य में (मार्ग में) हुई चिन्ता का 'आह चाह' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक —**आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसंगतः ।**
राजन्यांश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥८॥

श्लोकार्थ—जाते हुए मन में कहने लगे कि मैं बड़े भाई के साथ यहां आ गया, शिशुपाल के पक्षवाले, निश्चय है कि, मेरी पुरी को नाश करते होंगे ॥८॥

सुबोधिनी—प्रथमतः **अहमिव** इन्द्रप्रस्थे आगतः पश्चादार्यमिश्रेण बलभद्रेण **अभिसंगतो** मिलितः । सहैव वा आगमनं । ततो रक्षार्थमवतीर्णाशद्वयमपि द्वारकायां नास्तीति **चैद्यपक्षीया राजन्या** दैत्याः **नूनं मे पुरीं हन्युः** ॥८॥

व्याख्यार्थ—पहले में यहाँ इन्द्रप्रस्थ में आ गया हूं, पश्चात् बलभद्र भी आगए, तो उनसे मिलकर यहां ही रह गया, अथवा साथ ही आना हुआ है, रक्षण के लिए अवतार धारण करने वाले दोनों भी द्वारका में विद्यमान नहीं हैं, अतः चैद्य (शिशुपाल) के पक्ष वाले क्षत्रिय राजा लोग जो दैत्य हैं वे निश्चय मेरी पुरी को नाश करते होंगे ॥८॥

कारिका—**निमित्तदर्शनं चिन्ताभङ्गश्चेति निरूप्यते ।**
मतान्तरे दोषभावं मोहका वर्णयन्ति हि ॥

कारिकार्थ—अपशकुन देखना, चिन्ता और भङ्ग अर्थात् नगरी का नाश निरूपण किया है, कारण कि मोह उत्पन्न करने वाले दूसरों के मन में दोष है यों वर्णन करते हैं।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **वीक्ष्य तत्कदनमिति** ।

आभासार्थः—बाद में जो हुआ वह 'वीक्ष्य तत्कदनं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— **वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।**
सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह-केशवः ॥९॥

श्लोकार्थ—अपनी सेना का नाश, सौभ और शाल्व को देख, नगर की रक्षा का प्रबन्ध कर, केशव ने दारुक सारथी को कहा ॥९॥

सुबोधिनी—अहोरात्रं युद्धक्लेशं **वीक्ष्य पुररक्षणमर्थाद्बलभद्रं निरूप्य** यथाकथञ्चित्कथाया अनुवादान्नात्रासमर्पकतादोषः नापि क्रियायाः क्रियान्तरोल्लङ्घनदोषः । **शौभं च निरीक्ष्य शाल्वराजं च** निरीक्ष्य स्वसारथिं **दारुकं प्रति प्राह** । स्वतः समर्थस्य सूतप्रेरणमयुक्तमित्याशङ्क्याह **केशव** इति । यथा ब्रह्मशिवौ प्रेरयति तथैनमपीत्यर्थः ॥९॥

व्याख्यार्थ—दिन रात्रि अपने सैनिकों को युद्ध से होता दुःख देख, नगरी की रक्षार्थ बलभद्र को कह कर, जैसे किसी प्रकार भी कथा के अनुवाद करने से, यहां, बलभद्र को रक्षण के लिए नहीं

कहा है यह दोष और सारथि को रथ ले जाने को कहा जिससे पहले नगर के रक्षण की क्रिया का उल्लङ्घन रूप दोष नहीं है, सौभ और शाल्वराज को देखकर श्रीकृष्ण ने अपने सारथि को कहा, जब श्रीकृष्ण आप सर्व प्रकार समर्थ हैं तब सारथि को प्रेरणा करें, वह योग्य नहीं है। इस शङ्का का समाधान करने के लिए इनका नाम यहां 'केशव' कहा है जिसका भावार्थ है कि जैसे ब्रह्म और शिव को प्रेरणा करते हैं वैसे इसको भी प्रेरणा की है ।।९।।

आभास—तस्मिन् कल्पे सारथिः प्राकृत इति संबोधयति—**रथं प्रापयेति** ।

आभासार्थ—उस कल्प में सारथि प्राकृत था इसलिए 'रथं प्रापय' श्लोक में सूत को सूचित करते हैं।

श्लोक – **रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।**
संभ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ।।१०।।

श्लोकार्थ—हे सूत! मेरे रथ को शीघ्र ही शाल्व के पास ले चल, तू किसी प्रकार डर मत, यह सौभराट् मायावी है ।।१०।।

सुबोधिनी—संभ्रमो भयं । ते त्वया । यतः सौभराट् मायावीति तस्य स्तुतिः । पूर्वप्रेरणायां दारुको विकलः स्थित इति ।।१०।।

व्याख्यार्थ—'संभ्रमः' अर्थात् भय, तुझे (भय) नहीं करना चाहिए तात्पर्य यह है कि तू डर मत, क्योंकि यह सौभराट् (सौभ विमान में प्रकाशमान) शाल्व मायावी है, मायावी विशेषण से उसकी स्तुति की है, जब प्रेरणा की तब दारुक मूढ था, प्रेरणा के अनन्तर मूढता निवृत्त हो गई ।।१०।।

श्लोक—**इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।**
विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ।।११।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार आज्ञा होते ही, रथ में बैठकर दारुक ने रथ चलाया। अपने (यादवों) और शत्रु (शाल्व के पक्ष वालों) ने गरुड़ को युद्ध भूमि में प्रवेश करता हुआ देखा ।।११।।

सुबोधिनी—एवं भगवता उक्तः भगवन्तं मानयामास तथैव करिष्यामीति भयं त्यक्त्वा प्रवृत्त इत्यर्थः । रथं सम्यगास्थाय यतो दारूणां शिरोरूपः सुखरूपो वा अतस्तदिच्छानुसारेण दारूणां चलनमुक्तम् । ततो रथस्य शीघ्रगतया रेणुभिराच्छादने रथमदृष्ट्वैव सर्व एव स्वे परे च अरुणानुजं गरुडमेव विशन्तं ददृशुः ।।११।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् की आज्ञा पाया हुआ दारुक कहने लगा कि जैसी आपने आज्ञा की है वैसा ही करूंगा। यों कहकर, निडर होकर रथ चलाने में प्रवृत्त हुआ। रथ में अच्छी

तरह बैठा क्योंकि इसका नाम है 'दारुक' जिसका अर्थ है, 'दारु' काष्ठ का 'क' सुख रूप अथवा शिरोरूप वह है, जिसका तात्पर्य है कि, इसकी इच्छानुसार ही काष्ठ (रथ) चलता है, अतः रथ बहुत तेज चला जिससे रेत उड़ी, उस रेत से रथ आच्छादित हो गया, इस कारण से रथ को कोई देख न सका, अपने और शत्रु के सैनिकों ने केवल गरुड़ को ही प्रविष्ट होते देखा ।।११।।

आभास—ततः शाल्वेनैव कृष्णो दृष्ट इत्याह—शाल्वश्चेति ।

आभासार्थ—पश्चात् शाल्व ने ही श्रीकृष्ण को देखा, यों 'शाल्वश्च' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— **शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।**
प्राहरत्कृष्णसूताय शक्तिं भीमरवां मृधे ।।१२।।

श्लोकार्थ—जिसकी बहुत सेना नाश हो गई है, ऐसे शाल्व ने कृष्ण को देख, कृष्ण के सूत पर भयङ्कर शब्द करने वाली लड़ाई में ही अपनी शक्ति चलाई ।।१२।।

सुबोधिनी—हतप्रायबलस्येश्वरः सोपि निरन्तरयुद्धेन क्लिष्टः । ततः क्रोधेन सूतेन रथः शीघ्रमानीत इति कृष्णसूताय भीमरवां शक्तिं प्राहिणोत् । मृधे युद्धे सावधानदशायाम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ—शाल्व अपनी बहुत सेना के नाश से और निरन्तर युद्ध चलने से दुःखी था, सूत भी आज्ञानुसार शीघ्र रथ को ले आया, इस कारण से सारथि पर क्रोध आ जाने से, उस पर भयंकर ध्वनि वाली शक्ति को फेंकी, जिस समय शक्ति फेंकी उस समय शाल्व सावधान था क्योंकि युद्ध में खड़ा था ।।१२।।

आभास—ततस्तन्निराकरणमाह—तामापतन्तीति ।

आभासार्थ—पश्चात् उस शक्ति का भगवान् ने निराकरण किया, यह 'तामापतन्ती' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।**
भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ।।१३।।

श्लोकार्थ—उल्का के समान वेग से आती हुई एवं दिशाओं को प्रकाशित करती हुई, उस शक्ति को श्रीकृष्ण ने आकाश में होते हुए ही बाणों से सैकड़ों टुकड़े कर डाले ।।१३।।

सुबोधिनी— दर्शनेनापि भयजनकत्वायाह महोल्कामिवेति । रंहसा आपतन्तीमिति प्रतीकारान्तरं निराकृतम् । भासयन्तीं दिश इति तस्या माहात्म्यं फलावश्यकत्वाय । ततो भगवान् सायकैः बहुभिरेव शतधा अच्छिनत् ।।१३।।

व्याख्यार्थ—'महोल्कामिव' पद से उसके स्वरूप का वर्णन किया है कि, जिसके देखने से भी भय उत्पन्न होता है ऐसी भयानक थी, 'रंहसा आपतन्तीम्' पद से यह सूचित किया है कि वह ऐसे भयंकर (जबरदस्त) वेग से आ रही थी, जिसका कोई भी प्रतिकार न हो सके, 'भासयन्ती दिश' सकल दिशाओं को प्रकाशित करने के गुण से जिसका माहात्म्य प्रकट किया है और इसका फल भी अवश्य होगा यह भी सूचना दी, ऐसा जानकर भगवान् ने बहुत ही बाणों से वहां ही (आकाश में ही) उसके सैकड़ों टुकड़े कर डाले ।।१३।।

आभास—ततः प्रहारकर्तुरपि प्रहारं कृतवानित्याह----**तं चेति** ।

आभासार्थ—पश्चात् प्रहार करने वाले पर भी प्रहार किया, यों 'तं च षोडशभिः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**तं च षोडशभिर्विद्ध्वा बाणैः सौभं च खे भ्रमत् ।**
अविध्यच्छरसंदोहैः खं सूर्य इव रश्मिभि ।।१४।।

श्लोकार्थ—सोलह बाणों से शाल्व को वेध डाला, आकाश में घूमते हुए सौभ विमान को बाणों से ऐसे वेधित किया, जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकाश को वेधित करता है ।

सुबोधिनी—**षोडशभिर्बाणैरष्टाङ्गेषु** द्वाभ्यां द्वाभ्यां वेधः । **सौभं** च षोडशभिः **खे भ्रमदेव** न तु स्थितं आदौ तं विद्ध्वा रक्षाया अभावे **सौभं** च **अविध्यत्** । तत्र तु **शरसन्दोहा** एव बहव एव उपर्यधश्च । वेधार्थं दृष्टान्तः **खं सूर्य इवेति** अनेनाकाशस्य पीडाभाव इव सौभस्यापि पीडाभावो निरूपितः । महादेवप्रशंसेयम् ।।१४।।

व्याख्यार्थ—शाल्व के आठ अङ्गों में से एक एक अङ्ग को दो दो बाणों से वेध डाला और आकाश में फिरते हुए सौभ को भी शाल्व के रक्षा के अभाव में उसको भी बहुत बाणों से नीचे तथा ऊपर से छेद डाला, दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकाश को वेधित करता है, यों कहने (इस दृष्टान्त) से यह बताया कि जैसे आकाश को पीड़ा नहीं होती वैसे सौभ को भी पीड़ा नहीं हुई, सौभ को पीड़ा न हुई यह महादेव की प्रशंसा है ।।१४।।

आभास—ततो महादेवभक्त्या सौभातिक्रमे कृते शाल्वोऽप्यतिक्रमं कृतवानित्याह शाल्वः शौरेरिति ।

आभासार्थ—अनन्तर सौभ पर आक्रमण (हमला) देख, महादेव की भक्ति से शाल्व ने आक्रमण किया, जिसका वर्णन 'शाल्वः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशार्ङ्गं शार्ङ्गधन्वनः ।**
बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छार्ङ्गमासीत्तदद्भुतम् ।।१५।।

श्लोकार्थ—शाल्व ने तो शार्ङ्ग धनुषधारी शौरि के शार्ङ्ग सहित सव्य हस्त को वेध डाला, जिससे शार्ङ्ग हस्त से गिर गया, यह अद्भुत लीला हुई ।।१५।।

सुबोधिनी—तु शब्दः सिद्धान्तं वारयति । व्यं दोः वामं बाहुं सायुधं च । यतोयं **शार्ङ्ग**-न्वेति प्रसिद्धः । एवं प्रसिद्धहेतुसहितं महापराक्रमसहितं निराकृतवानिति महादेवप्रशंसा, **हस्ताद्** न्यपतदित्यपि ।।१५।।

व्याख्यार्थ—'तु' पद देने का आशय यह है कि इसमें जो कहा गया है वह सिद्धान्त नहीं है, ायुध सहित सव्य हस्त वेध डाला, कारण कि शार्ङ्ग धनुष वाला इस नाम से आप प्रसिद्ध हैं, स प्रकार प्रसिद्धि का कारण जो शार्ङ्ग धनुष है उसके साथ शौरि (बहुत पराक्रमी) का भी हस्त से शार्ङ्ग धनुष गिरने से निराकरण किया, यह केवल महादेव की स्तुति के लिए कहा है ।।१५।।

श्लोक—**हाहाकारो महानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ।**
विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ।।१६।।

श्लोकार्थ— वहां जो देख रहे थे उन्होंने महान् हाहाकार शब्द किया, उसी समय शाल्व बड़ी ऊँची गर्जना कर भगवान् से यों कहने लगा ।।१६।।

सुबोधिनी— (तत्र पराक्रमसहितं) **तत्र** श्यतां भूतानां अभूतपूर्वत्वाद्धाहाकारः । एवं ायिकनिराकरणमुक्त्वा वाचनिकमाह **विनद्येति** । जितं जितमिति विनदनमुक्त्वा । ततः **सौभराट्** सौभे विराजनानः । **जनार्दनमविद्याया** अपि नाशकम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ—(तत्र-वहाँ पराक्रम सहित) वहां जो प्राणी देख रहे थे, उन्होंने महान् हाहाकार ब्द किया, क्योंकि पहले ऐसा कभी नहीं हुआ है, इस प्रकार काया से किया हुआ निराकरण कह र, अब वाणी से पराजय करता हुआ प्रबल ध्वनि से कहता है कि मैं जीत गया जीत गया, पश्चात् ाभ में विराजमान शाल्व, अविद्या नाश करने वाले को निम्न दो श्लोकों से यों कहने लगा ।।१६।।

आभास—भ्रान्तः सन्निधमाह **यत्त्वयेति** ।

आभासार्थ—शाल्व भ्रान्त होकर 'यत्त्वया' श्लोक से दो श्लोकों में यह कहने लगा ।

श्लोक—**यत्त्वया मूढ नः सख्युर्भ्रातुर्भार्या हृतेक्षताम् ।**
प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ।।१७।।

श्लोकार्थ—हे मूर्ख[1] ! मेरे भाई व सखा शिशुपाल की स्त्री को हमारे देखते र ले गया, और सभा के बीच असावधान बैठे हुए हमारे मित्र को तूमने मारा ।।१७।।

१—वास्तव मे हे अमूढ ! हे ज्ञानी !

सुबोधिनी—तस्य वाक्यं निरूप्यते । अमूढेति छेदः । नः सख्युः शिशुपालस्य तव भ्रातुः भ्रातृरूपसख्युर्वा ईक्षतामस्माकं सतामेवाकिञ्चित्कराणामग्रे हृता । अनेन स्वाभाविकशौर्यात्तव महच्छौर्यमिति स्तुतिरुक्ता । न केवलं तद्भार्या आत्मसात्कृता किन्तु सोपीत्याह प्रमत्तः स सभा मध्य इति । सोऽपि समर्थः तथापि प्रमत्तत्वात्स भार्यां त्वया व्यापादितः न तु युद्धे अतः स सखेति हेत्वर्थं पुनः कथनम् ॥१७।

व्याख्यार्थ—शाल्व के वचन कहते हैं कि 'अमूढ़' यों पदच्छेद करना चाहिए, आपके भ्रात तथा हमारे मित्र शिशुपाल की, अथवा हमारे भ्रातृ रूप सखा शिशुपाल की भार्या[1] को, शान्त, ह लोगों के देखते हुए हरण कर गए, इससे यह बताया है कि आपका शौर्य साधारण शौर्य से विशे है, यों कहना एक प्रकार स्तुति ही है, न केवल उसकी भार्या का अपहरण किया किन्तु उसको भ अपना बना लिया, वह भी शक्तिशाली था किन्तु असावधान था जिससे आपने सभा के मध्य उसको मार डाला, किन्तु युद्ध में नहीं मारा है, अतः समझा जाता है कि वह सखा था, इस कारर को बताने के लिए फिर कहा है ॥१७॥

आभास—ततः स्वकर्तव्यमाह तं त्वेति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'तं त्वाद्य श्लोक में अपना कर्तव्य कहते हैं ।

श्लोक—तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ।
नयाम्यपुनरावृत्ति यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अजितपन का अभिमान करने वाले, यदि मेरे सामने खड़े रहे तो आ ही मेरे तीक्ष्ण बाणों से तुझे वहां पहुंचा दूंगा जहां से फिर लौट न सकोगे ॥१८॥

सुबोधिनी—निशितैरिति स्वपौरुषख्यापनम् | ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में अपना कर्तव्य कहते हुए जो 'बाणैः' पद का 'निशितैः' विशेष दिया है, वह अपना पौरुष प्रकट करने के लिए है ॥१८॥

आभास—भगवांस्तु वाक्येन शब्दातिक्रमं निवारयति वृथा त्वं कत्थस इति ।

आभासार्थ—भगवान् तो, शाल्व ने जो वाणी से प्रहार किया है, उसका 'वृथा त्वं कत्थ श्लोक में कहे वाक्य से निवारण करते हैं ।

श्लोक—श्री भगवानुवाच—वृथा त्वं कत्थसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।
पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥१६॥

---

१ स्त्री

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे मन्द ! तू वृथा बकवाद कर रहा है, निकट जो काल खड़ा है, उसको नहीं देख सकता है, शूरवीर बहुत बकते नहीं हैं, अपना पराक्रम दिखलाते हैं।

सुबोधिनी— अर्थस्य बाधितत्वादत एव मन्दत्वं प्रत्युत विपरीतं तवास्तीत्याह **न पश्यसीति**। **अन्तिके** मत्साग्रे तवान्तकोस्तीति इदमप्ययमैक्तमिति जयापजययोः अव्यवस्थेति शूराणां स्वप्रशंसाकथनमयुक्तमिति तमुपदिशति **पौरुषं दर्शयन्ति स्मेति**। पौरुषं पुरुषशरीरबलम्। शूराः क्षत्रियाः। ब्राह्मणानां तु वाग्बलमेव भवति इति तन्व्युदासः ।।१९।।

व्याख्यार्थः—तुमने जो कुछ विषय कहा वह बाधित है, अर्थात् होने वाला नहीं है इसलिए तू मन्द है अपितु (बल्कि) जो तू कह रहा है उससे विपरीत होने वाला है जिसको तू मूर्ख होने से देख नहीं सकता है, शीघ्र ही मुझ से तेरी मृत्यु होने वाली है। यों कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जय वा पराजय की व्यवस्था नहीं है, शूरवीरों को अपनी प्रशंसा करनी योग्य नहीं है यों कह कर उसको उपदेश करते हैं कि 'पौरुषं दर्शयन्ति स्म' पुरुष शरीर का बल अथवा अपनी शरीर की शक्ति प्रकट कर दिखाते है। क्योंकि क्षत्रिय, शरीर बल से ही शूर कहलाते है, ब्राह्मणों का बल वाणी में है, इसलिए उसका इसमें समावेश नहीं किया है ।।१९।।

आभास—एवमुक्त्वा स्ववाक्यसत्यत्वाय भगवान्स्वपौरुषं दर्शयामास इत्युक्त्वेति।

आभासार्थ—यों कहकर भगवान् अपना कहना सत्य करने के लिए अपना पौरुष दिखाने लगे, जिसका वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—इत्युक्त्वा भगवान् शाल्वं गदया भीमवेगया।
तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक्।
गदायां संनिवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ।।२०।।

श्लोकार्थ—यों कहकर, भगवान् ने क्रोधित हो, भीम वेग वाली गदा से शाल्व के हंसलियों पर प्रहार किया, जिससे वह लोहू उगलता हुआ कांपने लगा, गदा पीछे लौट गई तब शाल्व अन्तर्द्धान हो गया।

सुबोधिनी—यतो भगवान् समर्थः। **भीमवेगयेत्य**लौकिकं सामर्थ्यं निराकृतम्। **जत्रौ** कण्ठमालास्थिथिनि। **संरब्धः** क्रोधेन क्रियावेशमात्रं वा। ततः **स** शाल्वः **असृग्वमन् चकम्पे**। ततस्तस्य लोहितं दृष्ट्वा कृतकार्या गदा निवृत्ता तस्यां निवृत्तायां प्रहारान्तरेण मरणं भविष्यतीति निश्चित्य असुरत्वाद्भगवद्रूपां माया प्रार्थयितुमन्तरधियत। तु शब्देन महादेवपक्षो निवारितः ।।२०।।

व्याख्यार्थ—क्योंकि भगवान् सर्व प्रकार शक्ति वाले है, 'भयंकर वेगवाली' इस विशेषण से

इससे अलौकिकता का निराकरण किया, 'जत्रौ' का अर्थ कण्ठमाला की अस्थियां अर्थात् हंसलियां, 'संरब्धः' क्रोध से अथवा क्रिया के आवेश मात्र से वैसी गदा का हंसलियों पर प्रहार किया, जिससे वह शाल्व लोहू उगलता हुआ कांपने लगा, पश्चात् उसको लोहू से लाल हुआ देख अपना कार्य सिद्ध हो गया समझ गदा लौट आई, उसके लौट जाने पर शाल्व ने सोचा कि इसी से बच गया हूं तो क्या ? फिर दूसरे प्रकार से मरूंगा, यह निश्चय जानकर, असुर होने से भगवद्रूप माया को प्रार्थना करने के लिए अन्तर्द्धान हो गया 'तु' इस शब्द से यह आशय प्रकट होता है कि महादेव अब इसका पक्ष नही लेते है ।।२०।।

आभास—ततो भगवद्रूपमायाकृत्यमाह **ततो मुहूर्त** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'ततो मुहूर्त' श्लोक मे भगवद्रूप माया का कार्य कहते हैं।

श्लोक—**ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।**
देवक्या प्रहितोस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ।।२१।।

श्लोकार्थ—पश्चात्, दो घड़ी के बाद एक पुरुष ने आकर, भगवान् का शिर से प्रणामकर, रोते हुए कहा कि मुझे देवकी ने भेजा है ।।२१।।

सुबोधिनी—मुहूर्तानन्तरं कश्चित्पुरुषः समागत । इदं मानसनिराकरणम्, तेन मनसा प्रार्थितेनेश्वरेण क्रियत इति भगवतोऽपि मनस्येव काचित्प्रतिभा सैव, स पुरुषो मायिकः तथापि भगवदीय इति भगवत्समीपागमनेपि न तस्य नाशः । सोऽपि व्यामोहार्थमच्युतमव्यामुग्ध **देवक्या अहं प्रहित** इति आत्मानं निवेद्य पश्चाद्भगवन्तं **नत्वा रुदन्वचः प्राह** । देवक्यन्तरङ्गत्वख्यापनाय रोदनम् ।।२१।।

व्याख्यार्थ—एक मुहूर्त के बाद कोई पुरुष आया, यह मन से किया हुआ निराकरण है, शाल्व ने भगवद्रूप माया को मन से एक पुरुष की प्रार्थना की, भगवान् तो कर्त्ता हैं, जिससे उसके मनसे भी वह ही कोई प्रतिमा (मूर्ति) प्रादुर्भूत हो गई, वह पुरुष मायिक था, तो भी भगवदीय होने से भगवान् के पास आने पर भी उसका नाश न हुआ, उसने अच्युत भगवान् जो कभी मोह को प्राप्त नही होते है उनको मोहित करने के लिए कहा कि मुझे देवकी ने भेजा है, यों बताकर फिर भगवान् को प्रणाम कर, रोता हुआ निम्न वचन कहने लगा, उसका रोना इसलिए था कि भगवान् समझे कि यह देवकी का अन्तरङ्ग सेवक है ।।२१।।

आभास—तस्य वाक्यं **कृष्ण कृष्णेति** ।

आभासार्थ—'कृष्ण कृष्ण' इस श्लोक मे उस पुरुष ने जो कहा वह कहते है।

श्लोक—कृष्ण कृष्ण महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।
बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिकेन यथा पशुः ।।२२।।

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहु ! हे पितृवत्सल ! कसाई जैसे पशु को ले जाता है, वैसे शाल्व आपके पिता को बांधकर ले गया है ॥२२॥

सुबोधिनी—दुःखे वीप्सा । **महाबाहो** इति क्रियाशक्तिसामर्थ्यम् । वाच्यमाह **पिता ते** इति । **पितृवत्सले**ति । अभिमानार्थं संबोधनम् । **बद्ध्वा प्रपनीत** इति महत्यपमानना । स्वयमेव त्यक्ष्यतीति शङ्काभावाय दृष्टान्तमाह **सौनिकेने**ति । सूनायां प्रसिद्धः मारक एव अतो मारणार्थं नीतवानित्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण ! कृष्ण ! दो बार दुःख प्रकट करने के लिए कहा है, हे महाभुज ! विशेषण से यह कहा कि आप में पूर्ण क्रिया शक्ति का सामर्थ्य है, आपके पिता को शाल्व बान्ध कर ले गया है, आप पितृवत्सल हैं यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि अपने मान का ज्ञान होवे, बान्ध कर ले गया है, इससे बताया है कि शाल्व ने बहुत अपमान किया है, ले गया है तो क्या ? स्वतः छोड़ देगा, ऐसा कृष्ण के मन में आवे तो उसके निराकरण के लिए कहा कि कसाई की तरह बान्ध कर ले गया है, जिसका भावार्थ है कसाई मारने के लिए ले जाता है वैसे यह भी मारने के लिए ले गया है अतः छोड़ देगा यों मत विचारो ॥२२॥

आभास—निराकरणार्थं भगवति भातमित्याह **निशम्य विप्रियमि**ति ।

आभासार्थ—यों देखने में आया कि भगवान् की पराजय हुई है जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।**
विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ॥२३॥

श्लोकार्थ—यह अप्रिय वचन सुनकर, मनुष्य प्रकृति को प्राप्त दयालु भगवान् मन में उदास हो, प्राकृत की भांति स्नेह से कहने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—**मानुषीं** मनुष्यस्वभावमङ्गीकृतवान् । ततस्तत्स्वभावात् **विमनस्कः घृणी** पितरि कृपावांश्च । ततः**स्नेहा**द्वक्ष्यमाणं **बभाषे** ॥२३॥

व्याख्यार्थ—उस समय भगवान् ने मनुष्य स्वभाव को अङ्गीकार किया । पश्चात् मनुष्य स्वभाव के कारण उदास और पिता पर दयालु, भगवान्, स्नेह के कारण, २४वें श्लोक में वर्णित शब्द कहने लगे ॥२३॥

आभास—'मनः पूर्वं वागुत्तररूपम्' इति श्रुतेः । 'तस्य यजुरेव शिरः' इति मानसपुरुषस्य शब्दप्रकृतिकत्वात् शोकशब्दाभावे मानसपीडा पूर्णा नोक्ता भवतीति शब्दोपि निरूप्यते **कथं राम**मिति ।

आभासार्थ—'पहला रूप मन है दूसरा अन्तिम रूप वाणी है' इस श्रुति के अनुसार तथा

उसका यजुष् ही शिर है, इस श्रुति के अनुसार, मानस पुरुष, शब्द प्रकृति वाला होने से, जब तक शोक के शब्द बाहर नहीं निकाले जाते हैं तब तक मन की पीड़ा पूर्ण (नाश) नहीं होती है, इसलिए भगवान् के कहे हुए वचन 'कथं राम' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**कथं राममसंभ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः ।**
शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान्विधिः ॥२४॥

श्लोकार्थ— जिसको सुर और असुर जीत नहीं सकते ऐसे सावधान राम को जीत कर तुच्छ शाल्व, मेरे पिता को कैसे ले गया ? प्रारब्ध बलवान है ॥२४॥

सुबोधिनी—रामो रक्षार्थं नियुक्तः स चासंभ्रान्तः अतिसावधानः समयविशेषात् । अतिक्रमस्तु तस्याशक्य इत्याह-**सुरासुरैरजेयमिति** । अयं सर्वोत्तमो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **शाल्वेनाल्पीयसा नीत** इति । **मे** पितेति । भाग्यं वा तस्य कथं न रक्षकं जातमित्यर्थः । सर्वातिक्रमस्य **दृष्ट**त्वात् नित्येच्छो **विधिरेव बलवान्** ॥२४॥

व्याख्यार्थ—राम को रक्षा के लिए वहां रख आए थे, वहां वह बहुत सावधान भी थे, क्योंकि सावधान रहने का समय है, वैसे राम को जीतकर आना तो अशक्य है कारण कि देव और दैत्य भी जिसको नहीं जीत सकते, उसको यह क्या जीत सकेगा ? यह शाल्व सबसे उत्तम है, इसलिए जीता होगा, जिसका उत्तर देते हैं कि यह तो एक तुच्छ मनुष्य है वह जीत नही सकता है वह मेरे पिता को कैसे ले गया ? कदाचित् शाल्व को दैव ने साथ दिया है तब लेजा सका है, अतः नित्य इच्छावाला दैव ही बलवान् है ॥२४॥

आभास—न केवलं नयनमात्रं तदा मानसः क्लेशः संदिग्धोपि भवेत् किंत्वनर्थान्तरमपीत्याह **इति ब्रुवाण** इति ।

आभासार्थ—केवल ले गया, इतना ही होता तो वो मन के क्लेश में सन्देह हो जाता, किन्तु यहां तो दूसरा भी अनिष्ट हुआ, जिसका वर्णन 'इति ब्रुवाणे' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।**
वसुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ॥२५॥

श्लोकार्थ—भगवान् यों कह ही रहे थे कि इतने में वसुदेव जैसा पुरुष लेकर शाल्व आकर उपस्थित हुआ और वह श्रीकृष्ण को २६वें श्लोक में कहे हुए वचन कहने लगा ॥२५॥

सुबोधिनी—प्रत्युपस्थितः आभिमुख्येन समायातः । ततो **वसुदेवमिव** मायिकं कंचन पुरुष समानीय **कृष्णमिदं** वक्ष्यमाणमुवाच । यतः स उपासितमायारूपभगवान् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—'प्रत्युपस्थितः' कृष्ण के सामने (शाल्व) आकर खड़ा हुआ, अपने साथ बनावटी वसुदेव जैसा कोई पुरुष भी लाया था, उसने श्रीकृष्ण को नीचे श्लोक में कहे हुए शब्द कहे ॥२५॥

आभास—तस्य वाक्यं एष ते जनिता तात इति

आभासार्थ—'एष ते जनिता' श्लोक में उसके वचन हैं।

श्लोक—एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ।
वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे बालिशः ! तेरा जन्मदाता यह पिता है, जिसके लिए तू जीता है, उसको तेरे देखते हुए अभी मार डालूंगा, जो शक्ति होवे तो इसको बचाले ॥२६॥

सुबोधिनी—भगवत्त्वादिन्द्रियप्रवृत्तिः । अजनिता अतात इति तु वस्तुस्थितिः । कृतेऽपि भूभारहरणे स्थितिः पित्रर्थेति मन्यते यद्यप्यन्येषां स्थितिर्बहुकार्यार्था तथापि पितृभक्तस्य एतदेव कार्यमित प्रकृते क्लेषाधिक्याय आरोपन्यायेन पितृभक्तत्वं वदन् स्वतः पीडां कर्तुमशक्तः तदभावे स्वत एव पीडितो भविष्यतीति तथोक्तवान् । अधिकक्लेशार्थमाह **वधिष्ये** इति । क्रिया तु कर्तव्यैवेति । प्रतिज्ञाहान्यर्थं **ईशश्चेत्पाहीत्युक्तवान्** । स्वबुद्ध्या संबोधनं बालिनोऽपि श यस्मादिति । स्वयमेव द्वेषिणामप्युपकारं करोषीति मारणेनास्मान् कृतार्थान् कुर्विति प्रार्थना । मतान्तरभाषेति पदार्थो नात्राभिप्रेत इति न पदानाम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—शाल्व माया रूप भगवान् होने से उसकी यों बोलने में प्रवृत्ति हो सकी, मूल श्लोक में वास्तविक तो कहा कि वह पुरुष आपका अजनिता (जन्मदाता नहीं) और 'अतात' (पिता नहीं) है, यद्यपि श्रीकृष्ण की भूभार हरण के लिए वास्तविक स्थिति है और वह किया भी है, तो भी शाल्व मानता है कि पिता के वास्ते स्थिति है। यद्यपि लोक में दूसरों की स्थिति, बहुत कार्यों के करने के वास्ते होती है, किन्तु पितृ भक्त के लिए पिता की स्नेह से सेवा करने के लिए ही होती है, इसलिए प्रकृत विषय में, पिता के भक्त को पिता को दुःखी देखकर अधिक क्लेश होता है और उसको दुःख से छुड़ाने का प्रयत्न करना पड़ता है, इस प्रकार आरोप न्याय से पितृ भक्तत्व कह कर यह बताया कि स्वयं श्रीकृष्ण को पीड़ा देने में असक्त होने से स्वयं (खुद) ही दुःखी होगा, इसी तरह विशेष दुःख देने के लिए फिर वाणी से कहने लगा कि मैं इसको 'मारूंगा' यदि यह मेरी प्रतिज्ञा असत्य करने की शक्ति हो तो, इसकी रक्षा करो, शाल्व ने अपनी बुद्धि के अनुसार 'बालिशः' सम्बोधन दिया है, जिसका भावार्थ है कि आपने बालि का भी कल्याण ही किया था, क्योंकि आप शत्रु का भी कल्याण करने वाले हैं, अतः जैसे उसको मारकर उसका हित किया वैसे मेरा भी हित करो। यों प्रार्थना की है, यह मतान्तर भाषा है अतः यहां पदों का अर्थ इच्छित नहीं है, जिससे पदों का अर्थ अन्य प्रकार से नहीं किया गया है ॥२६।

आभास—अर्थान्तरं वर्ण्यते ।

आभासार्थ—अर्थके अन्तर को वर्णन करते है।

श्लोक—एवं निर्भर्त्स्य मायावी खड्गेनानकदुन्दुभेः ।
उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥२७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मायावी शाल्व ने भगवान् का तिरस्कार कर, खड्ग से वसुदेवजी का शिर काट डाला, उसको लेकर आकाश में स्थित सौभ में जाके बैठा।

सुबोधिनी— निर्भर्त्सनं अभिमानप्रच्यावनं तथाकरणे बलं **मायावीति** । 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेः । 'तं यथा यथोपासते तद्धैतान् भूत्वावति' इति च भगवतैव भगवान् एवं क्रीडतीति न काप्यनुपपत्तिः । अतो भगवदावेशात् लीला प्रदर्श इव **आनकदुन्दुभेः शिरः खड्गेनोत्कृत्य** पुनर्योजनभावाय **खस्थं** आकाशस्थितं **सौभं** मूलाश्र **समाविशत्** ॥२७॥

व्याख्यार्थ—'निर्भर्त्सनं' इस पद का तात्पर्य है कि सामने वाले का तिरस्कार करना अर्थात् उसका अभिमान उतारना, शाल्व ने ऊपर कहे हुए शब्दों से श्रीकृष्ण का तिरस्कार किया, ऐसे करने की शक्ति इसमें कैसे आई ? इस शङ्का को 'मायावी' पद से मिटाता है अर्थात् माया कारण शक्ति आई है, 'मायेत्यसुराः' इस श्रुति के अनुसार असुरों का भगवान् माया है, 'तं यथा यथोपासते तद्धैतान् भूत्वावाऽवति' उस माया रूप भगवान् की जिस जिस भावना से उपासना की जाती है, वह[1] वैसा होकर, उस उपासक की रक्षा करता है, इस श्रुति के अनुसार, इस प्रसङ्ग में भगवान् ही भगवान् से क्रीड़ा कर रहे है, इसलिए किसी प्रकार अयोग्यता नही है अतः भगवान् के आवेश से लीला दिखाने वाले की तरह वसुदेव का शिर तलवार से काट कर फिर वह जोड़ा जावे इसलिए आकाश में स्थित 'सौभ' जो उसका मूल आश्रय था उसमे शाल्व ने प्रवेश किया।२७

श्लोक—ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः ।
महानुभावस्तदबुध्यदासुरीं मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—भगवान् तो स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् है तो भी कुछ देर तक स्वजन स्नेह से मनुष्य स्वभाव में मग्न रहे, बाद में स्वतः भगवान् से समझ लिया कि, यह तो मय की दी हुई माया शाल्व ने चलाई है ॥२८॥

सुबोधिनी—एतन्मुहूर्तमात्रं । तृतीयेऽपि मुहूर्ते भगवान् इममर्थं चिन्तयन् तूष्णीं स्थितः । अनेन बलभद्ररक्षाभावशङ्कापि निवारिता । तदनन्तरं मुहूर्तमात्रं **प्रकृतावेवोपप्लुतः** सन् पश्चान्मानुषीं प्रकृतिं परित्यज्य अन्यप्रबोधाभावेपि **स्वबोध एव आस्ते** । स्वज्ञानशक्तिं प्रकटीकृतवान् । अत्रा क्रियाव्यवहितेन सम्बन्धः । **स्वजनानुषङ्ग प्रकृतावुपप्लुत** इति अस्वजनानुषङ्गतो वा तत्र स्वजनानुषङ्गो नास्तीति मोहाभावात् जिज्ञासः स्वबोधे स्थितिर्जातेत्यर्थः । ननु तथाप्युपदेशाभ

---

[1] -माया रूप भगवान्, २- माया रूप भगवान् ।

ं ज्ञाननिष्ठा तदाह महानुभाव इति । तदा तामा-
ें मायामबुध्यत् । इदं ममैव रूपान्तरमिति ।
त्मजिज्ञासायामेव आत्मावबोध इति । अनेन
स्मन्नपि कल्पे भगवतः शुद्धब्रह्मत्वमित्युक्तम् ।
त्वादिलीला सर्वावतारेष्विति न काप्यनुप-
पत्तिः । परमुपक्रान्ते भागवते कृष्णो नैवंविधइति
अत्रापि साधारण्येन योजयतां दूषणमग्रे वक्तव्यं
सा माया कुत उत्पन्ना, किं निष्ठेति तद्द्वयं
निर्दिशति शाल्वप्रसृतां मयोदितामिति । शाल्वे
व्याप्तां मयेन च निरूपिताम् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—यह मानुषी प्रकृति की लीला केवल एक मुहूर्त ही की है, तीसरे[1] मुहूर्त में इस पथ का विचार करते हुए शान्त रहे । बलदेवजी ने वसुदेव की रक्षा नहीं की यह शङ्का भी इससे टा दी । इसके बाद केवल एक मुहूर्त्त प्रकृति में मग्न होके, उस मानुषी प्रकृति का त्याग कर अन्य रा ज्ञान प्राप्त न होते हुए भी स्वतः स्वयं सब समझ गए, क्योंकि अपनी ज्ञान शक्ति जिसको मुहूर्त्त त्र तिरोहित किया था उसको पुनः स्वयं प्रकट किया जिससे समस्त ज्ञान हो गया ।

पहले कहा है कि स्वजनों के सम्बन्ध के कारण प्रकृति मे मग्न हुए और यहां कहा कि स्वतः ान उद्भूत हुआ, यों होने में (स्वतः ज्ञान उत्पन्न होने में) क्रिया से पृथक् होने वाले ज्ञान का म्बन्ध है, अथवा 'अ स्वजनानुषङ्गतः' पदच्छेद करने से अर्थ होगा कि भगवान् को अपने जनों में म नहीं था, इसलिए मोह का अभाव था जिससे जानने में अपना ज्ञान स्वतः प्रादुर्भूत हो गया ।

उपदेश के विना ज्ञान निष्ठा कैसे हुई ? इस शङ्का का 'महानुभावः' विशेषण से निराकरण रते है कि भगवान् महा प्रभाव वाले हैं, अतः आपने आसुरी माया को जान लिया, यह माया ारा ही रूपान्तर (दूसरा रूप) है, कारण कि जब आत्मा को जानने की इच्छा होती है, तब ही आत्मा का ज्ञान होता है, यों कहने से ज्ञात होता हे कि उस कल्प में भी भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध ब्रह्म ी थे । भगवान् अज्ञत्व आदि लीला सब अवतारों में दिखाते हैं, अतः किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है, परन्तु भागवत के उपक्रम अर्थात् आरम्भ में श्रीकृष्ण इस प्रकार के नही है यों यहां भी उनको साधारण 'देव' कहने वालों का दोष आगे कहा जाएगा, वह माया कहां से उत्पन्न हुई ? किसमें रही ? ये दो बातें कहते हैं कि 'मय' से उत्पन्न हुई और 'शाल्व' में रही ।।२८।।

आभास—ततो बोधेन तद्रूपे उपसंहृते तत्कार्याणां लयो जात इत्याह—**न तत्र दूत**मिति ।

आभासार्थ—ज्ञान शक्ति प्रकट होते ही माया रूप लीन हो गया, जिससे उसके कार्य भी समाप्त हो गए, यह 'न तत्र दूतं' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।
स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौभस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ।।२९।।

१—शाल्व के अन्तर्द्धान होने के बाद एक मुहूर्त्त मे एक पुरुष आया, दूसरे मुहूर्त मे शाल्व ने माया का दिखाऊ दिखाया और तीसरे मुहूर्त में विचार करते हुए शान्त रहे ।

श्लोकार्थ—इस प्रकार ज्ञान शक्ति प्रकट करते हो, जैसे जागृत पुरुष स्वप्न के पदार्थों को नहीं देखता है, वैसे वहां युद्ध में भगवान् ने, न तो दूत को देखा और न पिता के शरीर को देखा, केवल सौभ विमान में बैठकर आकाश में घूमते हुए शाल्व को देखा, अनन्तर उस शत्रु को मारने की तैयारी की ।।२९।।

सुबोधिनी—अनेनापि भगवत्त्वमेव साधितम् । अन्यथा मायिकोपसंहारे हेत्वभावः, दूतः पितुः शरीरं च पूर्वं दृश्यमानमपि **प्रबुद्धः** सन् पश्चादाजौ युद्धस्थाने न **समपश्यत्** । यतोऽयमच्युतः । रूपान्तरस्थितः—तथैवेति ज्ञापयितुं गूढोर्थोऽयमिति दृष्टान्तमाह—**स्वाप्नं यथेति** । स्वप्नेऽपि स्वयमेव स्थितः परं रूपान्तरेणेति रूपान्तरस्वीका तस्यादर्शनं युक्तं । चकारेण मायामनोरथादिक मपि संगृह्यते—ततः **अम्बर चारिणम् रिपुं** सौभ स्थमालोक्य मारणपापेन मदादेवभगवतोः उपे क्षणादक्षकाभावात् निहन्तुमुद्यत इति पूर्वपक्ष ।।२९।।

व्याख्यार्थ—इससे भी यही सिद्ध होता है, कि श्रीकृष्ण भगवान् ही है । यदि भगवान् न हो तो मायिक पदार्थों के नष्ट हो जाने में कोई दूसरा कारण ही नहीं था । दूत और पिता का शरी पहले देखे हुए दोनों को, ज्ञान प्रकट करते ही युद्ध स्थान पर न देखा क्योंकि ये 'अच्युत' ही केवल रूपान्तर था, वैसे ही जताने के लिए कहते हैं कि यह गूढ अर्थ है उसको समझाने के वास दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे कि, स्वप्न भी देखने वाला स्वयं ही होता है किन्तु रूपान्तर दूसरे रूप में होत है । जब वह पुनः स्वप्नस्थ रूप त्याग दूसरा असली रूप लेते हैं तो वह स्वप्न वाला स्वरूप देख में नहीं आता है । यह योग्य ही है । 'च' पद से, माया से जो मनः कल्पित रूप होते हैं उनको भ ग्रहण किया है । पश्चात् आकाश में फिरते हुए सौभ में स्थित शत्रु को देख, उसको यदि मा जाय तो पाप लगेगा । महादेव तथा भगवान् ने अब इसकी उपेक्षा की है अतः इसका कोई रक्ष नहीं है, जिससे श्रीकृष्ण ने इसके मारने का उद्यम किया, यह पूर्व पक्ष है ।।२९।।

आभास—सिद्धान्तमाह **एवमिति** ।

आभासार्थ—'एवमिति' श्लोक से लेकर सिद्धान्त कहते हैं ।

श्लोक—एवं वदन्ति राजर्षे मुनयः केचनान्विताः ।
यत्स्ववाचो विरुध्येरन्नूनं ते न स्मरन्त्युत ।।३०।।

श्लोकार्थ—हे राजर्षि ! मुनि लोग यों कहते हैं, कितने ही इनमें ऐसे भी हैं ज योग्य कहते हैं । प्रायः ऐसे हैं जिनके कहे हुए वाक्यों में विरोध होता है । किन हमने वहाँ क्या कहा है और यहाँ क्या कहते हैं, इसका स्मरण व ध्यान ह नहीं रहता है ।।३०।।

सुबोधिनी—अस्य पूर्वपक्षत्वं युक्तिबोधेन वक्तव्यमेव । प्रमाणबाधेनापि निरूप्यते । **एवं मुनयो वदन्तीति** । मननेन संजातं यदार्षज्ञानं तेनोत्प्रेक्षया एव ज्ञात वदन्ति मूलविरोधे आर्षज्ञानमप्रमाणमिति शा

र्यादा उपजीव्यविरोधात् । यथा प्रमाणबोधित-र्मेणैव आर्षज्ञानं वृत्तमिति प्रमाणविरोधेन रूपितानि साङ्ख्यादिमतान्यप्रमाणानि । एवं गवदनुभावकृपाव्यतिरेकेण प्रमेयबलं विना र्षज्ञानं न भवतीति तेन ज्ञानेन भगवति दोष-र्शनं स्वजन्मनि मातृव्यभिचारदर्शनमिव सर्वथा धितविषयत्वादुपेक्ष्यम् । तथापि धृष्टा निर्लज्जा वदन्ति मूलभूतेपि भगवति दोषांस्तानुपहसति नयो वदन्तीति । ऋषय इत्यपि तथा । राजर्ष ति संबोधनं स्वपक्षपरपक्षाभिनिवेशयोः विश्वा-पहासौ बोधयति । एतेषां मध्ये केचनैवान्विताः कवादिनः सर्वनिराकरणे अर्धनिराकरणं प्ररो-चनार्थम् । नान्विता इति पदच्छेदे सर्वनिराकरणं वा । उपहासे युक्तिमाह—यत्स्ववाचो विरुध्येर-न्निति । ते किं कल्पान्तरव्यवस्थां योगबलेन ज्ञात्वा वदन्ति आहोस्वित् इदानीतनभगव्व्यव-स्थाम् । आद्ये नास्माकं कापि क्षतिः । द्वितीये तु 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति शास्त्रपर्यालोचनया तदनुगुणा एव धर्मा वक्तव्या इति विरुद्धकथनात् ते नूनं न स्मरन्ति । अपि च । तादृशार्षज्ञानेन उत अपि पूर्वमपि स्मृतमप्रमाणमेव । ननु सर्वेष्वव-तारेषु अवतारधर्माः प्रवर्तन्ते अन्यथा वसुदेवसुत-त्वादयोऽपि बाधितार्था इति न वक्तव्याः स्युः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—यह पूर्व पक्ष है । इसको युक्ति से सिद्ध करना ही है । प्रमाण के बाध होने से ही यह पूर्व पक्ष सिद्ध होता है । इस प्रकार मुनि लोग कहते है, अर्थात् मुनि लोग जो कुछ कहते है वह ज्ञान मनन करने से उत्पन्न होता है । उसके अनुमान से अपने सिद्धान्त कहते हैं । किन्तु यदि वह सिद्धान्त, मूल शास्त्रों से विरुद्ध हो तो, वह ऋषियों का ज्ञान वा सिद्धान्त, प्रमाण नहीं है । इस प्रकार शास्त्र की मर्यादा है । क्योंकि जिन शास्त्रो के ऊपर उनका आधार है, उनसे विरुद्ध है, वैसे प्रमाणों में (शास्त्रों में) कहे हुए धर्म के कारण ही ऋषियों को ज्ञान हुआ है । उस ज्ञान से विरुद्ध सिद्धान्त कहने वाले, साङ्ख्यादि मत, इसलिए ही अमान्य हैं, अतः भगवान् की प्रभावशाली कृपा के बिना अर्थात् प्रमेय बल के बिना आर्षज्ञान (ऋषि को सत्य ज्ञान) नहीं होता है, इस कारण से ऋषियों के ज्ञान से भगवान् में दोष देखना वैसा है जैसा माता का व्यभिचार देखना, सर्वथा असत्य है जिससे वह उपेक्षा के योग्य ही है । तो भी जो निर्लज्ज हैं और मूलभूत भगवान् में दोष देखते हैं, उन पर श्री शुकदेवजी उपहास करते हुए कहते हैं कि 'मुनयः वदन्तिः' यदि 'ऋषयः' पद हो तो वह भी वैसे ही है । राजर्षे ! यह सम्बोधन देने से, अपने पक्ष और अन्य के पक्ष में आसक्ति वालों पर विश्वास और उपहास किया है । इनमें से कितने ही योग्य कहने वाले हैं । सब को असत्य कहने वालों से आधे को असत्य बनाने वाले ठीक हैं । क्योंकि वे इस प्रकार कह कर शेष जो रह जाते है, उनका अपनी तरफ आकर्षण करते हैं । 'अथवा नान्विता' यों पदच्छेद करने से सबका निराकरण हो जाता है । उपहास में युक्ति कहते हैं, जो अपनी वाणी में विरोध होता है, इन शब्दों से, उपहास का तर्क दिया है, वे योग बल से अन्य कल्प की व्यवस्था कहते हैं ? अथवा इस समय की भगवान् की व्यवस्था कहते हैं, यदि प्रथम योग बल से कहता है तो इससे हमारी कोई हानि नहीं है, अबकी भगवान् की स्थिति कहता होवे तो श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, इसलिए शास्त्रों के पर्यालोचन पूर्वक ही उसके योग्य ही धर्म कहने चाहिए, इससे विरुद्ध कहने से वे शास्त्र विरुद्ध होने से, उनको वास्तविक पूर्वा पर का अनुसन्धान नही रहता है । वैसे ऋषि ज्ञान से और प्रथम का स्मरण भी अप्रमाण ही है, सर्व अवतारों में अवतार के गुण होते है, नहो तो वसुदेव का सुत होना आदि गुण झूठे होने से नही कहने चाहिए ॥३०॥

आभास—तस्मादवतीर्णस्य दोषवर्णनं न बाधितमिति शङ्कायामाह-**क्व शोकमोहौ स्नेहो वेति ।**

आभासार्थ—इस कारण से अवतार लेने वाले भगवान् के दोषों का वर्णन करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है यह 'क्व शोकमोहौ' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**क्व शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसंभवाः ।**
क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यस्तुरेडितः ॥३१॥

श्लोकार्थ—शोक, मोह, स्नेह और भय ये सब अज्ञानी मनुष्यों को ही होते हैं, वे कहाँ ? और जिनमें ज्ञान विज्ञान व ऐश्वर्य सब इडित हैं एवं जो देवों से भी प्रशंशित हुए हैं, वे श्रीकृष्ण कहाँ ? ॥३१॥

सुबोधिनी— अयमवतारः नावतारान्तरवत् केनचिदंशेन अज्ञानशक्तिसहितो वा किन्तु साक्षात्पुरुषोत्तमस्यैव पूर्णशक्तिमत ततश्च तत्र पूर्णरूपे प्रथमतो हीनभाव एव बोधयितुमनुचितः भक्तोत्कर्षबोधनाभावात् तत्रापि पित्रर्थं शोकः मोहश्च । मायिके पितृत्वबुद्धिस्तस्मिंश्च स्नेह इति । वेत्यनादरे । तदनुगुणं वचनं च 'पिता मे बलवान्विधिः' इत्यादि । एते कथं न भवन्तीत्याह **अज्ञसंभवा** इति । अज्ञानगृहीत एवं चेतन्ये एतेऽन्तःकरणस्य धर्माः संभवन्ति । प्रकृतेऽप्येवमेवास्त्विति चेत्तत्राऽऽह **क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्य** इति । भगवति सर्वदा त्रयं सिद्धं सर्वलीलास्वपि अखण्डित विज्ञानमात्मानुभवः, ज्ञानं सर्ववस्तून ऐश्वर्यं पूतनासुपयःपानप्रभृति सर्वत्र त्रयाणां निरूपणात्, यत्राज्ञानं बाल्ये सर्वजनीनं तत्र यदि नास्ति तदा कथमिदानीं जीवानामपि विवेकदशायां तत्संभवेत् । न च लोकास्तथैव बोधयन्त इति पक्षः लोकानामपि **भगवान्निरतिशयैश्वर्य** इति बुद्धिः । यतः **सुरैरनुक्षणमीडितः** । उपलक्षणमेतत् । पारिजातहरणगोवर्द्धनोद्धरणकालियदमनादीनि पामराणामपि माहात्म्यज्ञापकानि भगवच्चरित्राणि सन्ति । अतः सर्वथास्मिन्नवतारे केनाप्यंशेनाज्ञानादिकथनं बाधितविषयमेव ॥३१॥

व्याख्यार्थ—यह अवतार, अन्य अवतारो की तरह किसी अंश से अथवा अज्ञान शक्ति सहित प्रकट हुवा है, यों नहीं है, किन्तु साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम पूर्ण शक्तिमान का ही अवतार है । कारण कि, इस हीन भाव के सुनने से भक्तों में भगवान् के लिए उत्कर्ष भाव का अभाव होगा । उस हीन भाव में भी पिता के लिए शोक और मोह, मायिक शरीर में पितृत्व बुद्धि एवं उसमें स्नेह कहना सर्वथा अनुचित है, 'वा' शब्द अनादर में है, मेरे पिता को कैसे ले गया ? विधि बलवान् है ऐसे उसके समर्थक वचन कहने योग्य नहीं है, ऐसा आप किस कारण से कहते हो कि यों कहना अनुचित है ? जिसके उत्तर में कहते है कि 'अज्ञ सम्भवः' ये गुण अज्ञानियों में उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये गुण अज्ञान में से उत्पन्न होते है अतः जिनके अन्तःकरणों को अज्ञान ने घेर लिया है, वैसे चैतन्यों में ये गुण प्रकटते हैं । प्रकृत प्रसंग मे भी यों ही है अर्थात् श्रीकृष्ण के चैतन्य को भी अज्ञान ने घेर लिया है यों समझिये, इसके उत्तर में कहा है कि यों नहीं है, क्योंकि, श्रीकृष्ण तो अखण्डित विज्ञान, ज्ञान और ऐश्वर्यवान है जिससे ये तीन ही सब काल मे आपमें सिद्ध है सर्व प्रकार की लीला करते

आपका विज्ञान अखण्डित रहता है जिससे आत्मस्वरूप का अनुभव, सर्व वस्तुओं का ज्ञान, के प्राणों को पय के साथ पान करना आदि लीला का स्मरण सदैव रहता है, बचपन में सबमें रहता है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, वह भी जिनमें नहीं है तब इस समय जबकि मनुष्य भी समझ है तो आपमें अज्ञान कैसे हो सकता है ? यदि कहो कि लोगों को ऐसा ज्ञान दिया जाता है तो हना भी उचित नहीं है, भगवान् में तो लोगों से बिलकुल विशेष असीम ऐश्वर्य बुद्धि है यों भी जानते हैं क्योंकि आपकी प्रतिक्षण देवता स्तुति कर रहे हैं, यह स्तुति तो केवल उपलक्षण है, पारिजात वृक्ष को स्वर्ग से ले आना, गोवर्द्धन पर्वत को सात दिन तक हस्त पर उठाना, य नाग को वश में लाना आदि भगवान् के चरित्र तो पामरों को भी अपना माहात्म्य बताने हैं, अतः इस अवतार में किसी भी अंश में अज्ञान आदि कहना सर्व प्रकार असत्य ही है ।।३१।।

आभास—किञ्च । यद्यस्मिन्नवतारे कोऽप्यंशः अज्ञानकृतः प्रदर्शनार्थो वा भवेत् अमवतार एव न भवेत् । मोक्षदानमेवास्यावतारस्य प्रयोजनम् । अन्यत्तु गौणमेव णां निःश्रेयसार्थाय' इति वाक्यात् । अन्यथा कामादिभिर्भजने मोक्षो न स्यात् । क्तियोगविधानार्थ' इत्यपि पक्षे माहात्म्यविघटकत्वादिदं चरित्रमसमञ्जसमित्यभि ाऽऽह **यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्ययेति ।**

आभासार्थ—और विशेष, यदि इस अवतार में कोई भी अंश अज्ञान से किया हुआ होता वा केवल दिखाऊ[1] होता, तो यह अवतार ही नहीं कहा जाता, इस अवतार का प्रयोजन तो क्षदान[2] ही है, दूसरे तो गौण है, यदि मोक्ष के लिए न होता तो, काम क्रोध आदि से भजन ने पर भी मोक्ष न देते । 'भक्तियोग विधानार्थ' भक्ति योग को सत्य सिद्ध करने के लिए, इस ानुसार भी माहात्म्य ज्ञान के विघटक[3] होने से यह चरित्र असमंजस है,[4] इस अभिप्राय से पादसेवोर्जित' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—यत्पादसेवोर्जितयात्मविद्यया हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।
लभन्त आत्मानमनन्तमीश्वरं कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ।।३२।।

श्लोकार्थ—जिनके चरणों की सेवा से, वृद्धिगत आत्म विद्या से सत्पुरुष, अनादि ाल से प्राप्त देहात्मवाद की अविद्या को नाश करते हैं जिससे अनन्त ईश्वर आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण को प्राप्त करते हैं, वे सर्वोत्कृष्ट, शरणागतों की गति रूप श्रीकृष्ण मोह फँसे, यह सम्भव ही नहीं है ।।३२।।

१– बनावटी, २– १०.२६–४४ भी देखो, नृणां निःश्रेयसार्थाय' इस वाक्यानुसार ३– नाश-कारक, ४– दुविधा में डालने वाला है ।

सुबोधिनी—यस्य पादसेवया ऊर्जिता आत्मविद्या भवति । ब्रह्मविच्चरणसेवया उत्पन्ना भगवच्चरणसेवया पुष्टा भवति । बीजभावदेहभावयोर्लोके महान् विशेषः । तथा गुरोर्भगवतः सकाशाच्च जायमानज्ञानविशेषः । एवं यत्र चरणसेवकानामन्त्येशमेवं भवति । यत्र च गुरोरपि मोहो निवार्यते तत्र कथं भगवन्मोहसंभवः । किंच । न केवलं तेषां ज्ञानमेवोत्पद्यते किन्तु तेन ज्ञानेन अनाद्यात्मविपर्ययग्रहं हिन्वन्ति नाशयन्ति । अनादिर्योऽयमात्माग्रहः ततो विपर्ययः देहादिबुद्धिः तत्र योयमाग्रहः समूलकमज्ञानकार्यं नश्यतीत्यर्थः । न केवल तावन्मात्रं किन्त्वज्ञाननिवृत्त्यनन्तर आत्मानं भगवन्तमपि लभन्ते । ननु स्वात्मालब्ध एव को विशेष इति चेत्तत्राह अनन्तमीश्वरमिति । अपरिच्छेद ऐश्वर्य आत्मना आत्मन्येव तत्रश्वर्य तच्चेदेति सर्ववादिसंमतं परिच्छेदस्तु केषांचिन्मते आविद्यकः । उभयथापि विशिष्टात्मा सायुज्य एव प्राप्तो भवति । ततश्चैकस्मिन्नेव जन्मनि चरणसेवामात्रेण निषिद्धप्रकारेणापि अविद्यानिवर्तकं ज्ञानं अनुपदमेव सायुज्यं च ज्ञानमार्गेऽपि जन्मकोटिभिः साध्यं कथं लभन्ते । अतस्तेषामस्मिन्नवतारे अज्ञानादिवर्णनं शास्त्रान्तरकरणज्ञानवदुपेक्ष्यमेव । ननु प्रदर्शनार्थं शिवतद्भक्तमाहात्म्यकथनार्थं वा तथा लीलाप्रदर्शनं भविष्यतीति चेत् तत्राऽऽह परमस्य सद्गतेरिति । कालादेरपि परस्य को महादेवतद्भक्तानुरोधः सतां गतेश्च कथं मोहप्रवर्तकत्वम् । सन्त एव न मोहं प्रदर्शयन्ति कुतस्तेषामपि गतिः । अवतारान्तरेऽपि भवतैः सहलीलायामेव पराजयादिवर्णनम् 'मद्भक्तपूजाभ्यधिका' इति प्रदर्शनार्थम् तस्मात्प्रकृते मोहहेतोः कस्याप्यभावात् । नु इति निश्चये न कुतो मोह ॥३२॥

व्याख्यार्थ—जिस (श्रीकृष्ण) की सेवा से आत्मविद्या बढ़कर दृढ़ होती है, ब्रह्मवेत्ताओं की चरण सेवा से आत्मविद्या उत्पन्न होती है, फिर वह भगवान् की चरण सेवा से बढकर दृढ़ होती है, जैसे बीज भाव और देह भाव में बहुत भेद है, वैसे ही गुरु से प्राप्त ज्ञान में और भगवान् से प्राप्त ज्ञान में भी बहुत भेद है क्योंकि गुरु प्राप्त ज्ञान दृढ नहीं होता है जब तक भगवत्कृपा से वह बढकर दृढ नहीं होता है यह भी भेद है। भगवच्चरणो की सेवा करने वालों का मोह नष्ट होकर ज्ञान पूर्ण रूप से पुष्ट होता है तथा जिससे गुरु का भी मोह नष्ट होता है, वहाँ भगवान् में मोह होना, कैसे संभव हो सकता है ? और विशेष उनमें केवल ज्ञान ही उत्पन्न होता है यों नहीं है, किन्तु उस ज्ञान से, वे अनादि देहात्मवाद[1] अज्ञान को नाश करते हैं, अर्थात् जीव को आत्मस्वरूप का जो अनादि सत्य ज्ञान था वह अविद्या से नष्ट होकर देह ही आत्मा है ऐसा अज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस अज्ञान में अविद्या के कारण आग्रह हो जाता है, वह अविद्या कृत झूठा आग्रह नष्ट होकर आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, इतना ही नहीं किन्तु ज्ञानानन्तर आत्मरूप भगवान् को भी प्राप्त कर लेते हैं।

अपनी आत्मा तो प्राप्त ही है इसमें कौनसी विशेषता हुई ? यदि यों कहते हो तो, इसका समाधान यह है कि, जो आत्मा आप प्राप्त ही है कहते हो वह तब ऐश्वर्य और अनन्तता वाली नहीं थी उसमें उस समय ऐश्वर्य और अनन्तता तिरोहित थी अब भगवान् में सायुज्य होने से उसमें ऐश्वर्य और अनन्तता आदि गुण प्रकट हुए हैं, यही विशेषता है। इसलिए ही 'अनन्तमीश्वरं' विशेषण कहे है। असीम ऐश्वर्य आत्मा[2] मे ही है, अतः जब जीव रूप आत्मा उस परमात्मा में सायुज्य प्राप्त करता है तब वह भी वैसा हो जाता है, सर्व वादी इस प्रकार ही मानते है। किन्ही

१- देह ही आत्मा है इस प्रकार के अज्ञान को, २- परमात्मा मे, न कि जीव रूप आत्मा मे

: मत में यह परिच्छेद[1] अविद्या कल्पित है, दोनों मतों के अनुसार जब सायुज्य प्राप्त होता है व ही विशिष्टात्मा[2] की प्राप्ति होती है, एक ही जन्म में केवल चरण सेवा करने से एवं जो कामादि ायुज्य प्राप्ति में बाधक हैं उनसे भी, अविद्या का नाश करने वाला ज्ञान, और ज्ञानमार्गानुसार कोटि न्मों से प्राप्त होने वाला सायुज्य शीघ्र ही कैसे प्राप्त हो जाता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, ैसे अन्य शास्त्रों में कहे हुए साधनों से ज्ञान प्राप्त होगा, उसकी उपेक्षा की जाती है, वैसे ही इस वतार में मुनियों ने जो अज्ञान आदि का वर्णन किया है वह भी उपेक्षा के योग्य है।

दिखाने के लिए अथवा शिव भक्त की महिमा कहने के वास्ते यों लीला करते होंगे ? इस र कहते हैं कि 'परमस्य सद्गतेः' ये उत्तम सत्पुरुषों के फलरूप हैं, कालादि से भी जो पर[3] (भगवान्) हैं उनके आगे महादेव और उसके भक्त का अनुरोध[4] क्या वस्तु है ? जो सत्पुरुषों की गति है वे मोह के प्रवर्तक कैसे होंगे ? जो सत्पुरुष हो मोह नहीं दिखाते हैं अर्थात् मोह को प्राप्त नहीं होते हैं, तो जो सत्पुरुषों की गति है वे मोह कैसे दिखावेगे ? दूसरे अवतारों में भी, मेरे भक्तों की पूजा विशेष अधिक है' यो दिखाने के लिए ही भक्तो के साथ लीला करने में ही पराजय आदि का वर्णन है अतः प्रकृत प्रसङ्ग मे अर्थात् श्रीकृष्ण में मोह होने का कोई भी कारण नहीं है, इसलिए 'नु' पद से कहा है कि निश्चय से श्री कृष्ण में कैसे मोह होगा ? अर्थात् मोह नही है ॥३२॥

आभास—तर्हि अत्र शाल्वयुद्धे किं जातमित्याकाङ्क्षामाह तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसेति ।

आभासार्थ—तब यहां शाल्व के युद्ध में क्या हुआ ? इसकी आकांक्षा में 'तं शस्त्रपूगैः' श्लोक मे कहते हैं—

श्लोक—**तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।**
विध्वाच्छिनद्वर्म धनुः शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया रुरोज ह ॥३३॥

श्लोकार्थ—अमोघ पराक्रम वाले भगवान् ने अनेक शस्त्रों से प्रहार करते हुए, शाल्व को अपने सामर्थ्य से बाणों से वेधकर, उसके कवच, धनुष व मस्तक के मणि को काटकर, शत्रु के सौभ विमान को भी गदा से तोड़ डाला ॥३३॥

सुबोधिनी—अत्र केचिन्मोहदर्शनप्रभृति सर्वमेव बाधितं किन्तु गृह एव विद्यमाने भगवति तस्मिन्नागते शस्त्रपूगैः प्रहरन्तं मारितवानित्याहुः । अन्ये त्विन्द्रप्रस्थादेवाऽऽगत्य स्वसैन्यं शस्त्रैः प्रहरन्तं दृष्ट्वा मारितवानिति, अपरे तु बाहुवेधादिमोहप्रदर्शनं जातमेव केवलं भगवति मोह एव निषिद्धः नत्वन्य इति पश्चान्मोहाभाव एव । पुनरागत्य शस्त्रैः प्रहरन्तमिति तत्र मतान्तरत्वात् कल्पान्तरे सर्वमेव यथार्थं भगवति तु तस्य सर्वस्यापि सप्रकरणस्य मोहस्य निषिद्धत्वात् । अष्टाविंशे दिवसे केवलं स्वयमागत्य मारितवानिति । एकः पक्षः सभार्यो वा समागत वा मारितवा-

---

१- हद-सीमा, २- परमात्मा, ३- उत्तम, ४- आग्रह वा प्रेरणा

निति । शस्त्रपूगैः शस्त्रसमूहैः अवान्तरजातिभेदापन्नैः नानाशस्त्रोद्भवैर्वा ओजसा प्रहरन्तं शाल्वं शरैस्त्रिभिर्विध्वा तैरेवाच्छिनत् । वर्म धनुः शिरोमणि च, पुनरन्यैर्बाणैः सौभं चकारात्तं च । ततो निकटं समागतं सौभं बाणप्रहारैरानीतं गदया रुरोज । पीडां संपादितवान् । हेत्याश्चर्ये ।।३३।।

व्याख्यार्थ—इस विषय में पृथक् पृथक् मत कहते हैं—

(१) कितने ही कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने मोह दिखाया वहां से लेकर सब असत्य है, किन्तु भगवान् तो घर में ही विराजते थे, वहाँ शाल्व ने शस्त्रों से भगवान् पर प्रहार किया तब भगवान् ने उसको मारा,

(२) दूसरे कहते हैं कि इन्द्रप्रस्थ से आकर ही देखा कि अपनी सेना पर शस्त्रों से शत्रु प्रहार कर रहे हैं, उसी समय उसको मार डाला,

(३) तीसरे कहते है कि भगवान् की भुजा का वेध हुआ आदि वैसा मोह का प्रदर्शन भगवान् ने किया हैं, भगवान् मे मोह ही निषिद्ध है न कि अन्य कुछ निषिद्ध है (मोह का प्रदर्शन जो कहा है वह सिद्धान्त के विरुद्ध है) पश्चात् मोह का अभाव ही कहा है। फिर आकर शस्त्रों से प्रहार करने वाले शाल्व को मारा, यह मतान्तर होने से दूसरे कल्प में सब ही यथार्थ हैं। भगवान् के सम्बन्ध मे तो समस्त प्रकरण में कहे हुए मोह का निषेध है क्योंकि सिद्धान्त से विरोध है, २८ वे दिन केवल स्वयं (खुद) भगवान् ने आकर शाल्व को मारा है, एक पक्ष यह भी है कि भगवान ने पत्नी के साथ आकर शाल्व को मारा है।

अनेक प्रकार के एवं विभिन्न जाति वाले शस्त्रों के समूहों से प्रहार करने वाले शाल्व को शौरि ने तीन बाणों से बींधकर, उन बाणों से ही उसके कवच, धनुष और शिर के मणि को तोड़ डाला अनन्तर दूसरे बाणों से सौभ और शाल्व को वेध डाला, पश्चात् बाणों के प्रहारों से समीप लाए हुए सौभ को और उसको भी गदा सी पीडा की, अर्थात् टुकड़े कर दिए, 'ह' शब्द आश्चर्य प्रदर्शनार्थ दिया है ।।३३।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह तत्कृष्णहस्तेरितयेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'तत्कृष्ण' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तत्कृष्णहस्तेरितया विघूर्णितं पपात तोये गदया सहस्रधा ।
विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदामुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद्द्रुतम् ।।३४।

श्लोकार्थ—भगवान् के हस्त से प्रेरित गदा से वह विमान अनेक प्रकार से चूर्णित होकर जल में गिर पड़ा, तब शाल्व विमान छोड़ पृथ्वी पर खड़ा हो गदा ले शीघ्र भगवान् के पास आया ।।३४।।

सुबोधिनी—प्रथमतः कालात्मा तत्रापि पूर्णा क्रियाशक्तिः । तया च प्रेरिता गदा अत आध्यात्मिकादि सर्वरक्षकाणां निवृत्तत्वात् विघूर्णितं सत् गदया सह तोये सहस्रधा भूत्वा पपात

दयेत्यनुवादो वा। करणत्वं तु प्रहार एव। नहस्ते वा समागमनम्। ततः शाल्वस्तद्विसृज्य भूतलमास्थितः सन् गदामुद्यम्य भ्रान्तः सन् अच्युतमभ्यगात्। अच्युत एवायं किं गमनेन पराक्रमेण वा ॥३४॥

व्याख्यार्थ:—पहले तो श्रीकृष्ण स्वयं काल रूप, फिर आपकी पूर्ण क्रियाशक्ति रूप श्रीहस्त, जिससे प्रेरित जो गदा थी, उस गदा के प्रताप से सौभ के आध्यात्मिक आदि रक्षक निवृत्त हो गए, इसलिए वह सौभ घूमता हुआ अनेक टुकड़े होकर जल में पड़ा, 'गदया' शब्द पहले कहे हुए का केवल अनुवाद है। सौभ के जो टुकड़े हुए, वे तो प्रहार से ही हुए थे। वह गदा पुनः भगवान् के हस्त में आ गई, अनन्तर शाल्व, सौभ को छोड़, स्वयं पृथ्वी पर खड़ा होकर गदा ले भ्रान्त हुआ अच्युत के पास शीघ्र आ गया, ये तो अच्युत है, इनके पास गदा लेकर आना व पराक्रम से आना दोनों व्यर्थ हैं ॥३४॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह आधावत इति।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह 'आधावतः' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक- **आधावतः सगदं तस्य बाहुं भल्लेन छित्वाथ रथाङ्गमद्भुतम्।**
वधाय शाल्वस्य लयार्कसंनिभं बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥३५॥

श्लोकार्थ-- दौड़ते आते हुए शाल्व का गदा सहित हस्त, भाले से काटकर पश्चात् उसके वध के लिए, प्रलय काल के सूर्य के समान सुदर्शन चक्र धारण करते हुए भगवान्, सूर्य सहित उदयाचल के समान, शोभा देने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी—भल्लेन हस्तच्छेदः क्रियाशक्तेः प्रथक्करणार्थः। ततो रथाङ्गेन मोक्षदानार्थं अद्भुतं रथाङ्गं लयार्कसंनिभं दर्शनेनैव मृत्युभयजनकं **बिभ्रद्भगवान् बभौ**। तावतैव सर्वेषां प्रातःकाल इव महत्सुखं जातमित्याह **सार्क इवोदयाचल** इति। किञ्चित्कालं शस्त्रं धृत्वा स्थितिः महादेवादिपरीक्षार्था यद्यस्ति कश्चिदस्य रक्षकः तदा समायात्विति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—भाले से शाल्व का हस्त इसलिए काट डाला कि उसकी क्रियाशक्ति उससे प्रथक् हो जावे पश्चात् उसको चक्र से मोक्ष देना था इसलिए सुदर्शन चक्र धारण किया, वह अद्भुत चक्र, प्रलय के सूर्य के समान चमक रहा था, अतः उसके दर्शन से ही मृत्यु भय उत्पन्न हो जाता, ऐसे चक्र को धारण करते हुए भगवान् शोभित होने लगे, जैसे प्रातः समय होते ही सबको सुख प्राप्त होता है वैसे ही अब सबको महान् आनन्द प्राप्त हुआ, इसलिए कहा है कि 'सार्क इवोदयाचः' सूर्य सहित उदयाचल जैसे सुखद हैं वैसे यह भी सुखद हुए। भगवान् चक्र को धारण कर कुछ समय ठहर गए, जिसका कारण यह है कि भगवान् कहने लगे कि कोई भी महादेव आदि देव इसका रक्षक होवे तो अब बचाने के लिए सामने आ जावें ॥३५॥

श्लोक -- **जहार तेनैव शिरः सकुण्डलं किरीटयुक्तं पुरमायिनो हरिः।**
वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो बभूव हाहेतिवचस्तदा नृणाम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने जैसे वज्र से वृत्र का शिर काट डाला, वैसे भगवान् ने अनेक माया करने वाले शाल्व का किरीट और कुण्डल सहित शिर उस चक्र से उड़ा दिया, उस समय उसके पक्ष वालों ने बहुत हाहाकार शब्द किए ॥३६॥

सुबोधिनी—ततः न कस्यापि समागमने **तेनैव शिरश्चिच्छेद** । अन्यार्थं चक्रं धृतमिति तुच्छत्वादस्य वधोऽन्येन भविष्यतीति तेनैवेत्युक्तम् । **सकुण्डलमिति** । सर्वदेवाधिष्ठितमपि तत्रापि **पुरमायिनः** पुरलक्षणा मोहमाया यस्य, एतादृशस्यापि वधे हेतुः **हरिरिति** । सर्वदुःखहर्ता एतस्यैव च **मोक्षार्थम्** । किञ्च । यद्ययं जीवेत् तदा सर्वोपद्रवं कुर्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽह **वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दर इति** । तदा तदीयानां **नृणां हाहेति वचः अभूत्** ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यों कुछ समय ठहरने के बाद भी शाल्व का कोई रक्षक नहीं आया तब भगवान् ने उस चक्र से ही उसका सिर काट डाला। उससे ही इसका शिर इसलिए काटा कि भगवान् ने यह चक्र इसके शिर काटने के लिए ही धारण किया था। कारण कि इसको मोक्ष देना था, चक्र से शिर कटने से इसका मोक्ष होने वाला था, अतः यह चक्र दूसरों के लिए धारण नहीं किया था और मोक्ष करने के कारण दूसरे शस्त्र से भी शिर नहीं काटा। यद्यपि वह इतना तुच्छ था कि इसका शिर अन्य शस्त्र से भी कट सकता था, शाल्व के कुण्डलों में सर्व देव स्थित थे और पुरलक्षण वाली मोहमाया इसमें थी ऐसे होते हुए भी ऐसे शाल्व का वध करने का कारण उसको दुःख से छुड़ाकर मोक्षानन्द देना था, क्योंकि आप 'हरि' सर्व दुःखहर्ता हैं, और विशेष यह भी है कि यदि यह जीवित (जिन्दा) होता तो सबको उपद्रव अर्थात् दुःखी करता, कैसे मारा ? जिसमें दृष्टान्त दे समझाते हैं कि जैसे इन्द्र ने वृत्र का शिर काटा था वैसे भगवान् ने इसका सिर काटा, उस समय उसके मनुष्यों ने हा हा शब्द कहे ॥३६॥

आभास—तावतापि युद्धं न निवृत्तमिति वक्तुमाह **तस्मिन्निपतित** इति ।

आभासार्थ—इससे भी युद्ध समाप्त न हुआ, यह 'तस्मिन्निपतिते' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।**
नेदुर्दुन्दुभयो राजन्दिवि देवगणेरिताः ।
सखीनामपचितिं कुर्वन्दन्तवक्रो रुषाऽभ्यगात् ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! इस पापी शाल्व के मरने और सौभ विमान के गदा से टूट जाने पर, आकाश में देवताओं के दुन्दुभि बजने लगे फिर मित्रों का बदला लेने के लिए, क्रोध करता हुआ दन्तवक्र आया ॥३७॥

सुबोधिनी— भगवानक्लिष्टकर्मा । तं न मारितवान् किन्तु पापेनैव पतितः पापेन सायुज्याभावो वा ।**सौभे च गदया हत** इति । मायानिर्मितत्वात् कदाचित् स्थितिर्भवेत् । ततस्तस्मिन्प्रविश्य वान्यो युद्धं कुर्यात्, अतः प्रधानानन्तरमपि सौभस्य पृथगनुवादः । तदा दन्तवक्रः पूर्वं

ानां सखा स्वापचिति कुर्वन् सखीनामर्थे रुषा ाधेन युद्धार्थमाभिमुख्येन समागतः अन्यैः सह युद्धेन क्लिष्टदशायां स्वस्य जयो भविष्यतीति ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् जो भी कर्म करते हैं उसमें उनको किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता । आपने उस (शाल्व) को मारा नहीं, वह तो पाप से नष्ट हुआ, पाप के कारण उसको सायुज्य ा प्राप्ति नहीं हुई, सौभ का वध इसलिए पृथक् किया हुआ कहा है कि यदि सौभ का गदा से पृथक् ाश न किया होता तो कदाचित् उस मायावी मे कोई अन्य रह गया हो तो वह फिर उसमे प्रवेश र पुनः युद्ध करे, इसलिए मुख्य शाल्व के बाद भी उसका नाश अलग किया हुआ कहा है ।

पहले मरे हुए मित्रों का बदला लेने के लिए क्रोध से दन्तवक्र शीघ्र युद्ध करने के लिए गवान् के सामने उपस्थित हुआ ।

दन्तवक्र ने यों विचारा कि भगवान् शाल्वादि से युद्ध करते हुए थक गए होंगे, अतः मेरी ीत शीघ्र हो जायेगी इस आशा से ही शीघ्र आया ।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे अष्टाविंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७४वें अध्याय (उत्तरार्ध के २८वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के तात्त्विक साधन
अवान्तर प्रकरण का सप्तम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

—अध्याय ७३ व ७४ में वर्णित लीला का पद—

"शाल्व वध"

राग मारू—

सुभट साल्व करि क्रोध हरि पुरी आयौ ।
हत्यौ सिसुपाल कौ राजसू माहिं हरि, धाइ धावन जबै यह सुनायौ ॥
वृच्छ बन काटि महलात ढाहन लग्यौ, नगर के द्वार दीन्हे गिराई ।
सर्प पाषान की वृष्टि करि लोक पर, वायु अति वेग सौं पुनि चलाई ॥
प्रद्युम्न सात्यकि निकसि सन्मुख भए, बन्धु सारन सुनत बेगि धाए ।
तहाँ चारुदेष्न हूं साजि दल बल सकल, हाँकि रथ तुरंग ता ठौर आए ॥
तिमिर कौ बान तब साल्व मारयौ फटकि, प्रद्युमन बान दीपति चलायौ ।
मिट्यौ अंधकार तब बान बरषा करी, तुरंग रथ सारथी स्यौ गिरायौ ॥
सैन के लोग पुनि बहुत घायल किए, ध्वजा धर धर परयौ मुरझाई ।
साल्व यह देखि के चकित तो ह्वै रह्यौ, सस्त्र के गहन की सुधि भुलाई ॥
असुर विद्या समर बहुरि लाग्यौ करन, कबहुं लघु कबहुं दीरघ सु होई ।
गुप्त ह्वै कबहुं कबहुं परगट देखियै, कबहुं कर कबहुं नभ बसै सोई ॥

अगिनि कबहुँ कबहुँ वारि वरषा करै, प्रद्युमन सकल माया निवारी।
साल्व परधान द्यौमान मारी गदा, प्रद्युमन मूरछित सुधि बिसारी॥
धर्मवित सारथी गयौ एकान्त लै, उहाँ जब चेत ह्वै सुधि सँभारी।
खीझि कह्यौ ताहि क्यों मोहि लायो इहाँ, मम पिता मातु कौ लगी गारी॥
कहि हैं कहा मोहिं राम भगवान शुनि, नारि मम सुनत अति दुखित होई।
मरै रन सुजस परलोक सुख पाइये, मंद मति तैं दोऊ बात खोई॥
धर्मवित कह्यो करि बिनय मम चूक नहि, सारथी धर्म मोहिं गुरु सिखायौ।
मूरछित सुभट नहि राखियें खेत मैं, जानि यह बात मैं इहाँ ल्यायौ॥
प्रद्युमन कह्यौ जो भई सो भई अब, बान जनि काहु सौ यह सुनैयै।
ताहि दे सपथ, करि आचमन पुनि कह्यो, चलो रन भूमि अब जैये॥
आइ रन भूमि में सबनि धीरज दियौ, साल्व रथ-तुरग चारो संहारे।
छत्र धुज तोरि मार्यौ बहुरि सारथी. देखि यह सुभट डरि गए सारे॥
हस्तिनापुर गए हुए हरि पांडु गृह, तहाँ ते चले यह बात जानी।
साल्व उत्पात कियौ द्वारिका माहिं बहु. हाँकि रथ कह्यौ सारंग पानी॥
सारथी पाइ रुख दये सटकारि हय. द्वारिकापुरी जब निकट आई।
साल्व के भटनि लखि कटक भगवान कौ, आपने नृपति सौ कह्यो जाई॥
सुनि सौ भगवान के आइ सनमुख भयौ, सारथी ओर बरछी चलाई।
ताहि आवत निरखि स्याम निज साँग सौ, काटि करि साल्व की सुधि भुलाई॥
बहुरि तिहि कोपि निज बान संधान करि, धनुष भगवान कौ काटि डार्यो।
टूटतै धनुष के सब्द आकास गयौ. साल्व निज जिय समुझि यों उचार्यौ॥
रुकमिनी माँग सिसुपाल की तुम हरी, बहुरि तिहि राजसू मैं संहारौ।
जाइहौ अब कहाँ दाँव लैहौं इहाँ, छाँडि सो विचार आयौ संभारौ॥
कह्यो भगवान सुनि शाल्व जे सूर नर, ते नही करत निज मुख बढ़ाई।
जे करै, सूर तिनकौ नही जानिये, भाषि यह गदा ताकौ चलाई॥
गदा के लगत ही गयौ सो गुप्त ह्वै, धारि धावन रूप यह सुनायौ।
कह्यो बसुदेव जगदीस आसचर्ज यह, तुम अछत साल्व मोहिं बांधि लायौ॥
बहुरि करि कपट बसुदेव तह प्रगट कियौ, कह्यौ तिन नाथ मैं दुखित भारी।
साल्व तरवार लै स्याम के देखतैं, डारि दयौ सीस ताकौ उतारी॥
लख्यौ भगवान करि कपट इन यह कियौ. तासु माया तुरत हरि निवारी।
भागि निज पुर चल्यौ स्याम पहिलैं पहुँचि, खैंचि कै गदा ता सीस मारी॥
गदा जुद्ध साल्व कीन्हौं बहुत बेर लौ, बहुरि हरि माँग ताकौ चलाई।
लगत ताकै गए प्रान वाके निकसि, सुरनि आकास दुंदुभि बजाई॥
सीस ताकौ बहुरि काटि तरवार सौ, मगर सम समुद्र मैं डारि दीन्हौ।
सूर प्रभु रहै ता ठौर दिन और कछु, मारि दंतवक्र पुर गवन कीन्हौ॥

—०—